हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमालाका १५ वाँ ग्रन्थ ।

आत्मविद्या ।

पं० माधवराव सप्रे, बी० ए०

हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमालाका १५ वाँ ग्रन्थ।

आत्म-विद्या

श्रीयुत हरि गणेश गोडबोले बी० ए० के

मराठी ग्रंथका अनुवाद।

अनुवादक,

श्रीयुत पं० माधवराव सप्रे बी० ए०।

प्रकाशक,

गाँधी हिन्दी-पुस्तक भंडार;

कालबादेवी—बम्बई।

प्रथम संस्करण।

मूल्य दो रुपया;

कपड़ेकी जिल्दके आठ आने और।

ज्येष्ठ, १९७६।

प्रकाशक,
उदयलाल काशलीवाल,
गाँधी हिन्दी-पुस्तक भण्डार;
१८५, कालबादेवी–बम्बई।

मुद्रक,
चिंतामण सखाराम देवळे,
'मुंबईवैभव प्रेस,' सर्व्हंट्स् ऑफ इं
सोसायटीज् होम्, सँढर्स्ट रोड;
गिरगाँव–बम्बई।

आत्म-विद्या ।

प्रथम भाग ।

पहला प्रकरण ।

वर्णाश्रम-प्रतिपालन ।

एक साधुका वचन है कि "सांसारिक कार्य साध कर जो परमार्थ-लाभ करता है वह मनुष्य सचमुच ही प्रशंसनीय है।" यह के हमारे परम पूज्य वैदिक धर्म-तत्त्वोंके अनुसार ही है । वैदिक ने जो वर्णाश्रम-व्यवस्था बतलाई है उसके अनुसार चलते हुए अनेक ुरुष सब सांसारिक कार्य करके अन्तमें जीवन्मुक्त हो चुके हैं, आधु-क कालमें भी मुक्त होते हैं और भविष्यमें भी होंगे । हाँ, इतना अवश्य कि वैदिक धर्म पर असाधारण श्रद्धा रख कर उसके अनुसार शुद्ध वरण रहना चाहिए । विधर्मी लोग सिर्फ ऊपर ऊपर विचार करके ा कहते रहते हैं कि वैदिक धर्ममें एक-रूपता (System) नहीं समें अनेक धर्म, नाना पंथ, नाना मत, सबकी खिचड़ी हुई है । से कितने ही अज्ञानी लोग भी अपने धर्मके विषयमें कुछ भी खोज बिना इन विधर्मियोंका अनुसरण किया करते हैं; परंतु इसे सिवा चारके और क्या कह सकते हैं ? वैदिक धर्म पर यह आरोप कदापि लगाया जा सकता; क्योंकि यह धर्म पूर्णताको पहुँच चुका है और निक संसारके सारे विचारोंका लय अन्तमें इसी धर्ममें होगा । जब प्रवासी हिमालयके समान अति उच्च और प्रचण्ड पर्वत पर अथवा

किसी विस्तृत वनमें संचार करता है तब वह क्या देखता है कि वहाँकी सारी वस्तुएँ अनियमित और अव्यवस्थित रीतिसे फैली हुई हैं; और इसी कारण कदाचित् उस प्रवासीका मन वहाँ नहीं रमता है; परन्तु जब कोई सुन्दर उपवन—जहाँके पेड़-पौधे और लता-पल्लव आदि सुन्दर रीतिसे रक्खे जाते हैं और वनैली घास आदि निकाल कर स्वच्छता रक्खी जाती है—उसे देख पड़ता है तब वहाँ उसका चित्त स्वस्थ हो जाता है और कुछ विश्रान्ति लेनेकी उसकी इच्छा होती है । परन्तु केवल इतने हीसे कि उस मानवी प्राणीकी ऐसी दशा होती है, यह नहीं कहा जा सकता कि उस विस्तृत वन अथवा घने वृक्षोंसे युक्त हिमाचलकी अपेक्षा उस कृत्रिम उपवनकी योग्यता अधिक है । क्योंकि उस वन अथवा पर्वत पर जो वनस्पतियाँ और वृक्ष होते हैं उनमें कितनी ही दिव्य औषधियाँ और अनेक महान् उपयोगी वृक्ष होते हैं; और उनकी उपयोगिता केवल बाहरसे क्षणिक दृष्टि-सुख देनेवाले उस कृत्रिम उपवनके सुन्दर वृक्षोंकी अपेक्षा सौगुनी अधिक होती है । बात सिर्फ इतनी ही है कि उनकी उपयोगिता और योग्यता जाननेवाला मर्मज्ञ मिलना चाहिए । यही उदाहरण वैदिक धर्म और अन्य धर्मोंकी तुलनामें भी लग सकता है; और उस तुलनामें बहुत बड़ा अन्तर देख पड़नेके बाद वैदिक धर्मका महत्त्व स्थापित हो जाता है । हमारा यह भारतवर्ष हजारों वर्ष पहलेसे वैभव-सम्पन्न हो चुका है । इसमें नाना प्रकारके लोग, अनेक तरहके पंथ और मत निर्माण हो जानेके कारण यह एक प्रकारका स्वतंत्र महाद्वीप ही बन गया है । इतने बड़े विस्तीर्ण महाद्वीपमें जगत्के अन्य महाद्वीपोंके देशोंकी तरह यदि भिन्न भिन्न धर्म-पन्थ हो गये तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं और इस कथनमें कोई तथ्यांश नहीं कि यह धर्म अनेक धर्म-पन्थोंकी खिचड़ी है; और इसी लिए इसमें कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है । भारतवर्षमें जो अनेक धर्म-शाखाएँ हैं उन सबमें कुछ-न-कुछ सर्वमान्य भाग तत्त्व-वेत्ताओंको देख पड़ा है और

मनन-पूर्वक उनके विचारोंका अवगाहन करनेसे वैदिक धर्मका बड़प्पन देख पड़ेगा । हाँ, इतना अवश्य है कि प्रत्येक धर्म-शाखाके गुण पहचाननेकी योग्यता मनुष्यमें होनी चाहिए ।

उपर्युक्त सिद्धान्त बिलकुल सत्य है और जो वैदिक धर्मके अनुसार चलनेवाला मुमुक्षु और सच्चा श्रद्धावान् है वह आधुनिक कालमें भी चाहे जितना सांसारिक कर्त्तव्य करके परमार्थ-साधन कर सकता है । यह बात स्पष्ट रीतिसे दिखलानेके लिए भावनगर-राज्यके स्वर्गीय दीवान गौरीशंकर उदयशंकरके निर्मल जीवन-चरितका आदर्श मानो एक बिल्लौरी दर्पण ही है । अत एव इस सम्बन्धमें पहले थोड़ासा विचार करके फिर मुख्य विषयकी ओर बढ़ेंगे ।

गौरीशंकर एक बिलकुल गरीब ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न हुए थे । उन्होंने गृहस्थाश्रममें रह कर मनमाने सांसारिक कार्य किये । वे कार्य भी हमारे समान चार-पाँच मनुष्योंके अल्प कुटुम्ब अथवा एक ही गृहस्थी भरके नहीं थे; किन्तु लक्षावधि प्रजा और सारे भावनगर राज्यका सांसारिक पसारा—भव-प्रपंच—उन्होंने उठाया था; और वहाँके महाराजाओंकी चार पीढ़ियों तक उन्होंने वह प्रपंच चलाया । सन् १८२१ में जब पेशवाओंकी जगह अँगरेजोंकी सत्ता स्थापित हुई और गुजरात तथा काठियावाड़के राजाओंसे सुलह करनेका मौका आया तब उन सबमें गौरीशंकरका प्रधान अंग था । उनमें इतनी असामान्य राजनीतिज्ञता और इतना व्यवहार-चातुर्य भरा था कि मौंट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन, सर जान् मालकम और सर बार्टल फ्रियरके समान सर्वमान्य गवर्नर, राज्यके बड़े बड़े मामलोंमें भी पहले श्रीयुत गौरीशंकरकी सलाह लिया करते थे। हैद्राबादके सर सालारजंग, ट्रावनकोरके सर टी० माधवराव, ग्वालियरके सर दिनकररावके समान प्रसिद्ध राजनीतिज्ञोंमें इनकी गणना थी । यही नहीं, किन्तु प्रोफेसर मोक्षमूलरने तो यहाँ तक कहा है कि ये इँग्लैंडके

विख्यात राजनीतिज्ञ मि० ग्लैडस्टन अथवा जर्मनीके प्रिंस बिस्मार्कके ही जोड़के राजनीतिज्ञ थे ! यद्यपि यह सच है कि ग्लैडस्टन आदिने बड़े बड़े राष्ट्रोंका भार उठाया था और इन्होंने एक छोटेसे ही राज्यका प्रबन्ध किया था; तथापि राज्य-कार्यकी जो कुशलता और जो व्यवहार-निपुणता ग्लैडस्टन और बिस्मार्कमें थी वही गौरीशंकरमें भी थी। जो फर्क बड़ी घड़ी और छोटी जेबघड़ीमें होता है वही उनमें था। श्रीयुत गौरी-शंकरने जिस समय भावनगरका राज-काज अपने हाथमें लिया उस समय चारों ओर अव्यवस्था थी; परन्तु थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने अपने सुप्रबन्धसे वहाँ बड़ी बड़ी और स्मरणीय हवेलियाँ खड़ी कर दीं; बड़े बड़े विद्या-मन्दिर स्थापित कर दिये; विस्तीर्ण जलाशय तैयार किये; धर्मार्थ दवाखाने, तारयंत्र, डाकघर, हाइकोर्ट इत्यादि संस्थाएँ निर्माण कीं। इस प्रकार वहाँकी दशामें जमीन-आसमानका फर्क हो गया। काठियावाड़के पोलि-टिकल एजंट जनरल केटिंगने भावनगरकी पहलेकी निकृष्ट दशा देखी थी। पीछेसे जब उन्होंने वहाँकी उन्नत दशा देखी तब उन्हें यह भ्रम हुआ कि हमने जो भावनगर पहले देखा था वही यह है या यह नवीन रची हुई और ही कोई धनवान् नगरी है। तात्पर्य यह कि महाशय गौरी-शंकरने जो प्रपंच—सांसारिक कार्य—किये वे बड़े सन्तोष-दायक हुए और सारे संसारमें उनकी प्रशंसा हुई; और इसका मुख्य कारण उनका स्पृहणीय व्यवहार-चातुर्य और अति निर्मल तथा सर्वोत्कृष्ट आचरण ही है।

यहाँ तक महाशय गौरीशंकरकी व्यवहार-चतुरता और राजनीति-पटुताका दिग्दर्शन हुआ। उनकी धर्म-श्रद्धा भी असामान्य थी। हमारा जो वैदिक धर्म विधर्मियों और अज्ञानी इस देशके निवासियोंको भी कूड़ा-कचराके समान मालूम होता है उसीके उत्तमोत्तम महत्तत्त्वोंका अनु-पम माधुर्य इन्होंने चखा था। वैदिक धर्मका मुख्य तत्त्व वर्णाश्रम-विहित धर्म है। इसी तत्त्वके अनुसार इन महाशयने जीवन भर अपना आचरण रक्खा था। उन्होंने अपने पवित्र आचरणसे सारे संसारको यह दिखला

दिया है कि आधुनिक कालमें चारों आश्रमोंमें रह कर परमार्थ साधन कैसे करना चाहिए। सन् १८७९ में उन्होंने भावनगरके राज्य-सूत्र हाथसे छोड़े। इसके साथ ही गृहस्थाश्रमका भी त्याग करके उन्होंने वैदिक धर्मकी आज्ञाके अनुसार वानप्रस्थाश्रमका आश्रय लिया और ब्रह्म-विचारमें वे अपना काल व्यतीत करने लगे। वानप्रस्थाश्रम लेनेके कारण उन्हें वनवासके लिए नहीं जाना पड़ा। अपने ही एक विस्तीर्ण बागमें मठ बना कर वे रहने लगे। वहाँ भिन्न भिन्न जगहसे बड़े बड़े योगी और साधु आकर उनके आश्रम-बन्धु बन कर रहने लगे और ब्रह्म-विचारके पारायण शुरू हुए। उस समय भावनगर ब्रह्म विचार—वेदान्त विचार—का एक मूल पीठ ही बन गया था। राज-काज करते समय कार्याधिक्यके कारण महाशय गौरीशंकर संस्कृत-ज्ञानकी ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे, अत एव इस आश्रममें आकर उन्होंने संस्कृत ग्रन्थोंका परिशीलन शुरू किया और थोड़े ही कालमें इतनी प्रवीणता सम्पादन कर ली कि अपनी ७९ वर्षकी अवस्थामें "स्वरूपानुसन्धान" नामक एक अमूल्य ग्रन्थ संस्कृत भाषामें लिख कर प्रसिद्ध किया। इस ग्रन्थमें आत्म-स्वरूपका उत्कृष्ट विवरण किया गया है तथा इस बातका सुबोध-रीतिसे प्रतिपादन किया गया है कि जीवात्मा और परमात्माका ऐक्य कैसे किया जाय।

वानप्रस्थाश्रममें रहते हुए महाशय गौरीशंकरका चित्त बाहरसे यद्यपि सांसारिक बातोंमें लगा हुआ सा देख पड़ता था तथापि वास्तवमें एक साधुके कथनानुसार उन्हें भीतर बाहर सब जगह राम-रूप ही भरा हुआ देख पड़ता था; उनका मन राममें रंग गया था; और इसी कारण उन्हें सब राम-रूप हो गया था। उनकी इसी दशामें बम्बईके उस समयके गवर्नर लार्ड रे सन् १८८६ में सकुटुम्ब उनसे मिलने गये थे। उस समय भगवे वस्त्र पहने हुए वह आनन्द-मूर्त्ति उन्हें देख पड़ी। करीब डेढ़

घंटे दोनोंका सम्भाषण हुआ। उनसे मिलनेके बाद लार्ड रेने कहा कि "इस सत्पुरुषसे सम्भाषण करते हुए मेरे हृदय-पटल पर जिस प्रकारकी छाप बैठी और जो परमानन्द हुआ उस प्रकारका आनन्दानुभव जबसे मैं भारतवर्षमें आया तबसे कभी नहीं हुआ।" लार्ड रे बड़े भारी विद्वान् और नीतिमान् पुरुष थे, अत एव यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उनके समान सज्जनके मन पर जो छाप बैठी उसकी कितनी कीमत है।

इस प्रकार वैदिक धर्म-तत्त्वोंके अनुसार वानप्रस्थाश्रम-वास करके चार वर्षके बाद महाशय गौरीशंकरने उस आश्रमका भी त्याग करके अन्तका चतुर्थाश्रम संन्यास ग्रहण किया। यह संन्यास-दीक्षा केवल भगवे वस्त्र पहनने भरके ही लिए नहीं होती, किन्तु संसारकी सारी मायिक उपाधियाँ और संकल्प-विकल्प नष्ट होकर वृत्तिके निष्काम और निर्विकार होनेका नाम संन्यास है। महाशय गौरीशंकरमें यह वृत्ति पूर्णतया आ गई थी।

उनके धर्म-मतोंका विचार करना भी बहुत ही महत्त्वका है। धर्मका मुख्य कार्य परमेश्वर-प्राप्ति और आत्म-ज्ञान है। उनका यह निश्चित मत था कि ये बातें साध्य होनेके लिए वैदिक धर्मके समान अन्य धर्म नहीं है। और वैदिक धर्ममें भी धर्मका प्रतिपादन करनेवाली वर्णाश्रम-व्यवस्था उन्हें सर्वोत्कृष्ट मालूम होती थी। महाशय गौरीशंकरका मत था कि विधर्मी लोग जो यह कहते हैं कि जाति-भेदके कारण वैदिक धर्ममें गौणत्व आता है, यह ठीक नहीं है; किन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्थाके कारण ही न्यूनाधिक बुद्धिवाले और भिन्न भिन्न अधिकारवाले सब प्रकारके मनुष्य भिन्न भिन्न रीतिसे ईश्वरको पहचान सकते हैं। वे पूर्ण वेदान्ती थे। वेदान्तमें जो परमात्माका स्वरूप "एकमेवाद्वितीयम्" प्रतिपादित किया है उसमें वे सदा निमग्न रहते थे। वे ईश्वरको निर्विकार मान कर क्षण क्षणमें इस महा तत्त्वका अनुभव किया करते थे कि

'आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि'।

अर्थात् सब प्राणी मात्रमें परमात्मा भरा हुआ है और सब प्राणी उसमें स्थित हैं। साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि जिस मनुष्यका तत्त्वज्ञानकी ओर विशेष झुकाव होता है वह व्यवहारके लिए बिलकुल निरुपयोगी होता है; परन्तु महाशय गौरीशंकरका यह हाल नहीं था। उन्होंने सारे जगत्की स्थितिका शास्त्रकी दृष्टिसे सूक्ष्म निरीक्षण किया था; इस कारण अंगीकृत कार्यमें चाहे उनके मनके अनुसार फल-सिद्धि न हो तथापि वे कभी निराश नहीं होते थे। इसका मुख्य कारण यही है कि वैदिक धर्म पर उनकी अचल श्रद्धा थी। वैदिक धर्मका अनुसरण करनेवाला यदि कोई श्रेष्ठ मत है तो वह वेदान्त ही है। सांख्य आदि अन्य दर्शन उसकी अपेक्षा गौण हैं। आर्यभूमिके आबाल-वृद्ध, ज्ञानी, अज्ञानी इत्यादि सब लोगोंकी पारमार्थिक मौरूसी जायदाद वेदान्त-मत ही है। ऐसी पैतृक सम्पत्ति संसारके अन्य किसी राष्ट्रको प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यही है कि अन्य देशके लोग केवल भौतिक सुखोंमें ही फँसे रहते हैं; परन्तु आर्यभूमिके लोगोंका यह हाल नहीं है। यहाँ तो न्यूनाधिक रीतिसे यह तत्त्व सभी जानते हैं कि यह संसार और सारे भौतिक सुख नश्वर और क्षणिक हैं, अत एव परमार्थ (मोक्ष) का साधन करना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। व्यक्ति मात्रकी ग्राहक शक्तिके अनुसार 'वस्तु-ज्ञान' चाहे भिन्न भिन्न हो, तथापि सबका आधार एक ही है और वह आधार जगत्का मिथ्यापन है। ज्ञान-दृष्टिसे जहाँ एक-बार जगत्का मिथ्यापन स्पष्ट मालूम होने लगा कि बस आप-ही-आप वैराग्य-स्फूर्त्ति होने लगती है। अर्थात् किसी दृश्य वस्तुके विषयमें भी वासना नहीं उत्पन्न होती। जहाँ जगत्की वस्तुएँ हमें मिथ्या जान पड़ने लगीं कि बस उनकी ओरसे मन बिलकुल ही हट जाता है। और इतना होने पर तुरन्त ही हमारा मन आत्म-स्वरूपमें निमग्न हो जाता है, यही दशा महाशय गौरीशंकरकी हुई थी।

यह जगत् जो हमें दृष्टिगोचर होता है, वास्तवमें सत्य नहीं है; किन्तु केवल चिच्छक्तिका आभास है। सत्य वस्तु केवल वही अद्वितीय और निर्विकार परमात्मा है। यही बात साधारणतया इस प्रकार भी कही जा सकती है कि एक सूक्ष्म-बुद्धिसे जिसका ज्ञान होता है वही वस्तु केवल सत्य है; और जो विषय या पदार्थ बाहरकी इन्द्रियोंसे देखे जाते हैं वे सब असत्य, मिथ्याभूत और नाशवान् हैं। ईश्वर और जगत्का सम्बन्ध ऐसा है जैसे पानी और उस पर उठनेवाली लहरें; अथवा वस्तु और दर्पणमें देख पड़नेवाला उसका प्रतिबिम्ब। इनमें जल और वस्तु सत्य हैं; और लहरें तथा प्रतिबिम्ब उनके विकार हैं। इसी प्रकार परमात्मा सत्य-स्वरूप है और यह दृश्य जगत् उस चिच्छक्तिकी विकृति है। यह उच्च वेदान्त-ज्ञान महाशय गौरीशंकरने प्राप्त कर लिया था। उन्होंने शंकराचार्यके ग्रन्थोंका बड़ी सूक्ष्म-रीतिसे परिशीलन किया था, इस कारण उन्होंने यह अच्छी तरह ज्ञात कर लिया था कि मन क्या है, आत्मा क्या है और आत्मासे परमात्माकी शक्ति किस प्रकार पहचानना चाहिएं।

अद्वैतके अनुसार आत्म-ज्ञान होनेके लिए पहले मनको जीतना चाहिए। आत्मा नित्य और शुद्ध-बुद्ध है; परन्तु उसके पास ही रह कर खेलनेवाला मन बड़ा चंचल और कठिन है। वह खिलाड़ी बाह्य वस्तुओं पर कैसी कैसी उछल-कूद मचाता है और आशाके वशमें आकर विषय-सेवनका कैसा विलक्षण उत्साह रखता है, इसका विचार-दृष्टिसे अवलोकन करके मनको आकर्षण करनेकी शक्ति प्राप्त करना ही आत्म-ज्ञानका प्रभाव है। नये नये संकल्प-विकल्प उत्पन्न करके उनकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति करना तो मनका धर्म ही है। इसी चंचलताके कारण उसे किसीने श्वानकी उपमा दी है, किसीने घोड़ेकी उपमा दी है, किसीने उसे द्वार-द्वार वंचना करनेवाला रंक कहा है। वेदोंने कहा है—

'भीष्मो हि देवः'। —तैत्तिरीय ब्राह्मण।

अत एव मनकी इस संकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्तिका नियमन करना आत्म-ज्ञानका पहला मार्ग है। यह ज्ञान हो जाने पर यह मालूम हो जाता है कि आत्मा कैसा शुद्ध-बुद्ध है। इसके बाद अन्तमें

'ब्रह्माऽहमस्मि'। —नारायणोपनिषद्।

इस अवस्थाका अनुभव प्राप्त होता है। पंडित गौरीशंकर इसी पूर्णावस्था तक पहुँच चुके थे। उन्होंने अपने वानप्रस्थाश्रममें एक-बार प्रसिद्ध शार्मण्य पंडित मोक्षमूलरको एक पत्र लिखा था। उसका एक अवतरण नीचे दिया जाता है। इसके पढ़ने पर स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उनमें आत्म-ज्ञान कैसा भरा हुआ था। महाशय गौरीशंकर संन्यास-ग्रहणके पहले शार्मण्य पंडित मोक्षमूलरको लिखते हैं:—

"स्वरूपानुसन्धान नामक वेदान्त-शास्त्र-विषयक अपना ग्रन्थ मैंने आपके पास पहले भेजा ही है। उससे आपको सहज ही मालूम हुआ होगा कि मैं ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होनेके कारण उक्त ग्रन्थमें कहे हुए तत्त्वोंका अनुभव सचमुच ही प्राप्त कर रहा हूँ। हमारे वैदिक धर्ममें चार आश्रम कहे हैं और द्विज जातियोंको क्रमशः उनमें दूसरा गृहस्थाश्रम है। और न्यूनाधिक प्रमाणसे इसका अनुभव सभीको होता है। परन्तु तीसरे और चौथे आश्रममें प्रवेश किये हुए लोग विरले ही मिलते हैं। ईश्वर-कृपासे मैं शास्त्रकी आज्ञानुसार वानप्रस्थका अनुभव ले रहा हूँ। परन्तु अब शक्ति-पात होने लगा है, अत एव मैं चतुर्थाश्रम शीघ्र ही स्वीकार करूँगा। उस आश्रममें जाने पर मैं जगत्के सम्पूर्ण सुख-दुःखोंसे मुक्त हो जाऊँगा और फिर मेरे लिए ऐहिक इति-कर्तव्यता कुछ भी न रहेगी। मैंने जगत्का व्यवहार साठ वर्ष तक किया; अब संन्यासाश्रम ग्रहण करना छोड़ कर और कोई कर्तव्य मुझे नहीं रहा। इस आश्रममें शंकराचार्य आदि प्राचीन महान् तत्त्व-वेत्ताओंके दिखलाये हुए मार्गोंसे मैं परमात्मासे जीवात्माकी एकता करनेमें समर्थ होऊँगा। यह

सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य जन्म-मरणके फेरेसे मुक्त होकर अक्षय मोक्ष-पद्को प्राप्त करता है । हे विद्वान् मित्रवर्य ! मैं थोड़े ही दिनोंमें संन्यासी हो जाऊँगा और तब मेरी आयुके क्रमका बिलकुल विपर्यास हो जायगा । आज तक मैंने आपसे जैसा पत्र-व्यवहार रक्खा है वैसा अब आगे मैं न रख सकूँगा । अत एव अन्तमें मैं इतनी ही इच्छा करता हूँ कि परमेश्वर आपका कल्याण करे । अबसे ‘ आप और मैं ’ यह द्वैतभाव नष्ट होगा; क्योंकि मेरा जीवात्मा परमात्मासे लीन होगा और वह परमात्मा विश्व-व्यापक है, इस कारण अवश्य ही आपमें और मुझमें फिर कोई द्वैतभाव रहनेका स्थल न रहेगा । अत एव आपने ही अपने पत्रमें जो वचन लिखा था कि—

‘ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः । ’

अर्थात् जहाँ एक-बार परमात्माका ज्ञान हुआ कि बस फिर जगत्के सारे बन्धनोंका नाश हो जाता है,—यह आप हीका वचन अन्तमें लिख कर मैं अपना पत्र पूर्ण करता हूँ । ”

इस पत्रसे पाठकोंको सहज ही मालूम हो सकता है कि महात्मा गौरीशंकरका परमात्मासे कैसा तादात्म्य हुआ था । इसी स्थितिमें रहते हुए आगे उनका देहावसान हुआ । मनुष्य-जीवनकी इति-कर्तव्यता यही है और ऐसी ही विभूतिको जीवन्मुक्त कहना चाहिए । गृहस्थाश्रमका चाहे जितना पालन करो, उसके लिए मनाई नहीं है; परन्तु सदा ही विषयोपभोग करनेके लिए यह शरीर नहीं मिला है; मानवी देहका अन्तिम कर्त्तव्य बिलकुल भिन्न अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति है । यह बात ध्यानमें रख कर ही मनुष्यको चलना चाहिए । महात्मा गौरीशंकरके उदाहरणसे यह बात अच्छी तरह मालूम होती है कि हमारे वैदिक धर्मने जो चार आश्रम कहे हैं उस सोपान-परम्परासे जाने पर सिद्धि—परमात्माकी प्राप्ति—मनुष्यको अवश्य ही प्राप्त होती है ।

दूसरा प्रकरण।

वेदान्त-शास्त्रका पुनरुज्जीवन और उपयुक्तता।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले, परामृतान् परिमुच्यन्ति सर्वे॥

—नारायणोपनिषत्।

आधुनिक विद्वानोंको अन्य बातोंमें यद्यपि देशोन्नतिका अभिमान रहता है तथापि वर्तमान समयमें वेदान्त-शास्त्रका जो पुनरुज्जीवन हो रहा है वह उन विद्वानोंमेंसे बहुतोंको पसन्द नहीं है। जान पड़ता है कि वे यह समझते हैं कि वेदान्त-शास्त्रका पुनरुज्जीवन होना कुछ उन्नतिका लक्षण नहीं है; किन्तु यह देशापकर्षका चिह्न है। प्राचीन वेदान्त-विचारोंको महत्त्व देनेसे अब कोई लाभ नहीं, सिर्फ उपासना-मार्ग—भागवत-धर्म—सत्य मान कर भक्ति-मार्गसे चलना चाहिए; इसीसे जीवनकी सार्थकता होगी। जान पड़ता है कि वर्तमान समयके वैज्ञानिक ज्ञानके कारण संसारमें जो विलक्षण चमत्कार दृष्टि-गोचर हो रहे हैं और विचार-शैलीमें जो एक विलक्षण प्रकारका परिवर्तन हो रहा है, इसीसे आधुनिक विद्वानोंके मनमें उपर्युक्त विचार आने लगे हैं। यही नहीं, किन्तु वे यही समझते हैं कि वेदान्त-शास्त्रके पुनरुज्जीवनसे राष्ट्रीय उन्नतिमें अवश्य धक्का लगेगा; और वे इस बातका प्रतिपादन भी करते हैं। इस प्रकारके मत जिन लोगोंके बन गये हैं वे कोई साधारण मनुष्य नहीं; किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान् और देशके नेता बनने योग्य हैं; अत एव यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस विषयके उनके मत एक-दम त्याज्य नहीं हैं। जो महाशय यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक बातमें हमारा पैर आगे बढ़ना चाहिए, उन्हीं महाशयोंमें उक्त प्रकारके लोग हैं। उन्नतिके नियमों पर उनकी पूर्ण श्रद्धा है, इस कारण प्रत्येक

वैज्ञानिक आविष्कारमें—फिर चाहे वह आविष्कार भौतिक हो, चाहे नैतिक या आध्यात्मिक—उन्हें उन्नतिके सिवा और कुछ देख ही नहीं पड़ता। उत्क्रान्ति-तत्त्वको सम्पूर्ण सृष्टिमें सार्वदेशीय हो जानेके कारण ये आधुनिक विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी अर्वाचीन बात शास्त्र-विषयक हो अथवा तत्त्व-ज्ञान-विषयक हो, वह प्राचीन अथवा पुरानी बातकी अपेक्षा अधिक उत्तम होनी चाहिए। वे इस मत पर बहुत जोर देते हैं:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

ये आधुनिक विद्वान् यह भी समझते हैं कि यदि अपने देशके उत्कर्षकी ओर ध्यान दिया जाय तो तत्त्व-ज्ञान अथवा धर्मके विषयमें प्राचीन आर्यमतोंकी ओर लौटनेकी कोई जरूरत नहीं—इतना ही नहीं, किन्तु यह बात प्रायः असम्भव ही है। क्योंकि भारतवर्षका कोई भी आधुनिक आर्य हो, उसमें पूर्वज आर्योंसे सब बातोंमें भिन्नता पाई जायगी। उसका जन्म भिन्न दशामें हुआ है और शिक्षा भी भिन्न ही मिली है, इस कारण वह एक भिन्न प्रकारका ही मनुष्य बन गया है। अर्वाचीन राज्य-प्रणाली, सामाजिक प्रणाली आदि कारणोंसे उसके मन पर एक भिन्न ही प्रकारके परिणाम हो रहे हैं और इस प्रकार उसकी सभी दशाएँ प्राचीन आर्योंसे बिलकुल भिन्न हो रही हैं। तथा उसकी मानसिक उन्नतिके मार्गोंमें भी अब विलक्षण अन्तर हो गया है। आधुनिक विद्वान् यह भी प्रतिपादन करते हैं कि बाहरी उपाधियोंका भीतरी दशासे और भीतरी दशाका बाहरी परिस्थितिसे सम्मेलन होना यदि उत्कृष्ट जीवन-कलाका नियम ठहरता है तो उसके अनुसार आधुनिक आर्योंका धर्म अथवा उनका तत्त्व-ज्ञान प्राचीन आर्योंके धर्म या तत्त्व-ज्ञानसे भिन्न होना ही चाहिए। पुराने और बे-काम तत्त्व-ज्ञान या धर्मके द्वारा सुधारके अत्युच्च शिखर पर पहुँचे हुए आधुनिक आर्योंका समाधान नहीं हो

सकता; और यह भी स्पष्ट है कि जिस धर्म या तत्त्व-ज्ञानकी अभिवृद्धि भिन्नावस्थामें हुई है उस धर्म या तत्त्व-ज्ञानकी परिस्थितिसे इस समयकी मानसिक स्थिति कभी न मिलेगी। आधुनिक आर्योंके अपने पूर्वजोंसे भी अधिक उच्च धर्म-विचार, तत्त्व-ज्ञान और रहन-सहन आदि अवश्य ही चाहिए अर्थात् उन्हें ऐसे तत्त्व-ज्ञानकी आवश्यकता है जो वेदान्त और षड्दर्शनोंमें प्रतिपादित किये हुए तत्त्व-ज्ञानसे अधिक संस्कृत और उदात्त हो।

वर्तमान समयमें वेदान्त-शास्त्रका जो पुनरुज्जीवन हो रहा है उसके विरुद्ध उपर्युक्त प्रकारके मुख्य आक्षेप हो रहे हैं और यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि उनमें सत्यांश भी बहुत है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आधुनिक आर्य अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा आज-कल भिन्नावस्थामें पहुँचे हुए हैं। पर-राष्ट्रोंसे और विशेष कर पाश्चात्योंसे उनका निकट-सम्बन्ध होनेके कारण जगत्के अनुभवकी उनकी कल्पना विस्तृत हो गई है। अत एव उन्हें बदली हुई परिस्थितिसे मेल खाने योग्य रहन-सहन और विचार-शैली स्वीकृत करनेकी आवश्यकता आ पड़ी है। भौतिक जगत् और शरीर-रचनाके विषयमें आधुनिक आर्योंको पाश्चात्योंसे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह पूर्वजोंसे भिन्न और नवीन है। और सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि आधुनिक आर्योंने यूरोपीय पंडितोंके विशिष्ट गुणका अनुकरण करके वेदाज्ञा और शास्त्राज्ञा आदि किसीको भी प्रमाण-भूत और आधार-भूत न मान कर स्वतंत्र-रीतिसे और निर्भयताके साथ विचार करनेकी प्रणाली स्वीकृत की है।

यहाँ तक आधुनिक विद्वानोंके आक्षेपोंका निरूपण हुआ। अब इस प्रकारके कितने ही महत्त्वके प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त रीतिसे स्थिति-विपर्यास हुआ है तथापि क्या इससे यह सिद्ध होता है कि आधुनिक आर्योंको अपना धर्म और तत्त्व-ज्ञान छोड़ कर पाश्चात्योंके धर्म और तत्त्व-ज्ञानको स्विकार करना ही चाहिए? उपर्युक्त बातोंसे क्या यह सिद्ध होता है कि युरोपके धर्म-विचार और तात्विक

विचार हमारे धर्म विचारोंसे अथवा तात्विक विचारोंसे श्रेष्ठ हैं? और यद्यपि भौतिक अथवा वैज्ञानिक उन्नति चाहे जितनी हो तथापि क्या उसके साथ तत्त्व-ज्ञान और धर्मकी भी उन्नति होनी ही चाहिए? हमारे मतसे इन प्रश्नोंका उत्तर 'नहीं' ही देना पड़ेगा। क्योंकि आधुनिक सुधारसे बहुत होगा तो भौतिक शास्त्रकी उन्नति होगी और इससे सिर्फ ऐहिक सुख और सुभीते बढ़ेंगे। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उस आधुनिक सुधार और उच्च धर्म-विचारोंका परस्पर कोई निश्चयात्मक सम्बन्ध है। आधुनिक सुधारके ऊपर कहे हुए जो मुख्य अंग हैं उन्हें छोड़ कर नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक विचारोंकी उन्नातिका भी यदि आधुनिक सुधारमें अन्तर्भाव होता तो हम विश्वास-पूर्वक कहेंगे कि वास्तविक सुधारमें जिन महत्त्व-पूर्ण अंगोंकी आवश्यकता होती है वे अंग इस आज-कलके सुधारमें बिलकुल ही नहीं हैं और इसी लिए इसे 'सुधार' कहना ही शोभा नहीं देता। जब हम प्राचीन आर्योंके सुधारसे वर्तमान युरोपके सुधारकी तुलना करते हैं तब हमें जान पड़ता है कि इन दोनोंमें विलक्षण अन्तर है और प्राचीन आर्योंके आविष्कार परमावधि तक अर्थात् पूर्णावस्था तक पहुँच चुके थे।

अब हम इस बातका विचार करते हैं कि पश्चिमी सुधार और आर्योंकी उन्नतिमें कैसा अन्तर देख पड़ता है। प्राचीन आर्योंमें दो विशिष्ट गुण हैं; बिलकुल साधारण-वृत्ति और पराकाष्ठाकी ज्ञान-सम्पन्नता। इनकी जगह पर आधुनिक सुधारमें ये बातें देख पड़ती हैं कि आजकलके रहन-सहनमें अनेक व्यवहारोंका मिश्रण होना चाहिए और जगत्का ऐसा विस्तृत ज्ञान प्राप्त होना चाहिए जिससे जीवन-कलहमें अपनेसे दुर्बल और कम-चतुर बांधवों पर अपना गौरव स्थापित किया जा सके। यही दो बड़े फर्क आधुनिक सुधारमें प्राचीन सुधारकी जगह हुए हैं। प्राचीन कालमें स्पर्धा अर्थात् चढ़ा-ऊपरी या प्रतियोगिताका तत्त्व केवल विशिष्ट समाज या जातिके लिए नियमित रीतिसे लगा हुआ था; परन्तु अब वही

तत्त्व इतना सार्वदेशीय और अनियमित हो गया है कि हमारा जीवन मानो घुड़दौड़के दाँवके समान ही हो गया है। आगे जायगा वही जीतेगा; पीछे रहेगा वह हारेगा! इस दाँवमें ये बातें बिलकुल आवश्यक हो गई हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरेको अपना प्रतिस्पर्धी समझे और बुरी-भली किसी रीतिसे भी उस पर अपना गौरव स्थापित करनेका प्रयत्न करे। प्राचीन सुधार जीवन और समाजके मिथ्यापनकी दृढ़ कल्पनाके आधार पर खड़ा है और उसमें धर्म-प्रभाव पूर्णतया देख पड़ता है; परन्तु आज-कलके सुधारकी दशा बिलकुल उसके विरुद्ध है अर्थात् वह जीवन और समाजकी नित्यताके विचारकी नींव पर खड़ी है और ऐहिक सुखके विषयमें इतनी आतुरता इस सुधारमें उत्पन्न हो गई है कि जिससे धर्मकी अत्यन्त दीन दशा हो रही है! इस परिवर्तित दशाका ऐसा विलक्षण परिणाम हुआ है कि प्राचीन सामाजिक दशाका शान्त-वृत्ति जो मुख्य लक्षण था, उसकी जगह अब यह अनिवार दुरिच्छा उद्दीप्त हो गई है कि संसारमें जो उत्तमोत्तम वस्तुएँ हों वे दूसरोंके हाथसे छीन कर हमें ले लेना चाहिए; और रात दिन बराबर इसीका निदिध्यास लग रहा है। यही विलक्षण अन्तर आधुनिक सुधारमें पाया जाता है। इस अनिवार लालसा या तृष्णाके कारण तृप्तिका अभाव हो गया है और इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिसे मनकी आतुरता, त्रास और सन्ताप आदि उत्पन्न हो गये हैं।

इस विवेचनसे यह अभिप्राय नहीं है कि अर्वाचीन सुधारका महत्त्व किसी रीतिसे भी कम किया जाय। किन्तु यह निःसन्देह स्वीकार है कि वर्तमान सुधारके कारण अनेक प्रकारके लाभ भी हुए है। तब फिर यह प्रतिपादन किस लिए? तो इस प्रतिपादनका उद्देश इतना ही है कि पाठकोंको ये बातें स्पष्ट दिखला दी जायँ कि आधुनिक सुधार अपूर्ण है और उसमें ऐसे भयंकर और एक-दम भभक उठनेवाले द्रव्य हैं कि उनका प्रक्षोभ कब होगा और समाजको वे कब मिट्टीमें मिला देंगे, इसका कुछ ठीक नहीं। ऊपर हमने यह स्वीकार

किया ही है कि अर्वाचीन वैज्ञानिक आविष्कारोंसे और नवीन नवीन युक्तियोंसे जीवनके लिए अनेक सुखके मार्ग बढ़ गये हैं। परन्तु साथ ही यह बात भी नहीं भूल जानी चाहिए कि उन आविष्कारों और युक्तियोंके योगसे समाजके लिए अत्यन्त भयावनी और विघातक बहुतसी बातें मनुष्यके हाथमें आ गई हैं। हमें आधुनिक युद्ध-कलाकी ओर कुछ दृष्टि देनी चाहिए। अन्य सब बातोंमें जिस प्रकार सुधारकी उन्नति हो रही है उसी प्रकार युद्ध कलामें घातुक अस्त्र शस्त्र निर्माण करनेमें भी विलक्षण उन्नति हुई है। यह बात तो हमारे बहुश्रुत पाठकोंको मालूम ही होगी कि युद्धस्थलमें सज्ज खड़े हुए हजारों वीरोंको क्षणार्धमें नष्ट करके मिट्टीमें मिला देनेवाले आधुनिक तोपोंके समान घातुक संहार-शस्त्र अर्वाचीन युद्धोंमें उपयुक्त हो रहे हैं। सारांश यह सुधार 'दुधारा खाँडा' है। इस खाँडेकी तीक्ष्ण धार प्राचीन धर्म-तत्त्वोंसे घिस कर यदि गोंठिल न की गई तो जगत्के मनुष्य मात्रका कभी-न-कभी नाश हुए बिना कदापि न रहेगा।

हम यह नहीं कहते कि प्राचीन आर्यतत्त्व बिलकुल निर्दोष थे। उनमें भी कुछ दोष थे; उन दोषोंको न छिपाते हुए यहाँ उन्हें प्रकट कर देना आवश्यक है। प्राचीन आर्योंके अन्तिम अर्थात् परमावधिके विचार कुछ आकुंचित थे और उस समय बहु-जन-समाजकी अपेक्षा व्यक्तिकी ओर विशेष ध्यान था, तथा ऐहिक लाभ या बहु-समाज-हितकी ओर बहुत ही उदासीनता थी। परन्तु आधुनिक सुधारमें भी उक्त दोषोंके विरुद्ध अनेक भूलें देख पड़ती हैं। आधुनिक कालमें समाजमें व्यक्तिका लोप हो जाता है और जन-समाजका जीवन और हित स्थिर रखनेकी ओर विशेष ध्यान जानेके कारण व्यक्ति मात्रके अर्थात् उसके जीवात्माके लाभका अभाव हो जाता है। जीवनके आधुनिक विचारों पर रचे हुए प्राचीन आर्य-समाजका अनुभव और उसके दोष हमें मालूम हो गये हैं तथा उससे भिन्न विचारों पर रचे हुए प्राचीन आर्य-समाजका अनुभव और उसके दोष भी हमें

मालूम हैं, इस लिए हमारे स्वीकार करने योग्य उत्तम मार्ग यही है कि हम प्राचीन बातोंको सर्वथैव स्वीकार भी न करें और आधुनिक युरोपके दिखाऊ वैभवमें भी न भूल जायँ; किन्तु बीचका ही मार्ग स्वीकार करना हमारे लिए हितकारक होगा। हमें इस प्रकारका सुधार चाहिए कि जिस-में दोनोंके लाभोंका समावेश हो सके। और दोनोंकी परमावधि तक पहुँची हुई कल्पनाओंका मेल इस प्रकार किया जा सके कि एककी त्रुटि-याँ दूसरेसे पूर्ण हो जायँ। अर्थात् दोनों प्रकारके विचारोंके दोषोंका त्याग करके हमें उनको इस प्रकार मिला देना चाहिए कि जिससे हमारे इष्ट कार्यकी सिद्धि हो। आज-कल भारतवर्षको जिस बातकी विशेष जरूरत है वह बात प्राचीन और नवीनका मेल करना ही है। यह मार्ग यदि हम स्वीकार करेंगे तो प्राचीन विचारोंको बिलकुल तिरस्कृत करनेका भी दोष हम पर नहीं आवेगा और प्राचीन कालसे लेकर बिलकुल प्रस्तुत काल तक अव्याहत-रीतिसे सुधार भी कायम बना रहेगा, तथा पाश्चिमी और पूर्वी उत्कृष्ट विचारोंके सम्मेलनसे नवीन प्रकारके सुधार होंगे और हमारे राष्ट्रका स्वत्व स्थिर रहेगा। युरोपमें आज-कल व्यवहारिक चातुर्य और विविध विषयोंका ज्ञान देख पड़ता है; और पूर्वकी ओर उच्च विचार तथा पारमार्थिक निपुणता दृष्टि-गोचर होती है। अत एव आज-कल वेदान्त-शास्त्रका जो पुनरुज्जीवन हो रहा है उसका मुख्य तत्त्व यही है कि पूर्वी और पाश्चिमी गुणोंका अपूर्व और विलक्षण मिश्रण बनाना चाहिए। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा इस आर्यभूमिके जो सच्चे हित-चिंतक हैं उन्हें यह तत्त्व अवश्य ही मान्य होगा।

प्राचीन आर्योंका परम उदात्त और सर्वोत्कृष्ट तत्त्व-ज्ञान वास्तवमें हमारी बड़ी भारी पैतृक-सम्पत्ति है। हमारे वेदान्त-शास्त्र पर सत्य और सर्वदेशीयताका मानो ऐसा सिक्का बैठा हुआ है कि संसारका कोई समाज भी अपनी चाहे जिस दशामें उसके तत्त्व-ज्ञानका उपयोग कर सकता है। तत्त्व-ज्ञान और धर्मके विचार सब देशोंमें भिन्न भिन्न माने

जाते हैं; परन्तु हमारे वेदान्त-शास्त्रका वह हाल नहीं है। उसमें तत्त्व-ज्ञान है और उत्कृष्ट धर्म भी है। इस लिए जो विरोध युरोपके अनेक प्रकारके तत्त्व-ज्ञानों और धर्मोंमें पाया जाता है वैसा विरोध आर्य तत्त्व-ज्ञान और धर्ममें बिलकुल ही नहीं मिलता। तत्त्व-ज्ञान ज्ञान-वृक्षका पुष्प है और धर्म उसका फल है। तत्त्व-ज्ञान उस वृक्षकी उत्पत्ति है और धर्म उस वृक्षका व्यावहारिक स्वरूप है। यह हमारा निश्चित मत है। परमावधि तक पहुँचे हुए जो सर्वोत्कृष्ट विचार हैं वे हमें तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होते हैं और धर्मसे हमें यह मालूम होता है कि उन विचारोंका आविष्करण व्यवहारमें कैसे किया जाय। तात्पर्य यह कि धर्म तत्त्व-ज्ञानका व्यावहारिक स्वरूप है। अत एव उसमें किसी प्रकारका भी विरोध होना अस्वाभाविक और असम्भव है।

धर्म-स्थापनामें जिस तत्त्व-ज्ञानका प्रभाव नहीं पड़ता वह तत्त्व-ज्ञान बिलकुल व्यर्थ समझना चाहिए। और वह निरुपयोगी तत्त्व-ज्ञान अवश्य नष्ट होना ही चाहिए। तत्त्व-ज्ञानके दृढ़ आधार पर जिस धर्मकी रचना नहीं हुई है वह धर्म स्थिर नहीं रह सकता। बिना नींवके कहीं मकान खड़ा रह सकता है? जिस प्रकार वृक्षसे गिर कर फूल कुम्हला जाता है उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान-रहित धर्म भी सत्यानाश हुए बिना नहीं रहता। पश्चिमी देशोंका हाल देखिए। शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान और धर्म आदिमें वहाँ आज-कल कैसा तुमुल युद्ध हो रहा है और अलग अलग होकर ये किस प्रकार आपसमें एक दूसरेकी छाती पर सवार होनेके लिए तैयार हैं! वहाँका पदार्थ-विज्ञान तत्त्व-ज्ञान और धर्मको उनके उच्च आसनसे नीचे खींच लेना चाहता है, इसमें वह कुछ सफल भी हो रहा है; तथा पदार्थ-विज्ञानके मूल तत्त्वोंमें दोष दिखला कर तत्त्व-ज्ञान भी उसके उच्चाटन करनेका बड़ा प्रयत्न कर रहा है। ये प्रयत्न एकांगी हैं। मिल कर भी कुछ प्रयत्न हो रहे हैं। जान पड़ता है कि पदार्थ-विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान मिल कर धर्मको नीचे गिरा देना चाहते हैं। उन्होंने धर्मको बिलकुल

निकम्मा ठहराया है। यही नहीं, बल्कि वे जोर देकर कहते हैं कि धर्ममें बुद्धि और विचार-शक्तिसे होनेवाली बातोंका समावेश कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार पदार्थ-विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान और धर्म-नीतिके तीन मार्ग हो गये हैं और सभी अपने अपने गर्वमें चूर हैं। ऐसी दशामें धर्म बेचारेकी दुर्गति हो रही है और वह श्रद्धाके शरणमें जाकर उसका आश्रय ले रहा है। इस दशासे यह स्पष्ट है कि पश्चिमी देशोंमें विचार-शक्तिकी दशा बहुत ही निर्बल समझी जाती है। और पदार्थ-विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान तथा धर्मके अधिकार सन्तोषकारक रीतिसे स्थापित करनेका जब समय आयगा तब बुद्धि-शक्तिकी अवश्य ही विलक्षण क्रान्ति हो जायगी।

यह तो पश्चिमी स्थितिका निरीक्षण हुआ। अब अपनी दशा भी विचारना चाहिए। प्रथम तो हमारे प्राचीन आर्य पूर्वज इतने चतुर और दक्ष थे कि उन्होंने बड़े विचारके साथ ऐसा ही मार्ग स्वीकार किया जिसमें उपर्युक्त प्रकारकी अड़चनें बिलकुल आवें ही नहीं। प्राचीन आर्योंका स्थापित किया हुआ वेदान्त-शास्त्र तत्त्व-ज्ञान भी है और धर्म भी। इसके सिवा पदार्थ-विज्ञानसे उसका कोई विरोध भी नहीं पाया जाता। यही नहीं, बरन वेदान्तने पदार्थ-विज्ञानकी महती ही गाई है। जो लोग कहते हैं कि तत्त्व-ज्ञानका पैर सदा आगे ही रहना चाहिए और प्राचीन तत्त्व-ज्ञानसे आधुनिक तत्त्व-ज्ञान बहुत ही उत्कृष्ट है, उन्हें यह उत्तर दिया जा सकता है कि तत्व-ज्ञानकी उन्नति सब प्रकारसे हो नहीं सकती, उसका पैर एक मार्गसे चाहे आगे बढ़ भी जाय; परन्तु सब मार्गोंसे उसकी लगातार और स्थिर उन्नति नहीं हो सकती; और इसी लिए हम कहते हैं कि हमारे प्राचीन षड् दर्शनोंका अभ्यास जितना अधिक होगा उतना ही अधिक वह आगे चल कर काम देगा। षड् दर्शनोंके अभ्याससे बुद्धिमें कुशाग्रता आती है। इतना ही नहीं, बल्कि विद्यार्थियोंको उनसे ऐसे ऐसे तत्त्व मालूम होते हैं जो मनुष्य-मात्रके लिए उपयोगी होते हैं। 'तत्त्व-ज्ञान' शब्दके व्यापक अर्थ पर यदि ध्यान दिया जाय तो मालूम होता है कि उससे

दो बड़े कार्य होते हैं। पहला कार्य यह है कि तत्त्व-ज्ञानसे विशिष्ट शास्त्रोंकी संगति लग जाती है अर्थात् यह निश्चित हो जाता है कि अनेक शास्त्रोंमेंसे किन शास्त्रोंको केवल सहायभूत समझना चाहिए और कौनसे शास्त्रोंसे अन्तिम सिद्धान्त निकालना चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करने पर हम तत्त्व-ज्ञानको उन्नति-कर्त्ता कह सकते हैं। आध्यात्मिक बातोंका विवेचन करना उसका दूसरा महत् कार्य है। तत्त्व-ज्ञानसे विचारवान् पुरुष ऐसी ऐसी बातें समझ लेते हैं जिनका साधारण बुद्धिको कभी आकलन नहीं हो सकता। तत्त्व-ज्ञान पदार्थ-विज्ञानके सिद्धान्तों पर खड़ा होकर आध्यात्मिक बातोंका विवेचन करता है। सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे हुई, उसका आदि कारण क्या है, मनुष्य क्या है, इत्यादि बातोंका खुलासा (स्पष्टीकरण) तत्त्व-ज्ञान ही करता है। ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? कर्म और पुनर्जन्म क्या है? मोक्ष किसे कहते हैं और कैवल्य क्या है? ये शुद्ध आध्यात्मिक विषय हैं। इनका निर्णय सामान्य पदार्थ-विज्ञानसे कभी नहीं हो सकता। इन विषयोंके विवेचनमें प्राचीन आर्योंके सुसंस्थापित और प्रगल्भ विचारोंका प्रतिपक्षी आज तक इस संसारमें दूसरा पैदा ही नहीं हुआ। और ये विचार आधुनिक सभ्यताकी डींग हाकनेवाले राष्ट्रोंको भी चकित कर डालते हैं। अस्तु। इस विषय पर अब अधिक विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं मालूम होती। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनसे यह बात पाठकोंके ध्यानमें अवश्य ही आ जायगी कि प्राचीन आर्य-दर्शनोंका अभ्यास करके हमें क्या ग्रहण करना चाहिए। यह अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिए कि जब तक आधुनिक सुधारके ज्ञानमें प्राचीन आर्योंके ज्ञानकी मदद न ली जायगी तब तक आधुनिक ज्ञानसे संसारको कुछ लाभ नहीं पहुँच सकता। और आज जो वेदान्त-शास्त्रका पुनरुज्जीवन हो रहा है वह उक्त कामके लिए सबसे अधिक उपयोगी होगा। अत एव अब यह अधिक बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि यह पुनरुज्जीवन हमारे लिए कितना उपयुक्त है।

तीसरा प्रकरण ।

पुनर्जन्म ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

—भगवद्गीता ।

सृष्टिके सम्पूर्ण दृश्य चमत्कार कार्य-कारण-भावोंके सार्वत्रिक नियमसे बद्ध हैं । इन दोनोंमेंसे कार्य सदा दृष्टिगोचर होता है; परन्तु कारण बहुधा अदृश्य रहता है । गुरुत्वाकर्षण नामक जो एक अदृश्य वेग है उस वेगका कार्य है वृक्षसे आम्रफलका अधःपतन । वह वेग यद्यपि इन्द्रियोंको गोचर नहीं है तथापि उसका परिणाम दृष्टि-गोचर है । इस रीतिसे देखने पर मालूम होता है कि जगत्के द्रव्योंके जो अनेक सूक्ष्म-रूप हैं और उन रूपों पर जो नाना प्रकारके वेग होते हैं उन्हींके कार्य ये सम्पूर्ण दृश्य चमत्कार हैं । यही अदृश्य वेग और द्रव्योंके परमाणु मिल कर सृष्टिके सूक्ष्म शरीर बनते हैं । इन सूक्ष्म वेगोंका जब पदार्थ बनता है तब वह अपने स्थूल परिमाणसे दृष्टि पड़ता है । इससे हम यह कह सकते हैं कि जितने स्थूल पदार्थ सृष्टिमें हमें देख पड़ते हैं वे सब उसी सूक्ष्म वेगके कार्य हैं जो द्रव्योंके सूक्ष्म परमाणुओं पर होता है । अब हम यह बात उदाहरणोंसे व्यक्त करते हैं:—आक्सिजन और हाइड्रोजन वायुके सूक्ष्म परमाणु जब रासायनिक वेगसे मिश्र होते हैं तब वे पानीके सूक्ष्म-रूपसे दृष्टि पड़ते हैं । आक्सिजन और हाइड्रोजन जो पानीके सूक्ष्म घटकावयव हैं, उनसे पानी भिन्न नहीं किया जा सकता । पानीका अस्तित्व उसके घटकावयवों पर अर्थात् सूक्ष्म-रूपों पर अवलम्बित रहता है । यह सूक्ष्मावस्था यदि बदल जाती है तो स्थूल पदार्थोंमें भी अन्तर हो जाता है । किसी वनस्पतिके स्थूल-रूपमें जो विशेषता देख पड़ती है वह उस वनस्पतिके सूक्ष्म-रूप अर्थात् बीज-

की विशेष अवस्था पर भी अवलम्बित रहती है । सूक्ष्म-दर्शक यंत्रसे दिखनेवाला अति सूक्ष्म जीवबिन्दु और उस जीवबिन्दुसे लेकर पूर्णावस्था तक पहुँचा हुआ पुरुष इन दोनोंके बीचमें अनेक अवस्थाएँ हैं; उनमेंसे प्रत्येक अवस्थामें अनेक सूक्ष्म शरीर देख पड़ते हैं; उन्हीं सूक्ष्म शरीरों पर उस पुरुषका स्थूल देह अवलम्बित है। मनुष्य मात्रका स्थूल शरीर उसके लिंग-देहके निकट सम्बद्ध रहता है । यही नहीं, किन्तु लिंग-देहके चलन-वलन आदि व्यापार और रूपान्तरोंके योगसे ही उसके स्थूल शररिके चलन-वलन आदि व्यापार और रूपान्तर होते हैं। लिंग-देहमें यदि कुछ भी अन्तर पड़ जाता है तो स्थूल शरीर पर भी उसीके अनुसार विकार होता है । इस लिए जब लिंग-देहका ही स्थूल शरीर बना हुआ होता है तब स्थूल शरीरकी उत्पत्ति, वृद्धि और नाश भी लिंग-देह हीके विकार पर अवलम्बित रहते हैं।

यहाँ तक यह विवेचन हुआ कि खनिज-कोटि, उद्भिज-कोटि और प्राणि-कोटियोंमें लिंग-देहसे स्थूल शरीर कैसे बनते हैं । अब यह देखना चाहिए कि लिंग-देह क्या है । लिंग-देह सजीव पदार्थका सूक्ष्म बीज है । जैसे किसी वनस्पतिके बीजमें जीवन-वेग और वृद्धि होनेकी शक्ति दोनों होते हैं वैसे ही मनुष्यके लिंग-देहमें जीवन-वेगसे संबद्ध हुए अदृश्य द्रव्य परमाणु होते हैं । यही नहीं, बल्कि उसमें वृद्धिको पहुँचनेवाला भावी मनो-वेग (Thought-force) भी होता है। वेदान्त-शास्त्रमें तो इस लिंग-देहका बहुत अच्छा विवेचन किया हुआ है । जीवन-कलासे आकृष्ट होनेवाले पंच महाभूतोंके सूक्ष्म परमाणु, पंच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, घ्राण, जिव्हा, त्वचा), पंच कर्मेन्द्रिय (वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा), पंचप्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान), मन, और बुद्धि इत्यादिके सूक्ष्म-रूप मिल कर लिंग-देह बनता है । प्राण शब्दका अर्थ जीवन-शक्ति है और यह प्राण यद्यपि

एक ही है तथापि शरीरकी भिन्न भिन्न वायुके पृथक् पृथक् कार्यके अनुसार प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच भिन्न भिन्न नाम पड़े हैं। बाहरकी वायु फुप्फुसमें लेकर भीतरकी वायु बाहर छोड़ना प्राण-वायुका धर्म है। शरीरमें जिस वायुकी आवश्यकता नहीं उसे बाहर छोड़ना अपान-वायुका काम है। पचन-क्रिया करके शरीरके प्रत्येक भागमें अन्न-रस पहुँचाना समान-वायुका कर्तव्य है। गलेके नीचे उतरे हुए अन्नको जठराग्निमें पहुँचाना और वाचा-शक्ति उत्पन्न करना उदान-वायुका कार्य है। और पाँचवाँ वायु व्यान नखसे लेकर शिख तक शरीरके सब भागोंमें और नाड़ियोंमें संचार करके शरीरकी आकृति स्थिर रखता है और प्रत्येक इन्द्रियमें ताजगी लाता है। इन पाँचों वायुओंका नाम प्राण है। ये पाँचों वायु जीवन-वेगके रूप हैं। ऊपर बतलाई हुई सूक्ष्म-शक्ति, स्थूल-शक्ति, स्थूल शरीरके द्रव्य परमाणु, एक जन्ममें मनुष्यके मन पर होनेवाले संस्कार और संकल्प तथा वासनाके भावी रूप मिल कर लिंग-देह बनता है। मनुष्य इस जन्ममें जितने भिन्न भिन्न कर्म मन अथवा शरीरसे करता है, अगले जन्मकी वासनाएँ और संकल्प उन्हींके परमाणु हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि पूर्वजन्मके किसी संस्कारका परिणाम अगले जन्ममें न हो।

एक जन्ममें हम जो शारीरिक और मानसिक कर्म करते हैं और जितने संकल्प मनमें लाते हैं वे सब सूक्ष्म होकर संस्कार-रूपसे अगले जन्ममें कायम रहते हैं। वे संस्कार कुछ काल तक स्तिमित अवश्य रहते हैं; परन्तु नियमित कालके बाद फिर वह गुप्त संस्कारित मन समुद्रकी लहरोंकी तरह प्रक्षुब्ध होकर भिन्न भिन्न इच्छाएँ उत्पन्न करता है। उन्हें वेदान्त-शास्त्रमें वासना कहते हैं। **वासना** अर्थात् उत्कट इच्छा। प्राणीको जो नवीन शरीर धारण करने पड़ते हैं उनका कारण वे वासना ही हैं। ऐहिक सुखों और पदार्थोंकी प्रबल वासनाएँ जब तक मनुष्यमें

रहती हैं तब तक उसको अनेक जन्म लेने पड़ते हैं। चाहे सौ जन्म हो गये हों तथापि वासना यदि बनी है तो उसके लिए फिर भी जन्म लेने ही पड़ते हैं। उन प्रबल वासनाओंकी गति कुंठित नहीं होती। जब कभी वासना-शांति होगी तभी नवीन जन्मोंसे छूटना सम्भव होगा।

लिंग-देहमें जितने गुप्त संस्कार होते हैं उन संस्कारोंके अनुसार शरीर, मन और इन्द्रियोंके कर्म होते हैं। वे कर्म कभी अपनी इच्छाके अनुसार होते हैं और कभी इच्छाके विरुद्ध भी हो जाते हैं। यद्यपि हमारे स्थूल भौतिक शरीरकी बाढ़, पोषण-क्रिया और अन्य सब विकार अपने अपने कारणोंसे होते हैं तथापि सम्पूर्ण कर्म, उन कर्मोंके लिए आवश्यक शारीरिक स्थिति और शारीरिक दशाके परिवर्त्तन इत्यादि सब उन गुप्त संस्कारोंके बाह्य परिणाम हैं जो लिंग-देहमें संचित रहते हैं। मनुष्यके सारे शरीरसे संस्कारोंके स्वरूपका जो ऐक्य-भाव होता है वह ऊपर कही हुई बातों पर अवलम्बित रहता है। इस लिए हममें जो वासनाएँ अत्यन्त उत्कट होती हैं उनसे अन्वय पानेवाली इन्द्रियाँ बनती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ वासनाओंका बाह्य परिणाम हैं। यदि हमें क्षुधा अर्थात् अन्न-भोजनकी इच्छा न हो तो दाँत, कंठ और आँतोंका कुछ उपयोग नहीं। हमें यदि किसी पदार्थके ग्रहण करनेकी अथवा चलन-वलनकी इच्छा न होगी तो हस्त-पादादि अवयव निरुपयोगी हो जायँगे। इसी तरह देखने और सुननेकी इच्छाके कारण ही आँख और कान होते हैं। यदि हम हस्त-चालनकी इच्छा न करें और हाथका हम बिलकुल ही उपयोग न करें तो थोड़े ही दिनोंमें हाथ सूख कर काष्ठवत् हो जाय। ऐसे काष्ठवत् हाथवाले अघोर-पंथी लोग पाठकोंने देखे ही होंगे। ये लोग एक हाथका बिलकुल ही उपयोग न करके उसे ऊपर उठाये रहते हैं—इसी कारण इन्हें "ऊर्ध्व-बाहू" कहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य छः महीने तक बराबर बिछौने पर पड़ा रहे तो कुछ दिन बाद चलनेकी उसकी शक्ति नष्ट हो जायगी। ऐसे उदाहरण भी देखनेमें आये हैं।

सामान्यतः मानवी प्राणीके शरीरका आकार उसकी इच्छाके अनुरूप होता है। इसी प्रकार व्यक्ति मात्रकी जैसी जैसी वासना, इच्छा और विचार होते हैं वैसे वैसे ही उसके शरीरका गठन होता है। और इससे यह जान पड़ता है कि मनुष्यका बाह्य आकार उसके अन्तःस्वरूपका केवल आविष्करण है। अन्तःस्वरूपके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको भिन्न भिन्न स्वरूप प्राप्त होते हैं और एकके बाद एक जन्म मिलते हैं। मनुष्य मरता है; परन्तु उसका जीवात्मा नष्ट नहीं होता। किन्तु वह अदृश्य-रूपसे कार्य-कारण-भावके नियमानुसार हमारे जन्म जिस अक्षय रज्जुसे बद्ध होते हैं उस रज्जुमें रहता है। यह लिंग-देह अनन्त और अनादि कालसे निर्माण हुए जलबिन्दुकी तरह है और उसमें चिच्छक्ति समाविष्ट रहती है। जैसे कोई जलबिन्दु कभी मेघोंमें अदृश्य वायु-रूपसे रहता है; कभी पर्जन्य-धारा-रूपसे, कभी हिम-रूपसे, कभी बर्फ-रूपसे रहता है; कभी कभी फिर उसकी भाफ बनती है और कभी कीचड़में भी रहता है; परन्तु उसका समूल नाश कभी नहीं होता, यही हाल लिंग-देहका है। वह कभी कभी अव्यक्त रहता है और कभी कभी पूर्वजन्मकी वासनाओं और संस्कारोंके अनुसार किसी प्राणी अथवा मनुष्यके स्थूल-रूपसे व्यक्त होता है। यह लिंग-देह कभी स्वर्गको जायगा, कभी आकाशके किसी गृहपिंड पर भी जायगा; अथवा इस पृथ्वी पर ही घूम कर फिर जन्म लेगा। ये सब बातें पूर्व-जन्मार्जित वासनाके बल पर अवलम्बित रहती हैं। इस विचारका वेदान्त-शास्त्रमें इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है कि मनुष्यकी जीवितावस्थामें जो संकल्प, जो वासनाएँ और जो इच्छाएँ उसमें अत्यन्त प्रबल रहती हैं वे मरण-समयमें और भी अधिक जोर पकड़ती हैं; और उन्हींके अनुसार मरनेवालेका अन्तःस्वरूप बनता है। और वही अन्तःस्वरूप पुनर्जन्मके रूपसे व्यक्त होता है। इस रीतिसे अन्तःस्वरूप बनानेवाले संकल्पों, वासनाओं

और इच्छाओंमें ऐसी कुछ विलक्षण शक्ति है कि उस शक्तिके योगसे उन सब वासनाओंके संतृप्त होनेके लिए जो अवस्थाएँ और उपाधियाँ चाहिए उनका चुनाव स्वयं वे संकल्प और वासनाएँ ही कर लेती हैं। इस क्रियाको उत्क्रान्ति-तत्त्वाभिमानी लोग "नैसर्गिक चुनावका नियम" कहते हैं । अँगरेजीमें इसे Law of Natural Selection कहते हैं ।

उपर्युक्त क्रिया स्पष्ट-रीतिसे मालूम होनेके लिए अब हम यहाँ पर यह देखते हैं कि वनस्पतियोंके भिन्न भिन्न बीज भिन्न भिन्न द्रव्योंसे अपनी आवश्यकताके अनुसार भिन्न भिन्न रसोंका कैसे शोषण कर लेते हैं। हम आम और गुलाब दोनोंके पौधे लगाते हैं और दोनोंमें मिट्टी तथा पानी भी एक ही तरहका डालते हैं। सूर्यकी उष्णता भी दोनोंमें बराबर ही पहुँचती है; तथापि उन दोनों पौधोंके बीजोंमें ऐसा कुछ विशेष धर्म रहता है कि जिसके योगसे वे बाहरके द्रव्योंसे उतना ही रस खींचते हैं जितनेकी उन्हें आवश्यकता होती है। वे बीज ऐसा ही रस आकर्षण कर सकते हैं कि जो उनसे उत्पन्न होनेवाले फूल या फलके विशिष्ट रूपकी बाढ़को सहायता देता है। यही हाल मनुष्यका भी है। मरनेवाले मनुष्यका लिंग-शरीर ऊपर बतलाये हुए नैसर्गिक चुनावके नियमानुसार ऐसी ही अवस्थाओंका चुनाव करता है कि जिनसे अपनी अवशिष्ट वासनाओंको व्यक्त होनेकी संधि मिले। मनुष्यके मृत होने पर पुनर्जन्म प्राप्त होनेवाली जो अनेक अवस्थाएँ हैं उन्हींमेंसे **माता-पिता** भी एक अवस्था है। नवीन बननेवाला अन्तःस्वरूप अथवा लिंग-देह नैसर्गिक चुनावके नियमानुसार ऐसे ही माता-पिताओंका चुनाव करता है जो उसके योग्य होते हैं और उन्हींके पेटमें वह जन्मके लिए आता है। जैसे किसीकी चित्रकलामें निपुण होनेकी बलवत्तर इच्छा है और उसने जन्मभर उत्कृष्ट चित्रकार बननेके लिए प्रयत्न किया; परन्तु वह साध्य नहीं हुआ तो ऐसी दशामें वह मनुष्य मरनेके

बाद ऐसे ही माता-पिताके पेटमें आवेगा और ऐसी ही अवस्थाएँ उसे प्राप्त होंगी कि जिनसे उत्तम चित्रकार बननेमें उसे सहायता मिलेगी। यहाँ तक जिस क्रियाका वर्णन किया गया उसे पौर्वात्य तत्त्व-ज्ञानमें **पुनर्जन्म** कहते हैं।

यह पौर्वात्य तत्त्व कि लिंगदेह अपनी अगली अवस्थाका चुनाव नैसर्गिकि चुनाव (Law of Natural Selection) के तत्त्वसे करता है और जीवात्माका पुनर्जन्म है, पश्चिमीय राष्ट्रोंमें चाहे सर्वमान्य न हुआ हो तथापि प्राचीन कालमें और आधुनिक कालमें भी अनेक प्रकारके लोगोंने अर्थात् महान् तत्त्ववेत्ता, धर्मोपदेशक, इतिहासकार, साधु, कवि इत्यादिने निस्सन्देह मान्य किया है । प्रथमतः हम मिसर् देशकी ओर दृष्टि डालते हैं । वह देश पृथ्वीमें बहुत पहले सभ्य हुआ था । उसमें यह तत्त्व मान्य था । प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार हेरोडोटसने लिखा है कि "मानवी आत्मा अमर है और जब मनुष्य मृत होता है तब उसका आत्मा किसी दूसरे शरीरमें प्रविष्ट होता है, यह तत्त्व मिसर देशके लोग प्रतिपादन किया करते थे ।" पायथेगोरास नामक जो तत्त्ववेत्ता हो गया है उसने और उसकी शिष्य-मंडलीने ग्रीस और इटली देशोंमें पुनर्जन्म-मतका प्रचार किया है । इस तत्त्ववेत्ताको मार्गमें एक-बार एक कुत्ता जाता हुआ मिला; तब उसने यह जान लिया कि पहले मरे हुए उसके एक मित्रका आत्मा उस श्वान-देहमें प्रविष्ट हुआ था; यह बात ग्रीसके इतिहासमें बहुत प्रसिद्ध है । साक्रेटीसके सच्छिष्य और महान् तत्त्ववेत्ता प्लेटोने जो ग्रन्थ रचे उनकी मुख्य कुंजी तो पुनर्जन्म ही है। प्लेटोने एक जगह कहा है:—"हमारे शरीरकी अपेक्षा आत्मा अत्यन्त प्राचीन है और वह बार-बार भिन्न भिन्न जन्म लेता है ।" इटली देशके महाकवि वर्जिल और ओविडके काव्योंमें जगह जगह पुनर्जन्मका प्रतिपादन पाया जाता है । ओविडके काव्यका ड्रायडन नामक इँग्लिश

कविने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है कि "मृत्युमें यह शक्ति नहीं है कि वह हमारे अजरामर आत्माको मार सके। एक देह जब मिट्टी हो जाता है तब आत्मा नवीन वसति-स्थान ढूँढ़ निकालता है और वहाँ जीव तथा प्रकाश उत्पन्न करता है।" ईरान देशके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंके धर्ममें पुनर्जन्म ही सार था। भारतवर्ष पर चढ़ाई करनेके बाद सिकन्दर बादशाहने आर्य-तत्त्वज्ञानियोंके सहवाससे पुनर्जन्मका तत्त्व मान्य किया था। इसका आधार मिलता है। फ्रांस देशके आदिम निवासी, जिन्हें गाल्स कहते हैं, पुनर्जन्म पर पूर्ण विश्वास रखते थे। यह बात प्रख्यात रोमन ग्रन्थकार और योद्धा जूलियस सीजरने लिखी है। ब्रिटन देशके प्राचीन धर्मोपदेशक, जिन्हें ड्राइड कहते हैं, ऐसा मानते थे कि "मनुष्यका आत्मा देह नष्ट होने पर अपने स्वभाव और इच्छाके अनुरूप किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है"। पुनर्जन्म प्रतिपादन अरबस्तानके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं और मुसल्मान सूफी पंडितोंका प्यारा विषय ही हो गया था। यहूदी लोगोंने बाबिलोनियोंके बन्दिवासके बाद पूनर्जन्म-मत मान्य किया था। उन लोगोंमें एलिजा नामक जो साधु हो गया है उसीका अवतार वे जान बापटिस्टको मानते थे। उसी प्रकार यहूदी लोग यह बात मानते रहे हैं कि उनका स्मृतिकार मोजेस और स्वयं ईसामसीह भी पहलेके साधुओंके अवतार ही थे। इसके सिवा ईसाई धर्मकी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो वहाँ भी हमें यही हाल देख पड़ता है। वह शास्त्र भी कुछ पुनर्जन्म-मतसे अलग नहीं है। आरिगन नामक जो क्रिश्चियन धर्मोपदेशक हो गया है वह लिखता है:—"दो मनुष्योंमेंसे एककी पुण्यकी ओर और दूसरेकी पापकी ओर प्रवृत्ति क्यों होनी चाहिए? तथा एक ही मनुष्यकी किसी समय पुण्यकी ओर तो किसी समय पापकी ओर जो प्रवृत्ति होती है वह वैसी क्यों होनी चाहिए? यह बहुत ही बड़ा गूढ़ प्रश्न है।

देहकी उत्पत्तिके बाद जब हम इसका कारण ढूँढ़ने लगते हैं तो कुछ भी समझमें नहीं आता। इसका कारण ढूँढ़नेमें देहोत्पत्तिके पहलेका ही विचार करना चाहिए।" ईसाई धर्ममें पुनर्जन्म-मतका प्रचार इतनी शीघ्रतासे होने लगा था कि रोमन लोगोंके बादशाह जस्टी नियनको ईसाई शकके बाद ५३८ वें वर्षमें कान्स्टेन्टीनोपलकी राजसभामें एक नवीन कायदा बना कर इस मतका उच्छेद करना पड़ा। इस कायदेमें यह निश्चय किया गया था कि "यह पौराणिक और विचित्र मत कि इस देहके पहले भी आत्माका अस्तित्व था और आगे भी वह फिर जन्म पावेगा, मान कर जो कोई इसका प्रचार करेगा वह बहिष्कृत समझा जायगा।" सत्रहवें शतकमें केंब्रिज-विश्वविद्यालयके प्लेटोके मतानुयायियोंने पुनर्जन्मका मत मान्य किया था। जर्मनीके इतिहासके मध्यकालमें (ईसाई शकके अनन्तर ५०० और १५०० के बीचवाले समयमें) होनेवाले और आधुनिक बहुतसे जर्मन तत्त्ववेत्ताओंने भी इस मतका प्रतिपादन किया है। क्यांट, शेलिंग, गोपथ इत्यादि जर्मन-तत्त्ववेत्ताओंके ग्रन्थोंसे पुनर्जन्म-मतके पुष्टीकरणार्थ अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं; परन्तु विस्तार-भयसे यहाँ नहीं दिये गये। नास्तिक शिरोमणि ह्यूमने आत्माके अमरत्व पर जो निबन्ध लिख रक्खा था वह उसके मरनेके बाद प्रकाशित हुआ है। उसमें उसने लिखा है कि "मनुष्य मात्रमें अवस्था-भेद, चित्त-वृत्ति-भेद इत्यादि जो भेद पाये जाते हैं उनका जब हम तात्त्विक दृष्टिसे विचार करते हैं तब पुनर्जन्मका मत ग्रहण किये बिना काम ही नहीं चलता।" आधुनिक पदार्थ-विज्ञान-शास्त्रवेत्ता प्रो० हक्सलेने लिखा है कि "अविचारी लोग चाहे भले ही कहा करें कि पुनर्जन्मका मत असम्भाव्य है; परन्तु जगत्की वास्तविक दशाका सच्चा ज्ञान होनेके लिए जिस प्रकार उत्क्रान्ति-तत्त्वके मतकी आवश्यकता है उसी प्रकार पुनर्जन्मके मतका मानना भी अत्यन्त आवश्यक है। यह मत मान्य

किये बिना जगत्की अनेक बातोंका खुलासा नहीं हो सकता।" ईश्वर-ज्ञानवेत्ता इमर्सनने अपने 'अनुभव' नामक निबन्धमें कहा है कि "हम जब जागृत होकर देखते हैं तब ऐसा भास होता है कि मानो हम सोपान-परम्पराके मध्यभागमें बैठे हैं। नीचे दृष्टि डालने पर जान पड़ता है कि हम बहुतसी सिड्डियाँ चढ़ कर ऊपर आये हैं। और जब हमं ऊपरकी ओर देखते हैं तब देख पड़ता है कि अभी हमें बहुतसी सिड्डियाँ ऊपर चढ़ना है। इसके सिवा कुछ सिड्डियोंका तो हमें पता भी नहीं लगता।" वर्ड्सवर्थ और राजकवि टेनिसन इत्यादि श्रेष्ठ कवियोंने भी पुनर्जन्मके मतको माना है। विटेमन कविने कहा है कि "हे जीवात्मा तू अनेक बार मर कर फिर भी बच रहा है। मैं पहले दस हजार बार मृत हुआ हूँ, इसमें कोई शंका नहीं।"

अफ्रिका, अमेरिका और एशिया महाद्वीपोंके आदिम जंगली लोगोंमें भी पुनर्जन्म-मत दृष्टि पड़ता है। एशियाके तीन चौथाई लोग इस मत पर विश्वास रखनेवाले हैं। संसारकी पीठ पर ऐसा एक भी धर्म नहीं मिल सकता जिसमें मृत्युके बाद जीवात्माका अस्तित्व न माना गया हो।

अब हम अल्पवयमें ही अलौकिक बुद्धिमत्ताके उदाहरणोंकी ओर ध्यान देते हैं। पास्कल नामक एक बड़ा विद्वान् हो गया है। उसने बारह वर्षकी ही अवस्थामें सरल भूमितिके मुख्य प्रमेय ढूँढ़ निकाले थे। मंगिया मेलो एक धनगर था। उसने पाँच ही वर्षकी उम्रमें गणितके कठिन उदाहरण सहज कर डाले थे। उसका नाम लोगोंने "गणितका यंत्र" रक्खा था। कालबर्न नामक एक विद्वान् आठ वर्षकी उम्रके पहले ही पाटी पर अंक न लिख कर मुखाग्र ही गणितके प्रश्न तत्काल हल कर देता था। एक बार उसने ८ वीं संख्याका षोडश-घात मुख हीसे कर दिखलाया था। उस षोड़श-घातकी संख्या पन्द्रह अंकोंकी अर्थात् २८,१४,७४,९७,६७,१०,६५६ थी! वह छः अंकोंकी रकमका वर्गमूल

और दस करोड़ संख्याका घनमूल पूछते ही ठीक ठीक बतला देता था। एकने उससे पूछा कि ४८ वर्षोंके कितने मिनट हुए? इस पर उसने तुरन्त ही बतला दिया कि २,५२,८८,८०० मिनट। मोजार्ट नामक प्रसिद्ध गायन-शास्त्रज्ञने अपनी चार ही वर्षकी अवस्थामें पदोंकी रचना की और आठ वर्षकी उम्रमें तो उसने एक संगीत नाटक ही लिख डाला। मिलानोला नामक एक स्त्री तंतुवाद्यमें बड़ी प्रवीण हो गई है; वह बहुत ही छोटी उम्रमें बहुत अच्छी सारंगी बजा लेती थी। यह देख कर बहुत लोग कहते रहते कि जन्म लेनेके पहले ही उसने तन्तुवाद्यका अभ्यास कर लिया होगा। इसी तरह अनेक अलौकिक शक्तिके चित्रकार और शिल्पज्ञ हो गये हैं, जिन्होंने बाल्यावस्थामें ही अपनी बुद्धिमत्ताका प्रभाव दिखला कर लोगोंको चकित कर दिया है। श्रीमत् शंकराचार्यने बारह वर्षकी ही अवस्थामें उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचा है। ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, अत एव इसे पूर्व-जन्मका संस्कार ही कहना चाहिए। होमर, प्लेटो, शेक्सपियर इत्यादि लोकोत्तर पुरुषोंने बाल्यावस्थामें जो अलौकिक बुद्धिमत्ता प्रगट की उसका सम्बन्ध उनके पूर्वजोंमेंसे किसीमें भी नहीं लगाया जा सकता। अत एव यही कहना पड़ता है कि उनकी बुद्धिमत्ताके कारणका समाधानकारक उत्तर पुनर्जन्म तत्त्व ही है। कहते हैं कि वाल्मीकिने तुलसीदासका अवतार लिया, उद्धवने नामदेवका अवतार लिया और शुकने कबीर-का अवतार लिया। वे जन्मसे ही भगवद्भक्त बनें और जगत्को चकित कर डालनेवाले प्रासादिक ग्रन्थ उन्होंने लिखे। यह सब पूर्वजन्मार्जित कर्मका फल है, यह बात वेदान्त शास्त्रने सिद्ध की है।

अखिल जगत्के दृश्य पदार्थोंमें जो विचित्र प्रकार, भेद और विषमता दृष्टि पड़ती है इस पर वेदान्त-शास्त्रका निश्चित मत यही है कि मनुष्य जब मृत होता है तब उसका जीवात्मा संकोच पाता है और पूर्व देह

छोड़ कर अन्य किसी जीवके बीज-रूपसे बाहर निकलता है। एक मनुष्य साधु रहता है और दूसरा हत्यारा बनता है, इसका मुख्य कारण उन दोनों व्यक्तियोंके पूर्वजन्मके कर्म ही हैं। लिंग-देहमें जो गुण-धर्म संचित हो कर रहते हैं वही आगे चल कर मनुष्यके स्वभावमें दृष्टि पड़ते हैं। कई लोगोंमें बिलकुल बचपन हीसे अलौकिक बुद्धिमत्ता और शक्ति देखी जाती है। ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका समर्पक और तर्कशास्त्र-के लिए समाधानकारक विवरण पुनर्जन्म-मतका स्वीकार करने ही पर हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इसके सिवा वेदान्ती लोग पुनर्जन्मका प्रतिपादन इस रीतिसे भी करते हैं कि जगत्में जितनी घटनाएँ और जितनी क्रियाएँ होती हैं उनमें-से कोई भी निष्फल नहीं होती। उनका कोई-न-कोई परिणाम अवश्य होता ही है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान-वेत्ताओंका जिस प्रकार यह मत है कि प्रत्येक वस्तु बहुत होगा तो टूट जायगी या फूट जायगी; परन्तु समूल नाश उसका कदापि नहीं होगा, यही वेदान्त-शास्त्रका भी मत है। वेदान्त-शास्त्रमें स्पष्ट कहा है कि अभावका कदापि भाव नहीं हो सकता और भावका अभाव नहीं हो सकता। अर्थात् जो वस्तु पहले कभी अस्तित्वमें नहीं थी उसका अस्तित्वमें आना भी असम्भव है; और इसके विरुद्ध जो वस्तु किसी-न-किसी रूपसे अस्तित्वमें होगी वह वस्तु कभी बिलकुल नष्ट भी नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें बहुत ही विचारणीय है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

इस गीताशास्त्रका भी भावार्थ वही है जो ऊपर हम लिख चुके हैं। यह सृष्टि-धर्म ही है। इस दृष्टिसे देखने पर जान पड़ता है कि आज हमारे मनमें जो संकल्प उठे और मन पर जो संस्कार हुए उनका समूल नाश कभी नहीं हो सकता। किन्तु वे संस्कार और संकल्प हमारे

साथ किसी-न-किसी स्वरूपसे सदा रहें होंगे । आत्मा एक शरीर छोड़ कर दूसरेमें प्रविष्ट हो जाता है तथापि जिन जिन घटकावयवोंसे यह शरीर बना है वे वे घटकावयव संस्कार और संकल्प अव्यक्त-रूपसे लिंगदेहमें जैसेके तैसे रहने ही चाहिए । सृष्टिके नियमानुसार उनका समूल नाश होना असम्भव है । पदार्थ-विज्ञानका एक ऐसा भी सिद्धान्त है कि जो जो वस्तु अव्यक्त अथवा भविष्यमें प्रकट होनेवाली अवस्थामें रहती है वह कभी-न-कभी तो स्पष्ट-रूपसे व्यक्त होनी ही चाहिए । उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचनसे यह निश्चत होता है कि कभी-न-कभी ये शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर अवश्य धारण करने पड़ेंगे । श्रीमद्भगवद्गीताके—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

इस वचनका अर्थ भी यही है कि जितने प्राणियोंने जन्म लिया है वे निश्चय करके मरें होंगे और जो जो मरेंगे वे वे फिर जन्म धारण करेंगे । इस जन्म-मरणकी परम्परासे जीव-मात्रको जाना ही चाहिए । सिर्फ ज्ञानी जन्मातीत होते हैं ।

पुनर्जन्मके मत पर एक यह आक्षेप भी किया जाता है कि यदि यह कहा जाय कि हमें पहले अनेक जन्म मिल चुके हैं तो फिर उनमेंसे किसी जन्मकी याद क्यों नहीं रहती ? जब वह याद ही नहीं रहती तब पुनर्जन्म क्यों कर सम्भव हो सकता है ? यह आक्षेप इतना प्रबल है कि बहुतसे लोग सिर्फ इसीके कारण पुनर्जन्मके मतको अस्वीकार करते हैं । ये लोग यह विचार नहीं करते कि वर्तमान जन्मकी कुमारावस्था या पौगंड दशामें जो अनेक बातें होती हैं उन्हींमेंसे कितनी बातोंका स्मरण हमें रहता है ? इसी जन्मकी एक अवस्थाकी बातोंका स्मरण जब दूसरी अवस्थामें नहीं रहता तब फिर पुनर्जन्मका स्मरण कैसे रह सकता है ? किसीको यदि अपनी बाल्यावस्थामें की हुई लीलाका स्मरण न रहे तो इससे वह यह थोड़े ही कह सकता है कि मेरी बाल्यावस्था हुई ही नहीं ?

ऐसा वह कदापि नहीं कह सकता। इसी प्रकार यदि किसीसे पूछा जाय कि सन् १८८५ के मई महीनेकी चौबीसवीं तारीखको दो पहरके समय तुम क्या करते थे? और इसका उत्तर यदि वह न दे सके तो इससे क्या यह कहा जा सकता है कि उस तारीखको वह बिलकुल था ही नहीं? नहीं। उसे याद नहीं है, तथापि वह उस तारीखको था अवश्य। इस जन्मकी बातोंका स्मरण जो हमें नहीं रहता उसका कारण यही है कि हमारी धारणा-शक्ति दुर्बल और अपूर्ण है। हमारे मनमें बालपनसे अब तक जितने संकल्प और विचार आ चुके और स्पप्नमें जो जो कुछ हमने देख डाला उस सबकी यदि हम याद कर सकते हैं तो फिर पूर्व-जन्मकी बातोंका भी हमें यथार्थ स्मरण हो सकता है। परन्तु योगाभ्यासके बिना इस प्रकारका ज्ञान असम्भव है। यह बात सब दर्शनोंको अभिमत है। न्यायशास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा है कि "योगाभ्यासके द्वारा एक ऐसी विचित्र शक्ति योगीमें उत्पन्न होती है कि जिससे सारी पृथ्वीके पदार्थोंका ज्ञान उसे सदैव होते रहता है।" स्मरणकी जो बातें साधारण लोगोंको असम्भव मालूम होती हैं वे सब योग-बलसे सुलभ हो जाती हैं। कुछ सिद्ध पुरुष ऐसे पाये जाते हैं कि उन्हें अपने पूर्वके सब जन्मोंकी याद तो रहती है; किन्तु इसके सिवाय वे अन्य लोगोंके पूर्वजन्मोंकी बातें भी तत्काल बतला देते हैं। इस सबका कारण 'धारण' नामक अप्रतिम शक्ति है। इस शक्तिकी वृद्धि करनेका उपाय योगीको अच्छी तरह मालूम रहता है। और इसीके द्वारा उन्हें पूर्व जन्मकी बातोंका ज्ञान होता है। नारायणोपनिषद्में—

नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्तु।

इत्यादि जो मंत्र है उसका भाष्य पढ़नेसे यह सबको मालूम हो सकता है। आर्य लोगोंमें इस मंत्रकी बड़ी योग्यता मानी गई है। बहुतसे प्राचीन विद्वानोंने इस मंत्रके पुरश्चरण किये हैं। अधिक क्यों? योगी-

जन तो यहाँ तक कहते हैं कि काल और दिक् ये द्रव्य अपरिच्छिन्न और अनन्त हैं, तथा हम और हमारा मन अवश्य ही मर्यादित और परिच्छिन्न है । इस मर्यादाका उलंघन करनेकी यदि इच्छा हो तो योगाभ्यास करना चाहिए । इससे हमारा चित्त परिच्छेदातीत हो सकता है और वर्तमान कालकी वस्तुएँ जिस प्रकार स्पष्ट देख पड़ती हैं उसी प्रकार भूत-भविष्यतकी वस्तुओंका भी ज्ञान हो सकता है । यह प्रसिद्ध ही है कि गौतमबुद्धको पूर्वजन्मोंकी स्मृति थी । अत एव जिन्हें इस बातकी जिज्ञासा हो उन्हें बड़े उत्साह और धैर्यबलसे योगाभ्यास करना चाहिए, इससे पूर्व घटनाओंका उन्हें अवश्य ही स्मरण होगा ।

पूर्वजन्मकी बातें मालूम करनेमें समय और मानसिक शक्तिका व्यय न करते हुए भावी बातोंमें उत्तमता लाने और अपनी भावी अवस्था सुधारनेमें यदि उनका उपयोग किया जाय तो अधिक फ़ायदा होगा । क्योंकि पूर्व स्थितिका स्मरण होनेसे कदाचित् वर्तमान कालका भी दुरुपयोग होना सम्भव है; वह उद्विग्नता और दुःखका भी कारण हो सकता है और विपन्न स्थिति भी उससे प्राप्त हो सकती है । इस दृष्टिसे तो यह ईश्वरकी कृपा ही समझना चाहिए जो हमें पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण नहीं होता । पूर्वजन्मकी बातोंका निश्चय करनेमें अपना अमूल्य समय खराब न करना चाहिए; किन्तु अगली उन्नतिकी ओर दृष्टि रख कर उसी मार्गका स्वीकार करना चाहिए कि जिसके द्वारा आत्मोन्नति हो और जीवन्मुक्त स्थितिके उच्च पद तक हम पहुँच सकें । सम्पूर्ण जगत्का नियन्ता जो परमेश्वर है उसका ज्ञान होने पर—उससे हमारा सारूप्य होने पर—ऐसी कोई भी बात नहीं रह सकती जो हमसे गुप्त रह सके । सच्चिदानन्दका स्वरूप जहाँ हमारे हृदयमें प्रकट हो गया कि बस फिर काल और दिक्का प्रतिबन्ध रह ही नहीं सकता; और भूत तथा भविष्यत् वर्तमानसे संलग्न हो जायँगे ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥

—भगवद्गीता ।

अर्थात् हे अर्जुन, मेरे आज तक बहुत जन्म हो चुके तथा तुम्हारे भी हो चुके । अपने जन्मोंका ज्ञान मुझे है, पर तुम्हें तुम्हारे जन्मोंका अवश्य ही कुछ ज्ञान नहीं है । यह जो कृष्णने अर्जुनसे कहा है उसका अनुभव तभी होगा ।

चौथा प्रकरण।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

एत ँ ह वाव न तपति। किमह ँ साधु नाकरवम्।
किमहं पापमकरवमिति।
—तैत्तिरीयारण्यक।

यह चराचर सृष्टि परमेश्वरने अपने स्वरूपसे निर्माण की और वह सर्वात्म-स्वरूपसे प्रत्येक उपाधिमें विराजमान हुआ है। परमेश्वरने अनन्त नाम और अनन्त रूप धारण किये हैं; तथापि अपने स्वरूपकी, गुणोंकी, शक्तिकी और ऐश्वर्यकी अति सूक्ष्म जो प्रतिमा उसने उत्पन्न की है उस प्रतिमाकी 'मनुष्य'—संज्ञा है। मनुष्यमें जगत्के पंच महाभूतोंके स्वरूप सूक्ष्मताके साथ एकत्र हुए हैं। यही नहीं, बल्कि अन्य सब प्राणियोंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि मनुष्यमें विचित्र विचार-शक्ति होती है और वह स्वतंत्र इच्छा-शक्तिसे—अर्थात् जिसे अँगरेजीमें Free will कहते हैं—युक्त है। इस गुणके अतिरिक्त परमेश्वरने मनुष्यकी उन्नति या अवनतिकी सब प्रकारकी जबाबदारी Responsibility उसी पर रक्खी है। अन्य प्राणियोंकी ही तरह मनुष्यको भी ईश्वरने बुद्धि दी है; तथापि उसने मनुष्य-बुद्धिमें जो सारासार विचार-शक्ति रक्खी है उसका अन्य प्राणियोंमें अभाव है, अत एव अन्य प्राणियों पर उनकी उन्नति अथवा अवनतिकी जबाबदारी नहीं आती। अन्य प्राणी केवल देहधारी हैं और उन्हें जीवन-परिचर्याके लिए आवश्यक व्यवहार करने भरका ही ज्ञान रहता है। आहार, भय, निद्रा, मैथुन और प्रबलके द्वारा निर्बलका खाया जाना—बस इतने हीसे उनका इति कर्तव्य समाप्त हो जाता है। इससे अधिक जगत्के अन्य व्यापार वे कोई नहीं करते। व्याघ्र, सिंह आदि श्वापद जन्तुओंको क्या कभी किसीने चौमासेका

भोजन-सामान एकत्र करते देखा है ? नहीं। वे जो कुछ करते हैं उसका उपयोग दिनचर्याकी तैयारीके आगे नहीं जाता। इसका कारण यही है कि मनुष्येतर सब योनियाँ सिर्फ भोग-योनियाँ हैं। कर्तव्य-योनि सिर्फ मनुष्य प्राणीकी है। हमारे द्वारा यदि अच्छे कर्म होते हैं तो उनके भोगार्थ दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं और यदि अति नीच कर्म होते हैं तो उनके उपभोगार्थ मनुष्येतर देह प्राप्त होती है। मनुष्य-योनिमें सारी कर्तव्यता और शक्ति है, इसी कारण मनुष्य-जन्म सर्व-श्रेष्ठ माना गया है। परमेश्वरने मनुष्यको विचार-शक्तिके द्वारा पूर्ण समर्थ कर दिया है; और इसी शक्तिके बलसे वह परमात्मामें लीन होकर जन्म-मरण-रहित होता है। वास्तवमें देखिए तो जीवनके लिए (जीवात्माके लिए) जन्म-मरण नहीं है। तथापि अज्ञानके कारण वह जन्म-मरणको अपने ऊपर लाद लेता है। वही अज्ञान जब दूर हो जाता है तब उसे फिर स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य अपने कर्मानुसार भोग भोगनेके लिए भिन्न देह धारण करता है और उसीसे संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणके विचार निष्पन्न होते हैं। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीने श्रुतियोंके अनुसार क्रियमाण, संचित और प्रारब्धकी व्याख्या इस प्रकार की है:—(१) वर्तमान कालमें जीवके हाथसे जो कर्म होता है और जिसका फल आगे क्रमानुसार आनेवाला है—ऐसा जो कर्म हो रहा है उसे क्रियमाण-कर्म कहते हैं, (२) यह क्रियमाण-कर्म जिस पिछले कर्म-भांडारमें जाकर जमा होनेवाला है उस कोशको संचित-कर्म कहना चाहिए और (३) जन्मसे मरने तक संचित-कर्मके कोशसे शरीरके साथ नित्य भोगार्थ जो कर्म आता है उसे प्रारब्ध-कर्म कहना चाहिए।

आर्य-तत्त्वज्ञानके अनुसार आत्मज्ञान होनेके बाद अर्थात् मैं देहसे अलग हूँ—यह पूरे तौरसे मालूम हो जाने पर और उसके अनुसार

आचरण होने पर संचित और क्रियमाणका नाश होता है। यह दोनों-की व्यवस्था हुई। परन्तु इस प्रकारका ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध-कर्म मनुष्यको कदापि नहीं छोड़ता। इतना विचार होने पर दो वाद उत्पन्न होते हैं:—(१) प्रारब्ध-वाद, (२) प्रयत्न-वाद। इन दोनों वादोंका प्रत्येकके जीवन-चरित्रसे बड़ा घना सम्बन्ध है। इन दोनों वादोंका सच्चा तत्त्व न समझनेके कारण आर्य लोगोंके आचार-विचारोंके विषयमें पाश्चात्य पंडितों और आधुनिक विद्वानोंके औरके और ही मत हो गये हैं। उनके इस भ्रमकी यहाँ तक नौबत पहुँच गई है कि वे एक तरफसे यह आरोप करते हैं कि जितने आर्य हैं सब प्रारब्ध-वादी (Fatalist) हैं। प्रारब्ध-वादीकी संज्ञा निन्दा-व्यञ्जक है और हमें प्रारब्ध-वादी कहनेके लिए श्रुति और आर्य-तत्त्वज्ञानमें कोई भी आधार नहीं है। इसके विरुद्ध योगवासिष्ठमें तो प्रयत्न हीको प्रधानता दी गई है।

इस वादके विषयमें योगवासिष्ठ ग्रन्थकी विचार-श्रेणी ऐसी है कि पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मका फल यदि इस जन्ममें मिलना ही है और वह हमारा कर्म यदि सर्वोत्कृष्ट है तो जीवन्मुक्ति आप-ही-आप प्राप्त होगी। उसके लिए प्रयत्न क्यों करना चाहिए? इस शंकाका समाधान यह है कि पूर्व कर्मानुसार यदि हमें फल प्राप्त होता है तो कृषि, वाणिज्य आदि जो प्रयत्नके मार्ग हैं वे निष्फल होने लगेंगे और कोई प्रयत्न ही न करेगा। वास्तविक दशा ऐसी है कि जिसे हम कर्म कहते हैं उसका रूप अदृष्ट रहता है। दृष्ट साधनकी सम्पत्तिके बिना यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कर्मका फल अमुक ही मिलेगा। अत एव कृषि-वाणिज्यकी तरह जीवन्मुक्तिके लिए भी प्रयत्न करना ही चाहिए। कृषि-कर्ममें प्रयत्न करने पर भी (अनावृष्टि इत्यादिके कारण) जब फल नहीं देख पड़ता तब ऐसा समझना चाहिए कि कृषिका फल उत्पन्न होने योग्य जो हमारा कर्म है उसमें विघ्न डालनेके लिए उससे भी प्रबल कोई दूसरा

कर्म अर्थात् घूस लगना अथवा टिड्डीदलका आना, आ गया है। कर्म-फलमें इस प्रकारका प्रतिबन्ध उपस्थित होने पर आर्यशास्त्रमें कहा है कि कारीरीष्ट्यादि क्रिया करके उस प्रतिबन्धको दूर करना चाहिए। यह बात कृषि-वाणिज्यके विषयमें हुई। इसी प्रकार जीवन्मुक्तिके मार्गमें भी यदि प्रारब्ध-कर्म विघ्न डालने लगे तो योगाभ्यास-रूप पुरुष-प्रयत्न करके उसका प्रतिबन्ध करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारब्ध-कर्म भोग किये बिना नहीं मिटता; परन्तु योगाभ्यास प्रारब्ध-कर्मसे भी प्रबल कहा है। यहाँ तक कि योगके द्वारा प्रारब्ध-कर्म नाश तक किया जा सकता है। प्रारब्ध-भोग मिटानेके लिए शास्त्रोंमें क्रिया बतलाई गई है।

आर्यशास्त्रोंने ऐसा दैव-वाद कहीं नहीं कहा कि भाग्यके भरोसे हाथ-पर-हाथ रक्खे बैठे रहो। यदि कोई यह कहेगा कि शास्त्रोंने जो प्रयत्न निर्दिष्ट किये हैं वे व्यर्थ हैं, तो वैद्यक शास्त्रकी चिकित्सासे लेकर वेदान्त-शास्त्रके मोक्षोपयोगी योगाभ्यास तक सबमें आनर्थक्य आ जायगा। कर्म करते हुए बीचमें जो प्रतिबन्ध होता है उतने हीसे कर्म कोई छोड़ता नहीं और छोड़ना भी न चाहिए। लड़ाईमें किसी जगह पराजय होनेसे सेनापति अपने बाकी अश्वारोही, पैदल और तोपखाना इत्यादि लौटाल नहीं ले जाता। आनन्दबोधाचार्य कहते हैं कि अजीर्ण होनेकी शंकासे कोई आहारका परित्याग नहीं करता। इस डरसे कि भिक्षुक आकर तंग करेंगे, कोई भी स्थाली नहीं छोड़ता और 'जूँ'के भयसे कोई वस्त्रका त्याग नहीं करता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रयत्नकी प्रबलता प्रकट होती है। महामुनि वसिष्ठने श्रीरामचन्द्रको जो सदुपदेश दिया वह इस स्थलमें विचारणीय है। उन्होंने कहा कि हे रघुनन्दन, इस संसारमें सब प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे चाहे जो सिद्ध हो सकता है। अपने अनुकूल कुल-स्त्री देख कर उससे विवाह करना चाहिए और यदि मालूम हो कि नियमित अवधिमें उससे पुत्र नहीं हुआ और प्रजातन्तुका व्यवच्छेद होता है तो स्त्री-पुरुष-

के दोषोंका विचार करके उनके निवारणके लिए शारीरककी ओषधि-क्रिया करनी चाहिए । इससे भी यदि पुत्रोत्पत्ति न हो तो पुत्रकाम्येष्टि यज्ञ करना चाहिए । इसी प्रकार यदि द्रव्यार्जन करना हो तो कृषि, वाणिज्य आदि उद्योग करना चाहिए । और यदि स्वर्ग-प्राप्तिकी इच्छा हो तो ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए । ब्रह्मलोककी प्राप्ति करना हो तो ब्रह्मोपासना करनी चाहिए । इस प्रकार बालपनसे अनेक शास्त्रोंका अध्ययन और सत्समागम करके बड़े साहससे चाहे जिस तरह प्रयत्न करके इच्छित अर्थ सिद्ध कर लेना चाहिए । इस उपदेशमें वसिष्ठजीने प्रयत्न-वाद सिद्ध किया है । इस पर श्रीरामचन्द्रने यह आशंका की कि आप यह ठीक कहते हैं कि पुरुषार्थ करना चाहिए; परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंका जो वासना-रूप अवशिष्ट रहता है उसके अनुसार जब मैं कर्म करता हूँ तब वासना-बद्ध होनेके कारण मेरे हाथसे आपके कथनानुसार पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? इस शंकाका समाधान वसिष्ठजीने इस प्रकार किया है:—हे रघुनन्दन, तुम वासनाके अधीन हुए हो; इसी लिए वासना-पारतंत्र्यका निवारण करनेके लिए पुरुष-प्रयत्न करना चाहिए । तभी वासना जालसे छूटोगे । ये वासनाएँ शुभ और अशुभ दो प्रकार की हैं । यदि तुम शुभ वासनाओंसे प्रेरित हुए होगे तो समझो कि इच्छित कार्य हो ही गया । परन्तु यदि अशुभ वासनाएँ प्रबल होकर तुम्हें संकटमें डालनेके लिए प्रवृत्त होती होंगी तो अशुभ वासनाओंको दूर करनेवाले जो कर्म शास्त्रमें कहे हैं उन्हें बड़े उत्साहसे करके उन वासनाओंको जीत लो । अशुभ वासनाओंको शुभ मार्ग पर लानेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । पूर्व कर्मोंकी प्रबलता हमारे ऊपर भले ही बनी रहे तथापि परमेश्वरने हमें जो सारासार विचार-शक्ति दी है उसका उपयोग हमें अवश्य करना चाहिए । सिर्फ यही कह देनेसे कि मैं पूर्व-कर्मसे बद्ध हूँ, क्या करूँ, मनुष्य अपनी जवाबदारीसे नहीं

छूट जाता। जब असद्वासनाएँ आकर हमें घेरे तब साधु-चरणोंकी ओर दौड़ना चाहिए और वेदान्त-शास्त्र जो सबसे मुख्य है, उसका रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। छोटा लड़का यदि मिट्टी खा लेता है तो उसे फल दिखला कर जैसे उसका मन मिट्टी खानेसे परावृत्त किया जाता है उसी प्रकार चित्तको दुस्समागमसे छुड़ा कर सत्समागम और सच्छास्त्र-विचारकी ओर लाना चाहिए।

इससे जान पड़ता है कि वसिष्ठ आदि आचार्योंने प्रारब्ध-वादियोंकी अपेक्षा प्रयत्न-वादियोंको ही श्रेष्ठता दी है। एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि प्रयत्न-वाद और प्रारब्ध-वादकी क्रियाकी घटना कुल एक ही होती है अर्थात् प्रारब्ध-वादीको भी प्रयत्नकी प्रबलता स्वीकार करनी पड़ती है। उसमें भेद इतना ही है कि कर्मोंके रूप अदृष्ट रहते हैं; इस लिए जो फल मिलता है वह किस कर्मसे मिला, यह स्पष्ट नहीं बतलाया जा सकता। किसीको कर्मका फल इस जन्ममें बिना किसी प्रयत्नके ही प्राप्त होता है और किसीको बहुत परिश्रम करने पर वही फल मिलता है—ऐसा क्यों होता है? इसका विचार करने पर मालूम होता है कि जिसे अचानक फल मिल जाता है उसका उस विषयका प्रयत्न पूर्वजन्मका ही तैयार रहता है और जिसको वही फल दीर्घ प्रयत्न करके प्राप्त करना पड़ता है उसके पूर्वकर्मकी कमाई नहीं रहती। कर्म और फलका स्पष्ट सम्बन्ध न जान पड़नेके कारण ही प्रारब्ध-कर्मको अदृष्टकी संज्ञा मिली है। छत्रपति शिवाजी महाराजको स्वराज्य प्राप्त करनेमें पराकाष्ठाके प्रयत्न करने पड़े और श्रीमान् सयाजीराव महाराज गायकवाड़ दत्तक लिये गये और उन्हें अनायास ही राज्य मिल गया। अब यहाँ यह समझना चाहिए कि गायकवाड़ महाराजको राज्य-पद-रूप फलकी प्राप्ति संचित-कर्मके कारण ही हुई और शिवाजी महाराजको दीर्घ प्रयत्न करने पर हुई। दोनोंमें प्रयत्नका महत्त्व बराबर ही

चमक रहा है। उसमें अन्तर केवल इतना ही है कि एकका प्रयत्न अदृष्ट है और दूसरेका दृष्ट है।

दृष्ट और अदृष्ट प्रयत्नोंके विषयमें अलंकार-शास्त्रमें भी उपर्युक्त मत ही ग्राह्य किया गया है। कुछ ग्रन्थोंके आरम्भमें मंगलाचरण करने पर भी उनकी योग्य परिसमाप्ति नहीं हुई और कुछ ग्रन्थ मंगलाचरण किये बिना ही निर्विघ्नतासे पूर्ण हो गये हैं। इसके लिए क्रमशः 'कादम्बरी' और 'किरणावलि' उदाहरणके तौर पर मौजूद हैं। ऐसे स्थलमें यही सिद्धान्त ठहरता है कि यद्यपि कादम्बरी ग्रन्थके आरम्भमें मंगलाचरण किया गया था तथापि पूर्व विघ्न-बाहुल्यके कारण वह पूर्ण नहीं हो सका और 'किरणावलि' में पूर्व-कृत कर्म मंगल हो गया, इस लिए उसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति हो गई। अस्तु।

प्रारब्ध अथवा प्रयत्नसे चाहे इच्छित फल प्राप्त हो जाय तथापि उसके उपभोगके लिए भी प्रयत्न अवश्य करना ही पड़ता है। शिवाजी महाराज अथवा गायकवाड़ महाराजको राज्य-पद प्राप्त हो गया तथापि उनके प्रयत्नोंकी मर्यादा नहीं समाप्त हुई। आगे राज्य-सुखका उपभोग करनेके लिए नीतिसे प्रजा-पालन करने और शत्रु-दमन करनेका प्रयत्न बराबर जारी रखना दोनोंके लिए आवश्यक है। यह प्रयत्न यदि न किया जाय तो प्राप्त फल अनुपभुक्त रहेगा और अन्तमें नष्ट भी हो जायगा। इससे यह सिद्ध होता है कि अदृष्टानुरूप जो फल जीवको प्राप्त होता है उस फलके उपभोगार्थ फिर उर्वरित कर्म अथवा प्रयत्न करना ही पड़ता है।

प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

अर्थात् प्रारब्ध-कर्म-फलका क्षय भोगके बिना नहीं होता, यह श्रुतियों-का सिद्धान्त है। उस फलके उपभोगार्थ जो प्रयत्न अथवा क्रिया करनी पड़ती है वह क्रिया सिद्ध-फलका उपभोग तो कराती ही है, किन्तु अनेक

नवीन कर्म और फल उत्पन्न करती रहती है। इस कारण पूर्वभोग समाप्त नहीं होने पाते और उनमें नवीन नवीन भोगोंकी अधिकता होती जाती है, इससे जीव और भी फँसता जाता है, अत एव परिभ्रमणमें पड़ जानेके कारण उसका छुटकारा नहीं होता। इसी प्रकार कर्म और फल-भोगके चक्रमें बराबर उलझा-उलझी होती रहती है।

उद्दिष्ट कर्म-फल भोगमें कितनी उलझनें खड़ी हो जायँगी, इसका कोई पता भी नहीं चलता। उद्दिष्ट फल प्राप्त करनेके लिए दृष्ट-कर्म अथवा प्रयत्न होते समय अन्तर्गत कौनसे अदृष्ट-कर्म घटित होंगे, उनके कौनसे अदृष्ट फल तैयार होंगे और वे कब और कैसे भोगने पड़ेंगे, यह यथार्थ समझना अत्यन्त दुर्घट है। और इसीसे यह सिद्धान्त हुआ है कि—

कर्मणो गहना गतिः

कर्मकी गति दुर्विज्ञेय और अनिवार्य है। हम जिसे प्रारब्ध-कर्म कहते हैं उसके पंचदशीमें तीन भेद बतलाये गये हैं। (१) इच्छा-प्रारब्ध; (२) अनिच्छा-प्रारब्ध, (३) और परेच्छा-प्रारब्ध। इनमेंसे इच्छा-प्रारब्धके स्पष्ट उदाहरण अपथ्य-सेवी, चोर, राजदारा-रत इत्यादि प्रकारके पुरुष हैं। यद्यपि उन्हें यह मालूम है कि इन कर्मोंके करनेसे अनर्थ होंगे तथापि पूर्वकर्मके बल पर वे वही कर्म करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं। यह असत्कर्म-प्रवृत्ति ईश्वरके द्वारा भी टलना असम्भव है। क्योंकि भगवद्गीतामें कहा है कि—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

अर्थात् पुरुष चाहे विवेक-ज्ञान सम्पन्न हो तथापि पूर्वजन्ममें किये हुए धर्माधर्मका जो संस्कार वर्तमान कालमें दिखाई देता है उसके अनु-

सार ही वह कर्म करेगा। जिसे देखिए वही अपने स्वभाव पर जाता है। ऐसी दशामें निग्रह करनेसे क्या लाभ हो सकता है?

अवश्यं भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः॥

—पंचदशी।

जो बातें अवश्य होनेवाली हैं उनका प्रतीकार यदि निग्रहसे होना सम्भव होता तो राजा नल, रामचन्द्र, युधिष्ठिर आदि महात्मा संकटमें कभी न पड़े होते।

भगवद्गीतामें अनिच्छा-प्रारब्ध सम्बन्धी जो श्रीकृष्णार्जुनका सम्वाद है, वह इस प्रकार है:—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण, जैसे किसीकी इच्छा न होते हुए उसे पकड़ कर पाप-कर्ममें लगाया जाय तो इस रीतिसे वह पुरुष जो पाप-कर्म करता है उसे उस पापके करनेमें प्रवृत्त करनेवाला कौन है? इस पर श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

अर्थात् मनुष्यमें जो रजोगुण होता है वह अत्यन्त प्रबल होने पर काम-विकार उत्पन्न करके पाप-कर्मके विषयमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है और उसकी प्रवृत्तिमें विघ्न आने पर वही क्रोधका स्वरूप धारण करके मनुष्यको घात करनेमें प्रवृत्त करता है। काम सर्व-भक्षक है; यहाँ तक कि किसी विषयसे भी उसकी तृप्ति नहीं होती। सब पापोंका आदि बीज इस काम-वासना हीमें है। इस लिए तुम संसारमें काम और क्रोध-को अपना वैरी समझो।

तीसरा परेच्छा-प्रारब्ध है । अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा न होते हुए केवल अन्य जीवकी प्रसन्नताके लिए जो सुख-दुःखका अनुभव होता है वही इस प्रारब्धका फल है । उदाहरणार्थ हम किसीके नौकर बन गये; अब हमारी इच्छा चाहे हो या न हो, वह जो जो काम बतलावेगा हमें अवश्य करने पड़ेंगे और उन कर्मोंसे जो सुख-दुःख होगा उसका भोग हमें करना ही चाहिए ।

श्रीमत् विद्यारण्य-कृत पंचदशीके आधारसे उपर्युक्त प्रतिपादन किया गया है । उसमें यह भी कहा है कि इच्छा-प्रारब्धमें जो घटनाएँ होती हैं वे अवश्यंभावी होती हैं और इसी कारण ईश्वरके द्वारा भी उनका टलना सम्भव नहीं है । इसके सिवाय वसिष्ठ आदिके वचनोंसे यह सिद्ध किया गया है कि सब हेतु परिपूर्ण करनेमें प्रयत्न ही बलवत्तर है । अत एव इन दो सिद्धान्तोंमें जो विरोध देख पड़ता है वह दूर होना चाहिए । इसके लिए जब यह बात ध्यानमें आ जाती है कि अवश्य होनेवाली बातें कौनसी हैं और किस हेतुकी सिद्धि प्रयत्नोंसे हो सकती है तब विरोध नहीं रहता ।

(१) संचितमेंसे इस जन्ममें भोगनेके लिए जो कर्म-फल प्राप्त होता है उसमें कुछ बातें आधिदैविक, आधिभौतिक अथवा अध्यात्म कारणोंसे होनेवाली रहती हैं । जैसे लड़केके उत्पन्न होते ही उसकी माताका मृत होना, किसीका घर-द्वार एकाएक दग्ध हो जानेसे उसकी सारी सम्पत्तिका नाश होना अथवा किसीके शरीरमें कोई आघात लग जानेसे विकार होना इत्यादि प्रकारके प्रसंग अवश्यम्भावी हैं । वे मनुष्यको प्रारब्धानुसार भोगने ही चाहिए । और वे ईश्वरके द्वारा भी नहीं टाले जा सकते ।

(२) जिन फलोंके इष्ट साधन व्यवहारमें स्पष्ट दृष्टि पड़ते हैं उन कृषि, वाणिज्य आदि फलोंके लिए प्रयत्न करना चाहिए । घरमें धन-

धान्य आदिका संग्रह करना हो तो जमीनकी कमाई करना चाहिए और परदेशसे माल स्वदेशमें लाकर स्वदेशका माल परदेशमें ले जानेकी क्रिया भी करनी चाहिए।

(३) वासनाओंको अच्छे मार्ग पर लाना प्रत्येक पुरुषका काम है। इस विषयमें प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा ही करना चाहिए। सब कर्मों और फलोंकी जड़ हमारी वासनाएँ हैं। यद्यपि प्रत्येक कर्म करने पर उसका फल-भोग मिलता है तथापि कुछ अवशिष्ट संस्कार रह जाते हैं और आगे वासनाके रूप हो जाते हैं। अत एव वासनाओंको श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न करना सबका कर्तव्य है। कर्तव्य-योनि सिर्फ मनुष्य हीकी है और उसमें सारासार विचार-शक्ति भी है, इसी लिए दुष्ट वासनाओंका मनुष्य-प्राणी जवाबदार है। यदि दुर्वासना उत्पन्न हो तो उसके लिए यह उपाय कहा ही है कि साधु-चरणोंका शरण लेना चाहिए और सच्छास्त्र श्रवण करना चाहिए।

जो वासनाएँ काम, क्रोध आदि छः ऊर्मियोंके स्वरूपसे जन्मतः उत्पन्न होती हैं उन्हें लड़कपन हीसे उत्तम मार्ग पर लाना चाहिए। जीवोंके शरीर, इन्द्रिय, अवयव इत्यादि जन्मसे ही कोमल होते हैं। तथा उनके मनोधर्म भी उस समय कोमल ही होते हैं। और इन्द्रियाँ ज्यों ज्यों पुष्टि और वृद्धि पाती जाती हैं और उनमें विषय-ज्ञानकी अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों मनोविकार भी प्रबल होते जाते हैं। इस लिए काम-क्रोधादि षडूर्मियोंको बालपन हीसे योग्य मार्ग पर लाना माता, पिता, पालक और शिक्षक लोगोंका प्रधान कर्तव्य है। मनोविकारोंको उत्तम बनाना नैतिक शिक्षा (Moral Education) का मुख्य भाग है। मनुष्यका स्वभाव जो कहलाता है वह इन मनोविकारोंके समुदायका ही पर्याय-शब्द है अर्थात् षडूर्मियोंके स्वरूपसे मनुष्यका स्वभाव निश्चित किया जाता है। जब तक ये षडूर्मियाँ मनके

वशमें रहती हैं तब तक मनुष्यके दुखी रहनेकी सम्भावना रहती है। जब वे बुद्धिके अधीन होकर चलने लगती हैं तब मनुष्यको सुख होनेकी सम्भावना रहती है। इस जगह मन और बुद्धिके स्वरूप और कार्य ध्यानमें लाना आवश्यक है। मनकें स्वरूपमें चंचलता बहुत होती है और निश्चितार्थ अथवा विचार कम रहता है। बुद्धि विचारवान्, निश्चयी और गम्भीर स्वभावकी होती है। मन यह नहीं देखता कि किस कर्मका क्या परिणाम होगा। बुद्धिका ध्यान पहले परिणामकी ओर रहता है और फिर किसी कार्यकी ओर प्रवृत्ति होती है। इस लिए प्रत्येक पालकको यह सावधानी रखनी चाहिए कि बालकोंको बचपन हीसे काम, क्रोधादि विकारोंको बुद्धिके वशमें रखनेकी शिक्षा दी जाय। अब हम कुछ उदाहरणोंसे यह स्पष्ट करते हैं कि इन षडूर्मियोंको बुद्धिके अधीन करनेसे उत्तम मार्ग कैसे मिलता है। यदि किसी लड़केको दूसरे लड़के पर सन्तप्त होकर झिझियानेकी आदत हो तो उसे यह सिखाना चाहिए—" बेटा, ऐसा न करना चाहिए; वह तुम्हारा साथी है, उससे लड़ना अच्छा नहीं, उसके साथ अच्छी तरह खेलना चाहिए।" ऐसा कहना क्रोधको क्षमा और शान्तिके रूपमें लाना है। इसी प्रकार तिथि-त्योहारके दिन लड़कोंको वस्त्राभूषण पहनानेसे उनमें घमंड आता है और मद उत्पन्न होता है और वे अन्य लड़कोंको मत्सर दिलाने लगते हैं। ऐसे समयमें यह सिखाना चाहिए—" बेटा, ऐसा न कहना चाहिए; ये तुम्हारे काका हैं, पंढितजी हैं, गुरूजी हैं, इनके पैर छूना चाहिए और इनके पास अदबसे बैठना चाहिए। यह मदका लीनता और निर्दम्भतामें रूपान्तर करना है। इसी प्रकार काम-विकारका विचार और अनिच्छामें रूपान्तर करना चाहिए, लोभका कृपालुता और उदारतामें, मोहका वैराग्य और निस्पृहतामें और मत्सरका अहिंसा और सरलताके गुणोंमें रूपान्तर करनेका स्वभाव बालपन हीसे लड़कोंमें लाना चाहिए। इससे बहुत ही लाभ होता है। यह प्रयत्नका मार्ग मनुष्य मात्रके लिए आवश्यक है।

बहुतसे लोग समझते हैं कि सिर्फ व्यवहारके लिए आवश्यक प्रवृत्ति-मार्गके लिए प्रयत्नकी आवश्यकता है; परन्तु निवृत्ति-मार्गके लिए किसी बातकी आवश्यकता नहीं। अब हम इस मतकी सत्यासत्यताका विचार करते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने इन दोनों बालकों पर श्रुति-मात्रकी बराबर ही प्रीति है। बुद्धिके प्रवाहको पराक् अर्थात् बाहर दौड़ा कर विषय ग्रहण करने और अतृप्तिसे अधिकाधिक शक्ति बढ़ाने लगनेको **प्रवृत्ति-मार्ग** कहते हैं और उसी बुद्धिके प्रवाहका प्रत्यक्, अर्थात् पीछे लौट कर विषयोंका परित्याग करते करते भीतर आने लगना **निवृत्ति-मार्ग** है। सारांश मनका आगे दौड़ना **प्रवृत्ति** और पीछे लौटना **निवृत्ति** है। आगे दौड़नेवालेको अपनी जिज्ञासाके अनुसार इष्ट साध्य कैसे कर लेना चाहिए, इसके लिए श्रुतिकी—

अथाऽतो धर्मजिज्ञासा। —मीमांसासूत्र।

में प्रवृत्ति हुई; और दौड़ते दौड़ते जो ऊब जायँगे वे यदि लौटना चाहें तो वे विषय-त्याग कैसे कर सकते हैं और स्व-स्वरूप तक कैसे पहुँच सकते हैं, इसके लिए श्रुतिकी

अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा। —ब्रह्मसूत्र।

ऐसी प्रवृत्ति हुई। इसी दो प्रकारकी साधन-सम्पत्तिको प्रवृत्ति-मार्ग कहते हैं। अब हम यह देखते हैं कि योगवासिष्ठमें प्रवृत्त और निवृत्तके लक्षण क्या बतलाये गये हैं। प्रवृत्ति-मार्गका आश्रय करनेवाले पुरुष सकाम धर्मानुष्ठान करते हैं। वे कहते हैं कि जो अहेतुकतासे निवृत्ति-मार्गके कर्म करते हैं वे व्यर्थ श्रम उठाते हैं; क्योंकि वे कर्म करके व्यर्थ खो देते हैं और उन्हें विषय-सुखकी प्राप्ति बिलकुल ही नहीं होती। और जिस कर्ममें विषय-सुख नहीं उसके करनेसे लाभ ही क्या है? अत एव इह-पर-लोकमें विषय-सुख प्राप्त करनेके लिए ही नाना प्रकारके कर्मोंका आचरण करना चाहिए। यह दृढ़ निश्चय करके कि रम्भा आदि वनिता—

ओंके भोग प्राप्त करनेके साधनोंके सम्पादन करनेमें ही सच्चा पुरुषार्थ है, जो काम्य-कर्मोंका अनुष्ठान किया जाता है उसे प्रवृत्ति-मार्ग कह सकते हैं। जो निवृत्त-पुरुष होता है उसे संसारके दुःखोंका स्मरण होता रहता है और वह समझता रहता है कि संसार एक ऐसा अरण्य है जिसमें चारों ओर दावाग्नि धधक रही है। जैसे किसी मनुष्यके पीछेसे बाघ दौड़ा आता हो और आगे समुद्र फैला हुआ हो तो उस समय जैसी उस मनुष्यके मनकी दशा होती है वैसी ही दशा निवृत्त-पुरुषकी सदा बनी रहती है। गर्भवासकी असह्य यातना और उसके बाद प्राप्त होनेवाली बाल्यादि अवस्था और मृत्यु इत्यादिका स्मरण करके वह संसारको यम-यातना ही समझता रहता है। ऐसे संसारमें नाना प्रकारके पुण्यकर्म करनेसे चाहे उत्तम जन्म प्राप्त हो जायँ तथापि कर्मोंका फल भोगनेके बाद फिर भी दुःख बना ही है। उसमें कमी नहीं होती। इस-लिए यह समझ कर कि कर्मका फल केवल दुःख है, निवृत्त-पुरुष सदा आत्म-विचारमें निमग्न रहते हैं। उनकी विषय-सम्बन्धी प्रीति समूल नष्ट हुई होती है और वे साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न रहते हैं। वे सर्वदा इसी इच्छासे प्रेरित रहते हैं कि इस भव-सागरको किस उपायसे पार करके मुक्त हों। इस प्रकारके जो मुमुक्षु होते हैं उन्हें **निवृत्त-पुरुष** कहना चाहिए।

ऊपर बतलाये हुए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके लिए प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। प्रवृत्ति-मार्ग तो मानो प्रयत्न ही है और यह सबको मान्य है कि प्रत्येक जीवका झुकाव प्रवृत्तिकी ओर होता है। परन्तु साधारण तौर पर लोग यह समझते हैं कि निवृत्ति-मार्गमें प्रयत्नोंकी कोई आवश्य-कता नहीं। आधुनिक विद्वानोंका तो यह मत बहुधा देखनेमें आता है कि निवृत्ति-मार्गमें जो पुरुष लगते हैं वे निरुद्योगी और आलसी होते हैं तथा उनसे देशकी बड़ी हानि होती है। इसी भ्रमसे ये आधुनिक विद्वान् आर्य-तत्त्वज्ञान और आर्यधर्मको निरुपयोगी समझ कर उसकी निन्दा कर-

नेमें प्रवृत्त होते हैं। परन्तु वास्तवमें उनकी यह समझ बहुत ही हानि-कारक और झूठी है। प्रवृत्ति-मार्गमें जैसे प्रयत्न आवश्यक हैं वैसे ही अथवा उससे भी अधिक निवृत्ति-मार्गमें उनकी आवश्यकता है। अधिक प्रय-त्नोंकी आवश्यकता इस लिए है कि प्रवृत्ति-मार्गमें तो विषयोपभोग यथेच्छ होनेके कारण इन्द्रियोंका झुकाव स्वाभाविक ही उस ओर होता है; परन्तु निवृत्ति-मार्गमें इंन्द्रियोंको अन्तर्मुख करनेकी आवश्यकता होती है, इस लिए प्रयत्न भी अधिक दृढ़ता और साहससे करना पड़ता है। पहले साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होने हीमें कितने प्रयत्न करने पड़ते हैं; फिर योगाभ्यासमें तो प्रयत्नोंकी पराकाष्ठा ही करनी पड़ती है। इतना होने पर ज्ञानकी सात भूमिकाएँ प्राप्त कर लेनेकी योग्यता आती है। ये भूमिकाएँ प्राप्त होने पर जीवनन्मुक्ति आप-ही-आप जयमाल पहना देती है। जीवनन्मुक्तिकी सिद्धि मानो प्रयत्नोंका शिखर ही है। इससे सहज ही जान पड़ता है कि प्रवृत्ति-मार्गकी अपेक्षा निवृत्ति-मार्गमें ही अधिक प्रयत्न करना पड़ता है।

हम पहले कह आये हैं कि संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणमेंसे संचित और क्रियमाणका नाश आत्मज्ञान होनेके बाद होता है। अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं। आर्य-तत्त्वज्ञानमें अग्नि अथवा शस्त्रसे आत्मज्ञानकी तुलना की गई है। आत्मज्ञान-रूपी अग्नि कृत-कर्म और क्रियमाण-कर्मका दहन कर डालता है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् हे अर्जुन, अग्नि जिस भाँति प्रदीप्त होने पर होम-द्रव्योंको भस्म कर डालता है उसी भाँति ज्ञान-रूपी अग्नि सब कर्म नष्ट कर डालता है। इसी प्रकार आत्मज्ञान-रूपी खड्ग हमारे हृदयकी सब ग्रन्थियों और असम्भावनादि संशयोंका छेदन कर डालता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

—भगवद्गीता।

अर्थात्—इस लिए अविवेकसे उत्पन्न होनेवाले हृदयस्थ संशयको आत्म-विषयक निश्चय-बुद्धि-रूपी खड्गसे छेद कर निष्काम कर्म करनेमें प्रवृत्त हो। भगवद्गीतामें इस प्रकारके अनेक वचन हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर कृत-कर्मोंसे अथवा क्रियमाण-कर्मोंसे हमारा कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि सम्बन्ध बिलकुल ही नहीं रहता। क्योंकि आत्मज्ञानसे जीवको यह विश्वास हो जाता है कि जिन इन्द्रियोंके द्वारा कर्म होते हैं वे और उन्हें प्रवृत्त करनेवाला बुद्ध्यादि चतुष्टय कुछ 'मैं' नहीं है; किन्तु 'मैं' केवल साक्षीभूत है। यह साक्षीपनकी पहचान होनेके बाद जहाँ स्वरूपकी प्राप्ति हुई कि सब संचित-कर्म भस्म हो जाते हैं। सद्गुरु-प्रसादसे जब यह निश्चय हो जाता है कि वासना-रूप लिंगदेह कुछ मैं नहीं हूँ, तब पहले घटित हुए कर्म निराधार हो जाते हैं और उनका कर्तृत्व जीव पर नहीं आता। उसी प्रकार जब इस विषयका सच्चा ज्ञान हो जाता है कि 'मैं' भोक्ता नहीं है तब यह जान पड़ने लगता है कि क्रियमाण-कर्म भी मेरे नहीं हैं। कर्मोंका कर्तृत्व ही जब नहीं रहा तब फिर उनके फलोंका भोक्तृत्व ही हम पर क्यों कर आवेगा? इस प्रकार संचित और क्रियमाणका नाश होता है; परन्तु प्रारब्ध अवश्य ही जब तक देह है तब तक नहीं छूटता।

हम पहले यह बतला चुके हैं कि यह प्रारब्ध-कर्म भी योगाभ्याससे नष्ट हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि उस कर्मका भोग भोगने पर प्रारब्धका क्षय होता है। प्रारब्ध-कर्म-भोगके विषयमें आत्मज्ञानी और सर्व-साधारण लोगोंमें विलक्षण अन्तर है। व्यवहारमें जैसे यह हाल देखा जाता है कि एक आसामी साहूकारका कर्जा चुकाता जाता है और दूसरा अपना कर्ज बढ़ाता जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी अपने पूर्व कर्मोंके

फल भोग कर उनका क्षय करता जाता है और उसका प्रारब्ध क्षीण होते होते फिर उसे देहका और जगत्का भान कभी नहीं होता। परन्तु सर्व-साधारण लोग पूर्वकर्मोंका फल भोगते समय नवीन कर्म करके संचितकी वृद्धि करते जाते हैं और इसीसे उनके कर्मोंकी पूँजी कभी समाप्त ही नहीं होती। इससे भी विलक्षण एक चमत्कार आत्मज्ञानी पुरुषका यह है कि वह यह समझता है कि प्रारब्ध-कर्म देहके मत्थे आ जाता है। देह चाहे सुख-दुःख भोगते रहें, पर आत्मज्ञानीको उसका कुछ भी भान नहीं रहता। श्री समर्थ रामदास स्वामीके चरित्रमें इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण पाया जाता है। एक-बार जब कि समर्थ परलीके किले पर रहते थे तब शिष्योंने उन्हें खबर दी कि शिवाजी महाराज आपके दर्शनके लिए आये हैं। उस समय समर्थ जूड़ीके ज्वरसे पीड़ित थे। परन्तु शिवाजी महाराजके आनेका समाचार पाते ही उन्होंने अपने शरीरकी भगवी कंथा उतार कर अलग रख दी और नित्यके अनुसार महाराजका स्वागत करके वे उनसे बातचीत करने लगे। उन्होंने अपने शरीर पर जूड़ी बुखारके कोई चिह्न नहीं प्रकट होने दिये; परन्तु कुछ दूर पर रक्खी हुई कंथा कँपकँपीके मारे हिल रही थी। उसे जब शिवाजी महाराजने देखा तब उन्होंने पूछा कि यह क्या है? समर्थने कहा—अरे शिवबा, तेरे आनेके पहले मैं शीतज्वर-से ग्रस्त था; परन्तु तुझसे मिलनेके लिए वह ज्वर इस कंथामें ही रख कर मैं बैठा हूँ। इस पर शिवाजी महाराजने पुनः प्रश्न किया कि महाराज आप महान् योगी और त्रिकालज्ञानी हैं, फिर आपको शीतज्वरकी बाधा क्यों होनी चाहिए? समर्थने उत्तर दिया—अरे शिवबा, संचित और क्रियमाण चाहे आत्मज्ञानसे नष्ट कर दिये जायँ, पर प्रारब्ध-कर्म देहपात हुए बिना कदापि नहीं छूट सकते। इस आख्यायिकासे साधारण तौर पर इन तीनों कर्मोंके विशेष स्वरूप पाठकोंके ध्यानमें आ सकते हैं।

संचित, प्रारब्ध और क्रियामाणका विषय अत्यन्त कठिन है और यद्यपि प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी समझके अनुसार उस पर विचार करनेका प्रयत्न करता है तथापि अन्त तक उसका पूर्ण समाधान नहीं होता। यद्यपि ऐसी दशा है तथापि सर्वमान्य श्रुतिमें इस विषयकी समाधानकारक उपपत्ति है और भाष्यकारोंने उसका विवरण भी बहुत सुगम किया है। इस लिए हमने श्रुति और आचार्योंके वचनोंके आधारसे दो सिद्धांतोंका निरूपण किया। वे सिद्धान्त ये हैं:—(१) आत्मज्ञान होनेके बाद संचित और क्रियामाण-कर्मोंका नाश होता है, (२) प्रारब्ध-कर्म शरीर-पात होने तक देहको भोगने पड़ते हैं। इस पर यह आशंका होती है कि आत्मज्ञान जो बिलकुल अन्तकी सीढ़ी है उसके प्राप्त कर लेनेके बाद भी यदि देहको प्रारब्ध-भोग भोगने पड़ते हैं तो फिर उस आत्मज्ञानकी प्रतिष्ठा क्या रही? इस शंकाका उत्तर शंकराचार्य-कृत अपरोक्षानुभूतिमें इस प्रकार मिलता है:—

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते।
देहस्यापि प्रपंचत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः॥
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः।
आत्मानं सततं जानन् कालं नय महाद्युते॥
प्रारब्धमखिलं भुंजन् नोद्वेगं कर्तुमर्हसि॥

अर्थात् आत्मज्ञान होनेके बाद प्रारब्ध मानो कुछ बचता ही नहीं। देह प्रपंच है, अत एव प्रारब्ध फिर कहाँ रह सकता है? श्रुतियोंने जिसे प्रारब्ध कह कर वर्णन किया है वह केवल अज्ञानी लोगोंको समझानेके लिए है। आत्मानुभवमें ज्ञानी पुरुषको काल व्यतीत करना चाहिए; परन्तु प्रारब्ध-भोग भोगते समय मनको उद्विग्न न होने देना चाहिए।

आर्य-तत्त्वज्ञानमें विचित्रता यह है कि उसमें एक एक विषय पर अनेक ऋषियोंने अपने अपने मत प्रदर्शित किये हैं। अत एव साधारण लोग उस मत-भिन्नताके कारण भ्रममें पड़ते हैं और उन सब मतोंकी एक-

वाच्यता करना बहुत कठिन होता है। प्रस्तुत विषयकी भी यही दशा है। श्रीमत् सायणाचार्यने श्रुति, अनुभव और युक्ति इन तीनों प्रकारोंसे निरूपण करनेके लिए इस विषयके तीन भाग किये हैं। (१) आत्म-ज्ञान होनेके बाद यदि मनुष्यके हाथसे पाप हो गया तो उसका दोष उसे लगता है या नहीं? (२) आत्मज्ञान होनेके बाद किये हुए पुण्यकर्म-का फल क्या उस पुरुषको भोगना पड़ता है? (३) साक्षात्कार होनेके बाद प्रारब्ध-कर्म भोगना पड़ता है या नहीं? प्रथमतः सायणाचार्यने

> नायुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

इस सामान्य सिद्धान्तका विचार किया है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यके द्वारा जो कर्म होते हैं उनका क्षय भोगके बिना—चाहे करो-डों कल्प बीत जायँ—नहीं हो सकता। यह सर्व-शास्त्र-प्रसिद्ध सिद्धान्त आत्मज्ञानीके लिए बिलकुल ही नहीं लगता। क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर देह और इंद्रियोंसे जो पाप होता है उसका लेप उस पुरुषको नहीं होता। इसके लिए यह श्रुति-वचन प्रमाण है:—

> तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त
> एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते।

अर्थात् कमल पत्र पर पड़ा हुआ पानी जैसे उसमें नहीं लिप्त होता वैसे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुषको पापकर्मका लेप कभी नहीं होता। इस पापकर्मको क्रियमाण-कर्म समझना चाहिए। पूर्वजन्म अथवा इस जन्मका संचित जो पाप होता है उसका नाश आत्म-साक्षात्कार होने पर तत्काल हो जाता है। इस विषयमें यह श्रुति-वचन प्रमाण है:—

> तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं च प्रदूयेत
> एवं ह्यास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते।

अर्थात् जिस प्रकार वनस्पति-विशेषके फूलोंसे निकाला हुआ कपास अग्निमें डालनेसे भस्म हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुषके सब

पाप नष्ट हो जाते हैं। सारांश यह कि ब्रह्मवेत्ताको क्रियमाण पापका लेप नहीं होता और उसके संचित पापका नाश हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है। इस लिए इस बातका कर्तृत्व-भाव कि मैंने अमुक बात की, करता हूँ या आगे करूँगा, उसके तईं त्रिकालमें भी नहीं रहता।

कामोऽकार्षीत्कामः करोति । नाहं करोमि कामः कर्ता नाहं कर्ता ।
मन्युरकार्षीन्मन्युः करोति । नाहं करोमि मन्युः कर्ता नाहं कर्ता ।

—नारायणोपनिषद् ।

अर्थात् लिंगदेहाधिष्ठित कामादि मनोविकारोंकी प्रबलतासे कर्म होते हैं, मैं जो साक्षि-स्वरूप हूँ, उसके तईं उन कर्मोंका कर्तृत्व-भाव लगना सम्भव नहीं। व्यवहारमें भी हम लोग सदा यह बात देखते रहते हैं कि जो पुरुष जिस बातको नहीं करता उसका दोष उस पुरुष पर मूर्ख मनुष्य भी नहीं लाद सकता। अत एव जिस पुरुषमें अकर्तृत्व-भाव भरा हुआ है उसे पापकी बाधा कैसे लग सकती है? ऐसी दशामें यह वचन—

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

उसी पुरुषके लिए लग सकता है कि जिसे आत्मानुभव नहीं हुआ है। अगला ब्रह्मसूत्र भी इसका प्रमाण है।

तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।

इस सूत्रका अर्थ यह है कि ब्रह्म-प्राप्ति होनेके बाद उत्तर अर्थात् क्रियमाण पापका अश्लेष अर्थात् लेप नहीं होता और पूर्व अर्थात् संचित पापका नाश होता है; क्योंकि श्रुतिमें सर्वत्र इसका उल्लेख पाया जाता है। ये सब बातें ज्ञानोत्तर कालमें होनेवाली हैं।

पूर्वोक्त विवेचन पापकर्मोंके विषयमें हुआ। अब पुण्यका विचार करना चाहिए। ब्रह्मवेत्ताको पापका लेप भले ही न हो; परन्तु पुण्यका

लेप होनेमें क्या हर्ज है ? ब्रह्मज्ञान और पाप दोनोंका परस्पर-विरुद्ध धर्म है, अत एव उनकी स्थिति एक नहीं हो सकती। यह सच है, परन्तु आत्मज्ञान और पुण्य दोनों सजातीय हैं; अत एव इनके एकत्र होनेमें कोई आपत्ति नहीं है। इस लिए पुण्यका लेप ब्रह्मज्ञानीको होना ही चाहिए। इस प्रकारकी शंकाका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस शंकाका समाधान वेदभाष्यमें इस प्रकार किया गया है—ज्ञानका प्रभाव ही ऐसा है कि आत्मा जो अकर्ता है उसे पापकी तरह पुण्यका भी लेप नहीं हो सकता। क्योंकि जितना काम्य-पुण्यकर्म है वह जन्म देनेका कारण होता है और जन्म एक अधम फल है। अत एव आत्मज्ञ पुरुष पुण्यकर्मको भी पाप हीके समान समझता है। इसके लिए यह श्रुति-वचन प्रमाण हैः—

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते।

इस वचनके 'पाप्मानः' शब्दमें पुण्य, पाप और उनके फल इन सबका समावेश होता है। इस वचनका अर्थ यह है कि सुकृत, दुष्कृत और उनके फल ये सब 'अतः' अर्थात् ब्रह्मोपासकसे पराङ्मुख होते हैं। इस विषयमें दूसरा श्रुति-वचन इस प्रकार हैः—

उभे ह्येवैष एते तरति।

अर्थात् ज्ञानी पुरुष पाप और पुण्य दोनोंको समान ही रीतिसे पार कर जाता है, इस लिए ब्रह्मवेत्ताको पापकी तरह पुण्यका भी लेप नहीं होता।

इस विषयमें यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण हैः—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।

इसका अर्थ यह है कि पापकी तरह पुण्यका भी लेप नहीं होता और देह-पतन होते ही मुक्ति होती है।

अब तीसरे भागके विषयमें अर्थात् इस विषयमें कि साक्षात्कार होनेके बाद प्रारब्ध-कर्म भोगना पड़ता है या नहीं, विचार करना चाहिए। श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीने बिलकुल थोड़े हीमें इसका निर्णय किया है। वह इस प्रकार है:—

उभयत्राप्यकर्तृत्वं तद्बाधः सदृशः खलु।
आदेहपातं संसारः श्रुतेरनुभवादपि॥
इषुचक्रादि-दृष्टान्तान्नैवारब्धे विनश्यतः।

—अधिकरणरत्नमाला।

इसका अर्थ यह है कि जब हम इसका विचार करते हैं कि संचितकी ही तरह प्रारब्धका नाश होता है या नहीं, तब मालूम होता है कि जब दोनों जगह अकर्तृत्व-भाव है तब संचितकी ही तरह प्रारब्धका भी नाश होना चाहिए। परन्तु (१) श्रुति, (२) अनुभव और (३) युक्ति इन तीनों प्रकारोंसे जब हम देखते हैं तब जान पड़ता है कि इषु-चक्रके दृष्टान्तकी तरह देह-पात होने तक प्रारब्धका नाश नहीं हो सकता।

इस विषयमें अब क्रमशः विचार करना चाहिए। पहले पहल श्रुतिमें यह वचन पाया जाता है:—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।

—छांदोग्य।

इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लिए ज्ञान होते ही मुक्ति निश्चित ही है; परन्तु उसके देह और प्राणका वियोग होने तक वह उसकी बाट देखती रहती है। देह-पात होते ही मुक्ति उसके गलेमें जयमाल डालनेके लिए तैयार रहती है। इस श्रुति-वचनसे यह सिद्ध होता है कि तत्त्ववेत्ता पुरुषको भी देह-पात होने तक प्रपंचका अंगीकार करना ही चाहिए। और प्रपंचका अंगीकार करने पर उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख-दुःख उसके पीछे लगे होंगे। यह श्रुतिकी दृष्टिसे विचार हुआ। अब अनुभवकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो पूर्वोक्त रामदास स्वामीकी आख्या-

यिकासे भी यही सिद्धान्त ठहरता है और वर्तमान कालके प्रसिद्ध सिद्ध साधु लोग जो स्वानुभवकी बातें अपने श्रोताओंके सामने प्रतिपादन करते हैं उनमें भी वे लोग इसी तत्त्वका निर्देश करते रहते हैं। अब युक्तिसे भी इसका विचार करना चाहिए। यह बात समझनेके लिए कि देह-पात होने तक प्रारब्ध कैसे लिपटा रहता है, सायणाचार्यने इषु और चक्रके दो उत्तम दृष्टान्त दिये हैं। धनुषमें जब तक बाण सज्ज किया हुआ रहता है और वह बाण जब तक छूट नहीं जाता तभी तक उस बाणके छोड़ने न छोड़नेकी स्वतंत्रता धनुर्धरको रहती है। परन्तु जहाँ एक-बार बाण धनुषसे छूट गया कि बस फिर उस बाणकी गति पर धनुर्धरका कोई भी अधिकार नहीं रहता। यदि वह बीच हीमें उसे रोकना चाहे तो यह बात उसकी शक्तिसे बाहर है। उस बाणका वेग आप-ही-आप जब रुकेगा तभी वह नीचे गिरेगा। अब यह देखना चाहिए कि यह बाणका दृष्टान्त अपने दार्ष्टान्तिक प्रारब्ध पर कैसे लगता है। संचित और क्रियमाण कर्मोंका नाश करनेमें आत्मज्ञान चाहे जितनी स्वतंत्रता रखता हो तथापि प्रारब्ध पर उसकी सत्ता नहीं चलती। क्योंकि मनुष्यके हाथसे छूट गये हुए बाणकी तरह प्रारब्धके फलका उपभोग देहोत्पत्तिसे पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। यह शरीर जो प्रारब्धके योगसे प्राप्त हुआ होता है, उसका जब तक अन्त नहीं हो जाता तब तक प्रारब्ध-कर्म छूट ही नहीं सकते। कुलालके दृष्टान्तका भी यही अर्थ है। अर्थात् चक्रको प्रथमतः गति देना ही भर कुलालके हाथमें रहता है; परन्तु उस गतिका निरोध करना कुलालके अधीनकी बात नहीं रहती।

आत्मज्ञान होनेके बाद तत्क्षण ही प्रारब्ध-कर्मका नाश होकर यदि मुक्ति प्राप्त होना सम्भव होगा तो जगत्‌में कोई उपदेश ही न रहेगा और ज्ञानमार्ग ही नष्ट हो जायगा। और इधर आर्य-तत्त्वज्ञानकी बात तो यह है कि वह पूर्वापर-सम्बन्धसे ही प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि मैं वेद-

शास्त्रकी पोथियाँ एकत्र करके ज्ञान-प्राप्ति कर लूँगा तो ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं है। भारतवर्षमें जितने ज्ञानी हो गये उन सबने क्रमशः अपने गुरुओंसे ही ज्ञान प्राप्त किया है। अत एव विद्या-सम्प्रदाय अबाधित जारी रहनेके लिए ज्ञानियोंका बहुत काल तक संसारमें रहना आवश्यक है, और उनके द्वारा लोगोंको उपदेश मिलना भी आवश्यक है। तभी ज्ञानमार्ग अविछिन्न रह सकता है। ज्ञान-प्राप्तिके साथ ही यदि ब्रह्मवेत्ता मुक्त होने लगें तो सारे संसारमें अँधेरा होकर ज्ञानका लय हो जायगा, इसमें कोई शंका नहीं है। अत एव यह सिद्ध हुआ कि संचित और क्रियमाण-कर्मोंकी तरह प्रारब्ध-कर्मका नाश नहीं होता।

इसके लिए यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है:—

अनारब्धकार्ये एवं तु तदवधेः।

इसका अर्थ यह है कि जिन कर्मोंके फल भोगनेका प्रारम्भ नहीं हुआ ऐसे सिर्फ संचित-कर्मोंका ही ज्ञानोदयके साथ क्षय होता है; परन्तु जिस कर्मका आधेसे अधिक फल भोगा जा चुका है उस पर ज्ञानकी कुछ भी सत्ता नहीं चल सकती; क्योंकि वहाँ शरीर-पात होनेकी प्रतीक्षा रहती है।

यहाँ तक श्रुतिके प्रमाण और षड्दर्शनोंके शिरोभूत ब्रह्मसूत्रोंका आधार देकर इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया कि आत्मज्ञान होनेके बाद भी प्रारब्ध-भोग नहीं छूटता, केवल संचितका नाश क्रियमाणका लेप नहीं होता। अब यह देखना है कि ऊपर दिये हुए अपरोक्षानुभूतिके वचनोंसे इस सिद्धान्तका मेल कैसा जमता है। अपरोक्षानुभूतिके ८८ और ८९ इन दो श्लोकोंका तात्पर्य मनमें लाने पर इस विषयका प्रायः निर्णय हो सकता है। वे श्लोक ये हैं:—

सर्वमात्मतया ज्ञातं जगत्स्थावरजंगमम्।
अभावात्सर्वभावानां देहानां चात्मता कुतः॥ ८८॥

आत्मानं सततं जानन्कालं नय महाद्युते।
प्रारब्धमखिलं भुंजन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥ ८९ ॥

अर्थात्—ब्रह्मज्ञान होने पर यह अनुभव होने लगता है कि सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक जगत् हमारा आत्मा ही है, और इसके साथ ही यह बुद्धि भी उत्पन्न होती है कि सम्पूर्ण दृश्य विकारी अत एव अभाव-रूपी हैं। ऐसी स्थिति हो जाने पर फिर देहोंके तईं आत्मत्व कैसे प्रतीत हो सकता है? इस लिए ब्रह्मवेत्ता पुरुषको सर्वत्र ओतप्रोत भरे हुए आत्मासे अपनी वृत्ति तन्मय करके, कालक्षेप करना चाहिए; परन्तु प्रारब्ध-भोग भोगते समय अपना चित्त कदापि उद्विग्न न होने देना चाहिए। इस प्रकारकी प्रस्तावना लिख कर श्रीशंकराचार्यने ९० से ९५ तक जो श्लोक लिखे हैं उनका अर्थ इस प्रकार है:—

श्रुतिमें जो यह कहा है कि आत्मज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध कदापि पीछा नहीं छोड़ता, उसका अब हम विवरण करते हैं। बात तो यह है कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद प्रथमतः प्रारब्ध रहता ही नहीं; क्योंकि उस दशामें देह आदिका ही अभाव हो जाता है। अत एव ज्ञानीका अब जब आगे जन्म ही नहीं होगा तब जन्मान्तरमें किया हुआ और वर्तमान कालके देहने जिसका भोगना आरम्भ किया है, वह प्रारब्ध-कर्म उसे बाधा कैसे कर सकता है? स्वप्नमें जैसे हमें कोई देह प्राप्त होता है; परन्तु वह देह केवल भासमान होनेके कारण जैसे मिथ्या ठहरता है वैसे ही आत्मज्ञानके बाद इस देहके भी मिथ्यात्वका अनुभव होता है। अत एव जो पदार्थ सिर्फ भासमान है उसका पुनर्जन्म कैसे हो सकता है? और जब पुनर्जन्म ही नहीं है तब फिर प्रारब्ध कहाँ रह सकता है? मिट्टीके बर्तनका उपादान कारण जिस प्रकार मृत्तिका है उसी प्रकार प्रपंचका उपादान कारण ब्रह्म है। अत एव वेदान्त-शास्त्रके अध्ययनसे अज्ञानका नाश हो जाने पर फिर प्रपंच कहाँ रह सकता है?

जैसे डोरीको भ्रमके कारण कोई मनुष्य सर्प समझ लेता है, वैसे ही मूर्ख जगत्का वास्तविक स्वरूप न समझ कर उसे सत्य मान बैठता है। परन्तु ज्यों ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह सर्प नहीं है, किन्तु डोरी है त्यों ही सर्प-बुद्धि आप-ही-आप नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सबका जो अधिष्ठान है उसका ज्ञान हो जाने पर प्रपंच शून्य जान पड़ने लगता है। तो फिर देह भी जब प्रपंचका ही एक भाग है तब प्रारब्ध अवशिष्ट कैसे रह सकता है? अत एव श्रुतिमें जो प्रारब्धका वर्णन है वह अज्ञानी लोगोंको समझानेके लिए ही जानना चाहिए।

इस दृष्टिसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष प्रारब्ध-भोग भोगते हुए भी उसकी कुछ भी परवा नहीं करता, इस लिए आत्मज्ञानीको प्रारब्ध-कर्म बाधा नहीं कर सकता। तथापि श्रुतिमें जो प्रारब्धका वर्णन किया है वह सिर्फ—

अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः।

अर्थात् इसी लिए किया है कि जिससे अज्ञानी लोगोंको यह बोध हो जाय कि प्रारब्ध क्या है। अनेक मतोंकी एक-वाक्यता सिद्ध करनेके लिए जो आधार देने पड़ते हैं उनमेंसे मुख्य आधार यह है:—

परप्रसिद्धया परो बोधनीयः।

अर्थात् जिस रीतिसे जो समझ सके उसी रीतिका अवलम्बन करके उसे समझाना चाहिए। श्रुतिमें जो प्रारब्धका वर्णन किया है वह इसी लिए कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष जब प्रारब्ध-भोग भोगता रहता है तब अन्य अज्ञानी लोगोंको भी प्रारब्धके विषयमें बोध होना चाहिए। ऐसी जगहमें जहाँ कि सर्वत्र आत्मा भरा हुआ है, अज्ञान नष्ट हो गया है और साक्षात्कार हो गया है, प्रारब्धका कुछ भी अधिकार नहीं चलता। यह स्पष्ट ही है।

अब एक शंका और रह गई। वह यह कि जब पहले ही पहल सृष्टि हुई तब जो प्राणी उत्पन्न हुए उनमें संचित और प्रारब्ध कहाँसे आये? इस विषयमें ब्रह्मसूत्रका वचन है:—

संसारस्य अनादित्वात्।

अर्थात् प्रपंच अनादि माना गया है। श्रुतिमें यह तत्त्व प्रतिपादन किया है कि कुछ काल व्यतीत होनेके बाद सृष्ट्युत्पत्ति फिर होती है और आधुनिक पदार्थ-विज्ञानवेत्ताओंको भी यह तत्त्व मान्य है। यह सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, यह मालूम होनेके लिए वेदभाष्यसे हम यहाँ पर कुछ विवरण देते हैं। प्रथमतः भाष्यकारोंने हमारे सामने (१) देव-के तईं विषय-भाव भासता है और (२) परमेश्वर निर्दय भासता है—ये दो प्रश्न रख कर उनका विवरण किया है। वह यह है—

वैषम्याद्यापतेन्नो वा सुखदुःखे नृभेदतः।
सृजन्विषम ईशः स्यान्निर्घृणश्चोपसंहरन्॥
प्राण्यनुषितकर्मादिमपेक्ष्येशः प्रवर्तते।
नातो वैशम्यनैर्घृण्ये संसारस्तु न चादिमान्॥

—अधिकरणरत्नमाला।

इसका अर्थ यह है कि भिन्न भिन्न मनुष्योंको जो सुख अथवा दुःखका अनुभव होता है और उसमें जो विषमता देखी जाती है उससे उस विषमताके उत्पन्न करनेवाले ईश्वर पर वैषम्यका आरोप आता है। वेदभाष्यमें सम्पूर्ण प्राणियोंके कुल तीन वर्ग किये गये हैं। उनमेंसे देव-योनिके प्राणी अत्यन्त सुखी रहते हैं, पशुवर्ग अत्यन्त दुखी रहता है और मनुष्य-वर्गके प्राणी मध्यम सुखका अनुभव करते हैं। इस प्रकार तारतम्य-भाव रख कर भिन्न भिन्न प्राणियोंको भिन्न भिन्न सुख-दुःखका अनुभव देनेवाला ईश्वर वैषम्य-भावका पात्र है। इसी प्रकार देव-योनि तिर्यक्-योनि, मनुष्य-योनि इत्यादि प्राणी मात्रका संहार करनेवाले ईश्वरकी इस कृत्यके लिए नीच लोग भी निन्दा करते हैं। अत एव सर्व जगत्का नाश करनेवाला ईश्वर अत्यन्त निर्दय होना चाहिए। ये दो भयंकर आरोप ईश्वर पर आते हैं और इनका समाधान भाष्यमें इस प्रकार है:—

ईश्वर पर वैषम्य-भावका आरोप कदापि नहीं आ सकता । क्योंकि प्राणीको जो उत्तम, मध्यम या अधम दशा प्राप्त होती है वह उसके कर्मानुसार प्राप्त होती है । इस कारण ईश्वरकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं हो सकती । क्योंकि ईश्वर सर्वान्तर्यामी होनेके कारण कर्माध्यक्ष भी है अर्थात् सब कर्मोंका नियमन करना ईश्वरका मुख्य लक्षण है । इस जगह जिस वस्तुमें जो जो शक्ति हो उसकी अव्यवस्था न होने देना ही नियामकका अर्थ समझना चाहिए । इस रीतिसे यह ध्यानमें आने पर कि ईश्वर सिर्फ व्यवस्थापक है, उस पर विषमताका आरोप बिलकुल नहीं आ सकता । इस दृष्टिसे मनुष्यके पूर्वकर्मोंके अनुसार उसे सुख दुखकी स्थिति प्राप्त होती है । ईश्वर स्वयं उसे कुछ बुरी दशामें नहीं रखता । जैसे कोई मनुष्य अपनी धरोहर साहूकारके पास लाकर रख देता है और जब वह अपनी धरोहर माँगने आता है तब साहूकार उसकी धरोहर उसे जैसीकी तैसी सौंप देता है, वैसे ही ईश्वर साक्षीभूत रह कर प्रत्येक मनुष्यके पूर्वकर्म उसीको सौंप देता है अर्थात् उन कर्मोंका उससे भोग कराता है । यह सच है, तथापि यह दृढ़ आक्षेप आता ही है कि प्रथमतः जब सृष्टि निर्माण हुई उस समय किसी प्राणीका भी पूर्वकर्म सम्भव नहीं हो सकता । तो फिर उस समय प्राणियोंकी स्थितिमें विषमता क्यों होनी चाहिए ? इसका उत्तर यही है कि—

संसारस्य अनादित्वात् ।

—ब्रह्मसूत्र ।

अर्थात् सृष्टि अनादि मानी गई है और उसका व्यापार बीजवृक्ष-न्यायसे हो रहा है । ऐसी दशामें जैसे यह निश्चय करना असम्भव है कि बीज पहले है या वृक्ष पहले है, वैसे ही संसारका अनादित्व भी है । कर्मके कारण विशिष्ट स्थिति और विशिष्ट स्थितिके कारण कर्मका चक्र बराबर चल रहा है ।

उसी प्रकार ईश्वर पर निर्दयताका भी आरोप नहीं आ सकता । देह विकारी है, इस लिए उसे परिणतावस्था प्राप्त होती है । फिर ऐसी रुग्णा अवस्थामें मृत्यु होनेसे सुषुप्तिकी तरह सब दुःखों और क्लेशोंसे छुटकारा हो जाता है । इस दृष्टिसे मृत्यु प्राणी मात्रके लिए एक लाभ ही है ।

अब हम यह देखते हैं कि सृष्टिका लय और पुनरुत्पत्ति कैसे होती है । सब जड़ पदार्थोंका लय क्रम-क्रमसे होता है अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें और वायुका आकाशमें होता है; और इसी प्रकार सब शक्तियोंका लय—फिर चाहे वह विद्युच्छक्ति हो, चाहे आकर्षण शक्ति हो—प्राणमें होता है । इस दृष्टिसे आकाश और प्राण सब जड़ पदार्थों और शक्तियोंके अधिष्ठान हैं । फिर आकाश और प्राण दोनोंका लय उस तत्त्वमें होता है जो अनन्त और अनादि है । इस रीतिसे लय होने पर फिर उलटे क्रमसे, उसी अनादि तत्त्वसे क्रमसे उत्पत्ति होकर स्थावर-जंगमात्मक जगत् आविर्भूत होता है । ऐसे समयमें सूक्ष्म-रूपसे रहे हुए वासना-मय लिंगदेह पुनरुद्भूत होकर भिन्न भिन्न शरीर धारण करते हैं और वे शरीर उनकी वासनाओं और कर्मोंके अनुसार होते हैं । यही ईश्वरकी व्यवस्थापकता है । अर्थात् यह नहीं है कि ईश्वर प्राणीको चाहे जिस स्थितिमें जन्म देता हो; किन्तु उसके पूर्व-कर्मानुसार विशिष्ट स्थिति देता है । अब यदि प्राणी पूर्व-कर्मोंके संस्कारसे बचना चाहता हो तो उसके भी मार्ग श्रुतिमें बतलाये हुए हैं अर्थात् आत्मज्ञानसे संचित और क्रियमाणका क्षय करना चाहिए और कर्म-फल भोग कर अथवा योगाभ्यासका अवलम्बन करके प्रारब्धका अन्त करना चाहिए ।

इस जगत्में सब वस्तुओंकी स्थिति वर्तुलाकार है । अर्थात् प्रत्येक वस्तुका आदि और अन्त एक ही समान होता है । उदाहरणार्थ जमीनमें बीज बोनेसे वृक्ष उत्पन्न होता है । वृक्षके बड़े होने पर फिर उससे बीज उत्पन्न होता है और वह बीज फिर दूसरे वृक्षकी उत्पत्तिका मूल कारण होता है । अतएव वृक्षोंके जीवनका विचार करनेसे सिद्ध होता है कि उनके आरम्भका

स्वरूप और अन्तका स्वरूप दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार अणुसे पर्वत होता है और पर्वतका लय फिर अणुमें होता है। अत एव इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब पदार्थोंका आरम्भ और अन्त एक ही है। ऐसा यदि है तो जिस एक तत्त्वमें इस सारे विश्वका लय होता है उसी तत्त्वसे इस सारे विश्वकी उत्पत्ति होती है और इस दशामें प्रत्येक प्राणी अपना अपना पूर्व-कर्म लेकर जन्म धारण करता है। ईश्वर पर विषमता अथवा निर्दयताका आरोप किसी प्रकार भी नहीं आ सकता।

इस विषयका शारीरिक भाष्यमें जिस सूत्रके आधारसे विचार किया गया है, वह सूत्र इस प्रकार है:—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्। तथा हि दर्शयति।

इसका अर्थ यह है कि प्राणी मात्रमें जो विषमता देख पड़ती है उससे ईश्वर पर विषमता नहीं आ सकती। और प्राणियोंका जो संहार होता है उससे ईश्वर निर्दय भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसी जगह जो ईश्वरकी क्रिया देखी जाती है वह केवल सापेक्ष सम्बन्धसे होती है अर्थात् प्राणीके पूर्व-कर्मानुसार उसे स्थिति प्राप्त होती रहती है। सृष्टिमें जो विषमता अथवा संहार देख पड़ता है उसमें ईश्वरका कुछ भी अपराध नहीं है। ईश्वरको मेघकी तरह समझना चाहिए। सब प्रकारके धान्यों पर मेघ समान ही बरसता है और सब धान्योंकी उत्पत्तिका वह साधारण कारण होता है। यह सच है, तथापि धान्य सब जगह बराबर उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक जगह बीजोंकी शक्ति असाधारण कारणके तौर पर रहती ही है। इसी असाधारण कारण पर खेतका उपजाऊपन अवलम्बित रहता है और धान्य चाहे कम हो चाहे अधिक, किन्तु मेघ पर उसका दोष नहीं आता। इसी प्रकार प्राणियोंकी विषमावस्थाका दोष ईश्वर पर नहीं आ सकता। मेघकी तरह ईश्वर भी साधारण कारण होता है। असाधारण अर्थात् विशेष कारण प्रत्येक प्राणीका कर्म है। इस विषयमें यह श्रुति-वचन है:—

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। —बृहदारण्यक।

अर्थात् प्राणीके पुण्य-कर्मानुसार उसे उत्तम जन्म प्राप्त होता है और पाप-कर्मानुसार अधम जन्म मिलता है। तथा देह-धर्मानुसार प्राणी मात्रको मृत्यु प्राप्त होती है। इस रीतिसे संसार अनादि है और प्राणी उच्च-नीच स्थिति पाता है तथा उसका संहार होता है; परन्तु ईश्वर पर विषमता अथवा निर्दयताका दोष नहीं आता।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाणके विषयमें यहाँ तक जो विवेचन किया गया वह श्रुतिमें कहे हुए और श्रुति-बोधित सिद्धान्तोंके अनुसार ही किया गया है। इससे यह बात अच्छी तरह मालूम हो सकती है कि श्रुतिमें आत्मज्ञानका कितना महत्त्व कहा गया है। श्रुति-वचनोंका तात्पर्य समझ लेना प्रत्येक द्विजका काम है। वर्तमान समयमें मुद्रण-यंत्रकी सहायतासे अनेक संस्कृत ग्रन्थ सुलभ हो गये हैं और श्रुतिका अर्थ समझनेके साधन घर घर प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी दशामें यह बड़े महत्त्वका प्रश्न है कि आधुनिक विद्वान् सच्चा आत्मज्ञान न प्राप्त करके सिर्फ अपनी जिज्ञासाको तृप्त करनेके लिए नवीन नवीन पंथ और मार्ग निकालनेमें क्यों पड़े हुए हैं? आधुनिक विद्वानोंकी समझ यह है कि जाति-भेदको तोड़ कर यदि सब गोलंकार कर दिया जाय तो समाज-घटना ठीक हो जायगी। परन्तु पहले यह विचार करना चाहिए कि आर्य-तत्त्वज्ञान जो इतने उच्च-पदको प्राप्त हुआ है सो किस कारणसे? इसका उत्तर यही है कि विशिष्ट मनुष्योंका समुदाय पृथक् रहा है और उसे विशिष्ट रीतिसे धार्मिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा मिली है; इस कारण अत्यन्त उच्च और जगत्को आश्चर्यमें डालनेवाले विचार प्रकट हुए हैं। यह बात मोक्षमूलर, कोलबुक, कावेल, जोन्स, प्रभृति परधर्मी ग्रन्थकारोंने भी स्वीकार की है। इस प्रकार जो विशिष्ट समुदाय सुसंस्कृत हुआ है उसीके हाथसे श्रुति, दर्शन इत्यादि ग्रन्थ-समूह निर्माण हुए और इतने उदात्त विचार बढ़े कि साक्षात् परमेश्वर-स्वरूप तक पहुँचनेकी शक्ति द्विजोंके प्रयत्नसे हुई तथा आत्म-प्राप्तिके मार्ग निकले। इस प्रकारसे जो द्विज वर्ग तैयार

हुआ है उसका इच्छा-मात्रसे नाश करना आधुनिक विद्वानोंकी दृष्टिसे आवश्यक जान पड़ रहा है । परन्तु उनसे यह पूछना चाहिए कि क्या एक भी इस प्रकारका सुसंस्कृत द्विज तैयार करनेका सामर्थ्य किसीमें है ? आधुनिक विद्वानोंको श्रुति आदि ग्रन्थोंका जो महत्त्व नहीं जान पड़ता इसका कारण यही है कि वे ग्रन्थ योग्य रीतिसे विद्यालयोंमें सिखलाये नहीं जाते । और विद्यार्थीके मन पर आंग्ल-विद्याकी छाप बैठ जाती है, इस लिए उसे श्रुति, दर्शन इत्यादिका वास्तविक स्वरूप मालूम नहीं होता । आधुनिक विद्वानोंके मन पर परकीय विद्याकी छाप यहाँ तक बैठी हुई देखी जाती है कि उनके ग्रन्थ-संग्रहमें श्रुतिके साथ कुरान, बाइबल होनी ही चाहिए ! उनकी योग्यता वे समान ही समझते हैं । इस कारण जिसे देखिए वही सब देशोंके ईश्वर-दत्त समझे जानेवाले ग्रन्थोंका परिशीलन करके नवीन पंथ उत्पन्न करनेका हौसला रखता है और इसका ऐसा अनिष्ट परिणाम होता है कि धर्म-बुद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक जो श्रद्धा है उसका लोप हो जाता है और—

इदं च नास्ति परं न लभ्यते ।

की दशा चारों ओर देखी जाती है ।

आधुनिक विद्वानोंकी ऐसी मानसिक दशा होनेका मुख्य कारण नित्य-नैमित्तिक कर्मका लोप है । निष्काम कर्मके बिना चित्त-शुद्ध नहीं हो सकता, चित्त-शुद्धिके बिना निष्काम उपासना नहीं हो सकती और निष्काम उपासनाके बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । कर्म अन्तःकरण सुसंस्कृत करते हैं और विविदिषा जागृत होती है । पापका क्षय हुए बिना वैराग्य नहीं उपजता । अतएव आधुनिक पंडितोंको श्रुति-विहित कर्मोंसे प्रेम रखना चाहिए । और जिन सिद्ध-ऋषि लोगोंने दर्शनोंका निर्माण किया है उनकी योग्यता अच्छी तरह जान कर उनके दिखलाये हुए मार्गसे चलना चाहिए । इससे आत्म-विद्या प्राप्त होगी और संचित तथा क्रियमाण-कर्मोंका नाश होगा । प्रारब्ध-कर्म भोगनेके लिए देह तैयार ही है ।

द्वितीय भाग ।

पहला प्रकरण ।

वैराग्य ।

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मता ।

—योगवासिष्ठ ।

आज-कल आध्यात्मिक विचारोंका पुनरुज्जीवन हो रहा है, इस लिए इस प्रकारके विषयोंकी अभिरुचि स्वाभाविक ही पाठकोंमें अधिकाधिक उत्पन्न होती जा रही है । इस कारण ऐसे समयमें हम समझते हैं कि यदि ऐसा कोई निबंध पाठकोंके सम्मुख रक्खा जाय, जो क्रमशः वेदांत-शास्त्रकी संगति लगा कर दिखलाये तथा जो किसी सर्व-मान्य और प्रौढ़ विचारोंसे परिप्लुत और प्राचीन आर्य-ग्रंथके आधारसे लिखा गया हो, तो वह अवश्य ही बहुमानका पात्र होगा । यदि ऐसे प्राचीन आर्य-ग्रंथको चुनना है कि जिसमें आर्य-तत्त्व-ज्ञान और आर्य-धर्मका बिलकुल शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट विवेचन हो तो ऐसा सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ योगवासिष्ठ ही है। उसके सोपपत्तिक विवेचनका प्रशान्त बुद्धिसे विचार करने पर यह प्रमेय सबके हृदयमें जम सकता है कि आर्य-तत्त्वज्ञान और हमारे सनातन धर्ममें परस्पर विरोध नहीं है; किन्तु आर्य-धर्म ही आर्य-तत्त्वज्ञान है और आर्य-तत्त्वज्ञान ही आर्य-धर्म है । योगवासिष्ठमें वेदान्त-विचारके लिए मूल अधिकारी विद्यार्थीसे लेकर अत्यन्त श्रेष्ठ योगियों तक सभीके लिए अत्यन्त उपयुक्त और सम्मत वेदान्त तथा योग-शास्त्रके मत निर्दिष्ट किये गये हैं; अत एव यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थकी योग्यता बहुत बड़ी है ।

इस प्राचीन ग्रन्थका कथानक बहुत ही सुरस और बिलकुल संक्षिप्त है। यह बात नहीं है कि पाठकोंके सामने उसकी बड़ी भारी पोथी खोलना पड़े। यहाँ पर थोड़ेमें यह बतला देना बस होगा कि ग्रन्थोत्पत्तिका प्रसंग कौनसा है और उसका कारण क्या है। विश्वामित्र ऋषिके प्रारम्भ किये हुए यज्ञमें जब दुष्ट राक्षसोंने विघ्न किया तब उनके प्रतीकारके लिए विश्वामित्रने दाशरथेय राम-लक्ष्मणकी सहायताकी अपेक्षा की। परन्तु राजा दशरथका पुत्र-प्रेम अनिवार्य था। राम-लक्ष्मणका वियोग असह्य होनेके कारण उन्होंने विश्वामित्रकी बिनती अस्वीकार की। तब तपोनिधि विश्वामित्र ऋषि क्रोधाविष्ट होकर चल दिये। यह समझ कर कि कदाचित् वे शाप न दे दें, श्रीमद्वसिष्ठ ऋषिने विश्वामित्रको विमुख न जाने देनेकी सलाह दी और यह बतला कर कि श्रीरामचन्द्र यद्यपि पन्द्रह वर्षके सुकुमार बालक हैं तथापि वे सामान्य मनुष्य नहीं हैं; किन्तु मंगलोंके मंगल, योगियोंके मुकुटमाणि और विश्राम-स्थान, दैत्योंके शासन-कर्त्ता, आर्य-धर्म-रक्षक और साक्षात् परब्रह्म हैं, दशरथका अज्ञान दूर किया। तब दशरथको परम आनन्द हुआ और उन्होंने रामचन्द्रको सभा-स्थानमें बुलाया। उस समय तीर्थाटनके कारण श्रीरामचन्द्रके हृदयमें परमावधिकी वैराग्य-वृत्ति आ गई थी। उनकी बुद्धिमें यह बात खूब समा गई थी कि देह-सौभाग्य, राज्य-भोग, मित्र, भाई-बन्धु, तरुण युवतियोंके भोग आदि सब क्षय-रोगके समान हैं। देह, इन्द्रियों और चंचल मनके विषयमें उन्हें अत्यन्त घृणा हो गई थी। ऐसा तीव्र वैराग्य उन्हें तीर्थाटनके कारण हो गया था।

इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति।
दूराद्दूरतरं दीनं ग्रामकौलेयको यथा॥ —योगवासिष्ठ।

मनमाने पदार्थों पर दौड़ना चाहिए, कोई विषय चाहे प्राप्त भी हो गया हो तथापि और भी उसकी आशा रखना चाहिए, अप्राप्य वस्तुकी इच्छा

रखना चाहिए, यहीं नहीं, किन्तु जो पदार्थ पृथ्वी पर न हों उनकी भी इच्छा रखना चाहिए, चाहे इन्द्र-पद क्यों न मिल जाय तथापि सन्तोष न होना चाहिए। इस प्रकार कुत्तेके समान बहकनेवाले मनसे उकता कर श्रीरामचन्द्र बिलकुल त्रस्त हो गये थे और उनकी वृत्ति ऐसी हो गई थी कि वे चाहते थे कि उन्हें सद्गुरु मिल जायँ और उनका संकट दूर हो। ऐसे समयमें श्रीमद् वसिष्ठ ऋषिने श्रीरामचन्द्रको आर्य-धर्म-तत्त्वोंका उपदेश किया और उनके मनकी व्यग्रता दूर की। यही विशिष्ट प्रसंग योगवासिष्ठका कारण है।

जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंके विषयमें अप्रीति होकर साधु-चरणोंमें आसक्ति होना ही शुद्ध मति है और यही ज्ञानकी पहली सीढ़ी है। शिष्यको वैराग्य चाहे प्राप्त हो जाय तथापि जब तक वह गुरुसे प्रार्थना न करे तब तक वह उसके उपदेशका पात्र नहीं होता। शिष्य आतुरताके साथ गुरुके शरणमें न आकर यदि प्रश्न करे तो उसे उपदेश करना गुरुके लिए दूषणास्पद है। यह बात वसिष्ठके जतलाने पर श्रीरामचन्द्रने उठ कर वसिष्ठके चरण पकड़े और यह प्रार्थना की कि मेरा उद्धार कीजिए। तब वसिष्ठने रामचन्द्रको सम्मुख बैठाया और यह प्रतिज्ञा करके कि अब वैराग्य-पूर्ण ज्ञान-विज्ञान मैं तुझे बतालाता हूँ जिसके श्रवणसे तू पूर्णब्रह्मका अनुभव प्राप्त कर सकेगा, उपदेश प्रारम्भ किया। यह उपदेश दस प्रकारणोंमें है:—

१ वैराग्य, २ जगन्मिथ्यात्व, ३ मनोलय, ४ वासनोपशम, ५ आत्म-मनन, ६ शुद्ध-निरूपण, ७ आत्मार्चन, ८ आत्म-निरूपण, ९ जीवन्मुक्ति, १० निर्वाण।

पहले वसिष्ठने यह बतलाया कि वेदान्त-शास्त्रके अधिकारी कौन हैं।

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्यास्ति निश्चयः।
नात्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जिसका ऐसा निश्चय हो गया है कि मैं संसार-बद्ध हूँ, इससे मेरी मुक्ति होनी चाहिए, वही इस शास्त्रका अधिकारी होता है। परन्तु वह अत्यन्त अज्ञानी अथवा अत्यन्त तज्ज्ञ न होना चाहिए। अत्यन्त अज्ञानी वह है जो यह समझता है कि मैं देह-रूपी हूँ और देहके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है। तथा जो 'अहं' शब्द केवल अपने देहमें ही लगाता है; जिसे यह नहीं जान पड़ता कि मैं कौन हूँ और आया कहाँसे हूँ, तथा जो केवल शिस्नोदर-परायण और केवल प्रपंचमें अत्यन्त दक्ष है उसे अत्यन्त अज्ञानी कहना चाहिए। वह वेदांत-शास्त्रका अधिकारी नहीं होता। इसी प्रकार अत्यन्त तज्ज्ञ वह है जिसे अपरोक्षज्ञान हो चुका है। जो ब्रह्मानन्दमें डोलता रहता है और जिसे ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता वह भी अत्यन्त तज्ज्ञ है। ऐसा पुरुष भी अवश्य ही इस शास्त्रके लिए अनधिकारी है। स्पष्ट ही है कि जो यथेच्छ भोजन करके बैठा है उससे यह कहना व्यर्थ है कि और भी खालो। अत एव जो अत्यन्त अज्ञानी नहीं है और अत्यन्त तज्ज्ञ भी नहीं है; किन्तु जो केवल मध्यस्थ है वही वेदान्त-शास्त्रका पूर्णाधिकारी है। तथा इस शास्त्रका अधिकारी होनेके लिए साधन-चतुष्टय-सम्पन्नता होनी चाहिए। यह साधन-चतुष्टय इस प्रकार है:—(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक, (२) इहामुत्र-फलाभोग-विरक्ति, (३) शम-दमादि षट्क और (४) मुमुक्षुता।

साधन-चतुष्टयमेंसे पहला साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक है। इस बात-का बड़ी सूक्ष्मतासे अपने मनमें विचार करके कि जगत्में नित्य वस्तुएँ कौनसी हैं और अनित्य कौनसी हैं, यह भावना होना कि नित्य-वस्तु आत्म-स्वरूप है, उसे छोड़ कर सब वस्तुएँ अनित्य अर्थात् नाशवान् हैं, देह आदि सब प्रपंच नश्वर अर्थात् अनित्य हैं, नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है। यह विवेक जिसमें जागृत होता है वही वेदान्त-शास्त्रका अधि-कारी है। अब दूसरे साधन इहामुत्र-फलाभोग-विरक्तिका लक्षण सुनिए:—

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मता।

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् चाहे इह लोकमें प्राप्त होनेवाले राज्यादि भोग मिलें, चाहे ब्रह्मलोक मिले तथापि उसे तृणवत् मानना वैराग्यका श्रेष्ठ लक्षण है। तीसरा साधन **शम-दमादिक षट्क** है। वह षट्क यह है:—१ शम, २ दम, ३ उपरति, ४ तितिक्षा, ५ समाधान और ६ श्रद्धा। इनके लक्षण इस प्रकार हैं:—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारको विषयोंसे रोकना अन्तरिन्द्रिय-निग्रह कहलाता है, यह **शम** है। बाह्येन्द्रिय-वृत्तियोंका निरोध करके प्रत्येक इन्द्रियको उसके व्यापारसे विमुख करना **दम** कहलाता है। इन्द्रियोंका दमन हो जाने पर विषयोंकी ओर उनकी पुनरावृत्ति न होने देनेको **उपरति** कहते हैं। एक-बार निरोध करने पर भी बार-बार विषयोंकी ओर दौड़ना इन्द्रियोंका स्वाभाविक धर्म है। अत एव सदा उनकी लगाम खींचते रहना चाहिए, इसीको उपरति कहते हैं। अब तितिक्षाकी व्याख्या सुनिए। सर्वदा **द्वन्द्व** सहन करनेकी शक्तिको **तितिक्षा** कहते हैं। शीत-उष्ण, सुख-दुख, राग-द्वेष इत्यादि द्वन्द्व कहलाते हैं। स्नान-संध्यादि कर्म करते समय शीतोष्णकी जो बाधा होती है उसकी कोई परवा नहीं, हमारा कर्माचरण सांगोपांग होना ही चाहिए; तथा प्रारब्ध-वेगसे व्यवहारमें उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख हमें भोगने ही चाहिए, उनसे कोई बच नहीं सकता। इस प्रकारकी शीतोष्ण-सुख-दुःखादिके सहन करनेकी शक्तिको तितिक्षा कहना चाहिए। पाँचवाँ साधन समाधान है। सम्पूर्ण विषयोंमें सदा शान्त-वृत्ति रह कर महा-वाक्य-श्रवणमें अत्यन्त आदर-बुद्धि रहना **समाधान** है। छठा साधन श्रद्धा है। उसकी व्याख्या यह है कि सद्गुरुके उपदेश और सत्पुरुषोंके किये हुए महा-वाक्य-विवरण पर पूर्ण विश्वास रहना—उसमें संशयित बुद्धि कभी न होना—**श्रद्धा** कहलाती है। यह शम-

दमादि षट्कका निरूपण हुआ । अब साधन-चतुष्टयके चौथे साधन मुमुक्षुताका हम विचार करते हैं ।

मुमुक्षुता कहते किसे हैं ? जो साधारण तौर पर सिर्फ इतना ही समझता है कि देह 'मैं' नहीं हूँ, इंद्रियाँ भी 'मैं' नहीं हूँ और यह समझ कर कि मैं अज्ञानके कारण बद्ध हुआ हूँ, जिसका मन आतुर होता है तथा जिसे आत्म-साक्षात्कार नहीं हुआ और उससे होनेवाले परमानन्दका अनुभव भी जिसने नहीं पाया; किन्तु केवल विषयोंसे संत्रस्त हो जानेके कारण ही उनकी ओर जिसकी प्रवृत्ति नहीं होती, जो अनादि अज्ञानके कारण भ्रममें पड़ गया है और जिसका मन इस बातके लिए आतुर हो रहा है कि अपना छुटकारा होनेके लिए अब मैं अनन्य-भावसे सद्गुरुकी शरणमें जाऊँगा वह **मुमुक्षु** है और उसकी उस स्थितिको **मुमुक्षुता** कहना चाहिए । इस प्रकार जो पुरुष साधन-चतुष्टय-सम्पन्न, विषय-वैराग्य-युक्त और साधु-वचन-लोलुप हुआ है वही वेदान्त-शास्त्रका सच्चा अधिकारी है । दूसरोंको वह अधिकार नहीं प्राप्त होता ।

ये सब बातें होनेके लिए ईश्वरानुग्रहकी आवश्यकता है । इसके बिना वैराग्यका होना और साधु पर भक्ति जमना कभी सम्भव नहीं । ईश्वरानुग्रह होनेका लक्षण यही है कि उसके होने पर मनुष्यमें यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि वर्णाश्रम-धर्म-नियामक नित्य-नैमित्तिक कर्म सांगोपांग उत्तम रीतिसे करके ईश्वरार्पण करना चाहिए । इस भावनासे नित्य-नैमित्तिक कर्म करने पर पापका क्षय होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वरके विषयमें अत्यन्त भक्ति उपजती है । ईश्वर अनन्य-भक्तिके योगसे सन्तुष्ट होता है और उसके सन्तुष्ट होने पर भक्तों पर उसका अनुग्रह होता है और इससे देहके विषयमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है । इसके उत्पन्न होने पर यह बुद्धि होती है कि अब साधुकी संगति और सेवा करनी चाहिए । इसके बाद शम-दमकी प्राप्ति होती है, विमल भक्ति उत्पन्न होती है और अन्तः-

करण दयार्द्र होता है। यही वेदान्त-शास्त्रका क्रम है। चित्त-शुद्धिका तत्त्व वेदान्त-शास्त्रकी तरह किसी धर्म-पन्थमें विशिष्ट रीतिसे प्रतिपादन नहीं किया गया है, इसी लिए वेदान्त-शास्त्रको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है।

> भावनानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात्।
> तावन्न सद्गुरुः कश्चित् सच्छास्त्रं वापि नो लभेत्॥
>
> —योगवासिष्ठ।

इस वचनके अनुसार जब तक ईश्वरका साक्षात् अनुग्रह नहीं हुआ तब तक कल्पान्तमें भी सद्गुरु-प्राप्तिकी प्रीति नहीं उपजती। उपर्युक्त वचनमें जो 'साक्षात्' शब्द रक्खा गया है उसमें बहुत अर्थ है। यदि किसी पुरुषके पास सम्पत्ति और सन्तति अधिक हुई और अन्य सुखोपभोगके यथेच्छ साधन हुए तो मामूली लोग समझते हैं कि इस मनुष्य पर ईश्वरकी बड़ी कृपा है; परन्तु वेदान्तकी दृष्टिसे उनकी यह समझ बिलकुल मिथ्या है। यह मामूली और नीचे दरजेकी ईश्वर-कृपा है। जिस अनुग्रहसे सद्गुरुका लाभ होता है वही साक्षात् ईश्वरानुग्रह है। उसके बिना सद्गुरुके दर्शन नहीं होते; दर्शन भी हुए तो इतने हीसे उसमें पूर्ण भक्ति नहीं होती और सद्गुरु प्रसन्न नहीं होता; सद्गुरु प्रसन्न भी हुआ तो उससे प्रश्न करके अन्तःकरणकी आतुरता निकाल डालने योग्य ज्ञान उससे नहीं प्राप्त कर सकते और वह अन्तःकरणकी आतुरता वैसी ही बनी रहती है। मुख्य शास्त्र 'तत्त्वमसि' महा-वाक्य है। यह सद्गुरु-मुखसे श्रवण करने पर हमारी जगद्विषयक अज्ञान-मूलक कल्पनाएँ नष्ट हो जाती हैं। महा-वाक्य सूत्र-स्थानमें है और सारा वेदान्त वृत्ति-स्थान अर्थात् उसके टीका-स्थानमें है। अत एव महा-वाक्यका श्रवण ईश्वरानुग्रह बिना कदापि नहीं होता।

> शून्यं सम्पूर्णतामेति मृत्युरप्यमृतायते।
> आपत्संपदिवाभाति विद्वज्जनसमागमात्॥
>
> —योगवासिष्ठ।

मनुष्यमें यदि आत्मज्ञान न हुआ तो समझ लो कि कुछ नहीं हुआ। आत्मज्ञान बिना दशों दिशा शून्य मालूम होती हैं। देह, बुद्धि, अन्तःकरण रीते हो जाते हैं। देश, ग्राम, चन्द्र, सूर्य और सम्पूर्ण विश्व अनात्मताके कारण शून्य भासते हैं। तीर्थ, क्षेत्र, देवता, कर्माचरण इत्यादि सब व्यर्थ जान पड़ते हैं; परन्तु यदि सत्समागम हो गया तो यह सारा क्रम उलट जाता है। पहले जो शून्याकार मालूम होता था वह क्षण हीमें परिपूर्ण मालूम होने लगता है और 'खल्विदं ब्रह्म' की भावना आ जाती है; अर्थात् प्राणीको यह अनुभव होता है कि सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा भरा हुआ है। इस प्रकार साधु-समागमसे खोया हुआ आत्मा जगह पर आ जानेसे स्वाभाविक ही ज्ञान-प्रभावसे बुद्धि, इन्द्रिय आदिको ब्रह्मके सिवाय और कुछ भासता ही नहीं। और ऐसी दशामें यदि मृत्यु भी आ जाय तो वह भी मोक्ष-प्राप्ति-सी जान पड़ती है। तात्पर्य सत्समागमसे परम वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न होकर प्राणीसे सत्कर्मानुष्ठान होता है; अधिक क्या अष्टांग साधन-सम्पत्ति साधु-समागमसे ही प्राप्त होती है। इस अष्टांग योग-साधनका निरूपण आगे होगा, अत एव यहाँ उसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं।

तद्ज्ञानं स च शास्त्रार्थस्तद्विज्ञानमखंडितम्।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधोर्यदुपदिश्यते॥

—योगवासिष्ठ।

सच्छिष्य और वैराग्य सम्पन्न अत एव अधिकारी शिष्यको जिस-ज्ञानका उपदेश किया जाता है वही सच्चा ज्ञान है, वही सच्चा शास्त्रार्थ है, और वही अखण्डित विज्ञान अर्थात् स्वानुभव-ज्ञान है। उपर्युक्त 'सच्छिष्य' शब्दका मर्म ध्यानमें आनेके लिए उसका अधिक स्पष्टार्थ होना चाहिए। वह यह है कि जो शिष्य जारण-मारणादि निषिद्ध कर्म छोड़ देता है, काम्य-कर्म अर्थात् सहेतुक कर्म वर्ज करता है, नित्य-नैमित्तिक कर्म अहे-

तुक अर्थात् निष्काम बुद्धिसे करके उन्हें ईश्वरार्पण करता है और इस कारण जिसका अन्तःकरण शुद्ध दर्पणके समान हो गया है उसे वेदान्त की दृष्टिसे सच्छिष्य कहना चाहिए। क्योंकि निष्काम कर्म करना ही वासनाका समूल उत्सर्ग करनेवाला साधन है और उस कर्मको ईश्वरार्पण करना चित्त-शुद्धिको निमंत्रण देना है। अत एव इस प्रकारसे चित्त-शुद्धि हो जानेके कारण जिसका बोलना-चालना, देखना आदि सब कुछ शुद्ध हो गया है, कुटिलता जिसके पास कल्पान्तमें भी नहीं फटक सकती और जिसकी इन्द्रियाँ सरल रीतिसे बर्ताव करती हैं उसीको सच्छिष्य समझना चाहिए। सच्छिष्यकी समता पानीके स्वभावसे होती है। पानीके प्रवाहको जिधर, जैसा और जहाँ तक ले जाइए वहाँ तक वह जाता है। उसमें आग्रह-बुद्धि नहीं होती। इसी तरह जिसमें आग्रह-बुद्धि नहीं रहती वही सच्छिष्य है। तथा जिसके हृदयमें सदा शुभेच्छा वास करती है और तदनुसार जिसका संकल्प होता है उसे सच्छिष्य कहना चाहिए। तात्पर्य यह कि जिसका मन और बुद्धि दोनों अत्यन्त शुद्ध होते हैं, जिसे शास्त्र-श्रवणसे पूर्ण प्रीति होती है, जिसकी ईश्वर पर सप्रेम भक्ति होती है, पाप-वासना जिसमें नहीं उपजती, जिसे एकान्त-वास पसन्द आता है और जो मनसे उदार होता है तथा जिसने सत्व-बुद्धिके अलंकारोंको धारण किया है उसीको सच्छिष्य कहना चाहिए। और वही वेदान्त-शास्त्रका सच्चा अधिकारी होता है।

उपर्युक्त श्लोकके 'विरक्ति' शब्दका भी स्पष्टार्थ करना अभीष्ट है। जिसे इन्द्रिय वर्ग और देह-संग अच्छा नहीं लगता वह पुरुष विरक्त है। उसे देहसे घृणा क्यों हो जाती है? इस लिए कि यह देह नश्वर और कुत्सित है; यह अस्थिका घर है; इसमें मांस, मज्जा, रुधिर, पीब, पंक, बड़े बड़े कृमि, मल, मूत्र इत्यादि परिपूर्ण भरे हुए हैं। इनमेंसे यदि एक-ही-एक आगे रक्खा जाय तो अत्यन्त घृणा होगी; फिर इन सब दुर्ग-

न्धियोंकी खान ही जब हमारा शरीर है तब उससे हमें घृणा क्यों न हो ? देहकी घृणाका दूसरा कारण यह है कि वह षड्-विकारी है। उन षड्-विकारोंको सुनिए—(१) अस्ति, (२) जायते, (३) विवर्धते, (४) विपरिणमेत, (५) अपक्षीयते और (६) विनश्यति । इनमें प्रत्येक विकारके दुःखका यदि वर्णन किया जाय तो बड़ा विस्तार हो जायगा और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस दुःखसे मन भी घबड़ा जायगा । पहले 'अस्ति' विकारको लीजिए। माताके ऋतुकालमें पिताका संयोग होने पर, प्राणापान वायुके उच्छ्वासके साथ ही, गर्भ-कमलमें अणुमात्र भी रेत-स्खलन होनेसे, माताके रजके साथ पितृ-रेत मिलता है और बाद उससे लिंगदेह-मिश्रित स्थूल-देह बनता है, यह **अस्ति** विकारका लक्षण है । गर्भ-वासमें रहते समय प्राणीको अत्यन्त दुःख होता है और नरक-वाससे भी भयंकर यातनाएँ वहाँ भोगनी पड़ती हैं। वहाँ कोई उसका सहायक नहीं होता । वह जेलखाना बहुत ही कठिन है । इस विकारसे छूट कर प्राणी अति प्रयाससे योनि-द्वारा बाहर आकर मूर्च्छागत गिरता है और बाहर गिरते ही सोहंकार भूल कर कोहं ? कोहं ?' कह कर बड़े जोरसे चिल्लाने लगता है । उस अवस्थामें कुछ भी कीजिए, सुख नहीं होता । अत एव उस दुःखसे और नाल-छेदनकी पीड़ासे प्राणी तड़-फड़ाता रहता है । इस दूसरे विकारको **जायतेकी** संज्ञा है । तीसरा विकार **विवर्धते** वह है कि जब प्राणीका शरीर बढ़ने लगता है उस दशामें फाहेसे दूध उसके मुखमें डालते हैं; परन्तु वह उसके लिए बस नहीं होता । अत एव बालक तड़-फड़ाता है । तब उसे स्तन-पानकी आदत डलाई जाती है । इस अवस्थामें प्राणीको सदा मल-मूत्रमें लोटते हुए दुर्गन्धिमें रहना पड़ता है । **विपरिणमते** नामक चौथे विकारका लक्षण यह है कि इस अवस्थामें देहका विशेष प्रभाव होता है और उसे चार प्रकारकी स्थिति प्राप्त होती है । वे ये हैं:—

कौमार पंचमाब्दान्ते पौगंडं दशमावधि ।
कैशोरमापंचदशात् यौवनं तु ततः परं ॥
—योगवासिष्ठ ।

पाँच वर्षकी उमर तक कुमारावस्था, दस वर्ष तक पौगंडावस्था, पन्द्रह वर्ष तक किशोरावस्था और तदनन्तर यौवनावस्था होती है । इन चार अवस्थाओंमें प्राणी पर विशेष प्रभाव पड़ता है, अत एव इस विकारको विपरिणमते कहते हैं । अब पाँचवें विकार अपक्षीयतेको लीजिए । इस अवस्थामें प्राणीको क्षुत्पिपासाकी पीड़ा बहुत होती है और लोभ असीमरूपसे बढ़ता है । शरीरमें सिमेट पड़ने लगते हैं, बाल सफेद होने लगते हैं । यदि कोई ' बुड्ढा ' कह देता है तो लज्जा उत्पन्न होती है । उमर पूछिए तो छिपा कर पचासकी जगह चालीस ही बतलाता है ! आत्म-विचारमें मन निमग्न नहीं होता; परन्तु विषय-वासनाएँ बहुत प्रबल होती हैं । मुहँ पुपला जाता है, शब्द स्पष्ट नहीं निकलता, विषयकी तृष्णा नहीं छूटती । इस अवस्थामें स्त्री-पुत्रादि पराये हो जाते हैं । हाथ-पैर लूले हो जाते हैं और देहकी सुन्दरता चली जाती है । खाँस खाँस कर रात व्यतीत करता है, सब कुटुम्बी उकता कर कहने लगते हैं कि "अरे अब यह बुड्ढा मरता क्यों नहीं ? क्यों 'जी' रहा है ?" इस प्रकार लोग मुहँ पर ही कहने लगते हैं । यही नहीं, बल्कि उसके मरनेके लिए कोई कोई मानता भी करते हैं !! ऐसी दुर्दशा होने पर वह प्राणी आप-ही-आप बड़-बड़ाते रहता है कि " हे ईश्वर, तू कहाँ है ? मुझे मौत क्यों नहीं देता ? " यह सब दशा होती है तथापि स्त्री-पुत्रादिका मोह नहीं छूटता । नाती, पतोहू, गोरू-बछड़े उसे चाहिए ही । यही वह **अपक्षीयते** विकार है ।

अब छठे विकार 'विनश्यति' के विषयमें लिखा जाता है । **विनश्यति मरण-प्राप्तिको कहते हैं** । उस मरणको दुःखका पहाड़ ही समझिए । प्राणी

जिसे जन्मभर अपना अपना मानता रहता है उस सबका अन्तिम त्याग करके उसे जाना होता है और अन्तमें दाँती बँध जाती है। लोग पास आकर बैठते हैं; उनके मुखकी और वह देखता है और बोलनेके लिए मुहँ खोलना चाहता है; परन्तु शब्द नहीं निकलता। इस कारण प्राणीको असीम यातनाएँ होती हैं! इसी तरह षड्-विकारोंका दुःख होता है। इस दुःखको सदैव अन्तःकरणमें रखना ही सच्चा वैराग्य है। और ऐसा वैराग्य जिसमें आता है उसीकी विषयासक्ति छूटती है और उसमें उदासवृत्ति आती है।

इसी प्रकारका वैराग्य-युक्त सच्छिष्य ज्ञानोपदेशके योग्य है। उसीकी भूमिका तैयार हुई समझना चाहिए और उसीको ज्ञानोपदेश करनेसे यथार्थ फल-प्राप्ति होती है। स्पष्ट ही है कि जमीनको अच्छी तरह बनाये बिना यदि बीजारोपण किया जाता है अथवा योग्य कालमें यदि नहीं बोया जाता तो करोड़ उपाय करनेसे भी फल नहीं होता। यही हाल ज्ञानोपदेशका भी है। गुरु-मुखसे निकलनेवाला शाब्दिक ज्ञान-रूपी बीज वैराग्य और श्रद्धाके परिश्रमसे बने हुए सच्छिष्य-रूपी सत्क्षेत्रमें जब बोया जाता है तभी उससे अपरिमित फल प्राप्त होते हैं। परन्तु वही उत्कृष्ट बीज यदि ऊसर जमीनमें बो दिया जाता है तो फल-वल कुछ नहीं मिलता; किन्तु बीज भी व्यर्थ जाता है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिए कि असच्छिष्यको जो ज्ञान दिया जाता है वह ज्ञान ही नहीं। अच्छा, सच्छिष्य-रूपी वृक्ष बन भी गया और शास्त्र-जलसे उसे सिंचित भी किया तथापि यदि वैराग्य-ऋतुकी बहारसे वह वृक्ष न लह-लहाया तो बोध-रूप फल उसमें कदापि नहीं आ सकते। वैरागी सच्छिष्य हीके मन पर ज्ञानोपदेश बैठता है और इसीसे फल निकल सकता है। वैराग्य अखण्ड होना चाहिए। दुःख-समयमें सभीको वैराग्य आ जाता है; परन्तु सुखके दिन आते ही मनुष्य विषयासक्त हो जाता है। ऐसा खंडित वैरा-

ग्य उपयोगी नहीं। जिस वैराग्यका किसी अवस्थामें भी भंग नहीं होता और जिसे यदि छोड़ना भी चाहते हैं तो वह और भी पीछे लगता है वही अखण्ड वैराग्य है। पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार पर-पुरुषसे सर्वदा विमुख रहती है उसी प्रकार अखंड वैराग्य-युक्त शिष्य विषय-विमुख रहता है। स्पष्ट ही है कि विषसे राँधे हुए षट् रस-मय भोजन कौन ग्रहण करेगा? चाहे कोई पैरों पड़ कर उस भोजनके ग्रहण करनेके लिए प्रार्थना करने लगे तथापि उस भोजनको कोई नहीं छुएगा। इसी प्रकार सम्पूर्ण विषयोपभोगका परिणाम दुःख-मय समझ कर शिष्यके मनमें उसके विषयमें तिरस्कार उत्पन्न होता है। अस्तु।

शिष्यको शास्त्र-व्युत्पत्ति हो गई और गुरूपदेश भी मिल गया तथापि—

ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवला।

—योगवासिष्ठ।

इस वचनके अनुसार उसे सत्य-बोध होनेके लिए उसमें शुद्ध बुद्धिका होना आवश्यक है। वेदान्त-दृष्टिसे जिस पुरुषकी मति शुद्ध हो गई है उसे आप व्यवहार-मार्गकी ओर चाहे जितना खींचिए वह उदास ही रहेगा और सच्छास्त्र-श्रवण आदिके जितने प्रसंग आवेंगे उनको वह कभी टलने नहीं देगा। यह सत्कार्य-बुद्धि पूर्व-संस्कारके कारण ही उत्पन्न होती है और इस सद्बुद्धिके लिए मनुष्य अपना आप ही कारण होता है, यह बात—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः॥

इस साधारण गीता-वाक्यसे स्पष्ट है। जो स्वयं ही अपने आत्माको जीत लेता है उसका आत्मा उसका बन्धु हो जाता है और जो अपने आत्माको जीत नहीं सकता उसका आत्मा उसीका शत्रु हो जाता है। इस प्रकार जब शिष्यकी मति शुद्ध हो जाती है तब साधन-चतुष्टय उसे आप-ही-

आप प्राप्त हो जाता है और गुरु-बोधसे तत्काल उसे आत्म-साक्षात्कार होता है । इस पर सहज ही यह शंका उठती है कि जब शास्त्र-व्युत्पत्तिके अन्तरंग साधनसे बोध हो जाता है और सद्गुरु-दर्शनसे स्व-स्वरूप प्राप्त हो जाता है तब वह कथन कैसे संगत होगा कि आत्म-प्राप्तिके लिए शिष्यकी केवल शुद्ध बुद्धि होनी चाहिए ? क्या आत्मा बाह्य साधनोंके बिना बिलकुल ही अप्रकाशित है ? इस शंकाका समाधान यह है कि आत्मा स्वयं-प्रकाश-रूप है, यह बात निर्विवाद है, तथापि शुद्ध-बुद्धि अवश्य होनी चाहिए । अच्छा, अब हम उदाहरणसे यह बात और भी स्पष्ट करते हैं । गोलेकी बारूदमें अग्निका स्पर्श होने पर आवाज होती है; परन्तु यदि वह बारूद तीक्ष्ण न होगी तो क्या उपयोग हो सकता है ? यही हाल शुद्ध-बुद्धि और गुरु-वाक्यका है । शुद्ध-बुद्धि ही बारूद है और गुरु-वाक्य अग्निके समान है । बुद्धि यदि शुद्ध न होगी तो गुरु-वाक्य क्या करेगा ? शिष्य-प्रज्ञा यदि शुद्ध न होगी तो अज्ञान और संशयका नाश नहीं होगा । शुद्ध बुद्धिसे क्षणार्धमें आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है ।

इस आत्मज्ञानका सामर्थ्य बहुत ही बड़ा है और जहाँ वह एक-बार प्राप्त हो गया कि फिर अभंग हो जाता है अर्थात् फिर वह कभी नाश नहीं होता । यह दशा अन्य शास्त्रोंकी नहीं है । सम्पूर्ण बाह्य कला अर्थात् अनात्म-विद्या अनभ्याससे नष्ट हो जाती हैं । परन्तु यह आत्म-विद्या एक-बार प्राप्त हो जाने पर फिर दिन-दिन बढ़ती ही जाती है, यह बात—

सर्वा बहिःकला जन्तोरनभ्यासेन नश्यति ।
इयं ज्ञानकला राम सकृज्जाताभिवर्द्धते ॥

—योगवासिष्ठ ।

इस वचनसे स्पष्ट होती है । वेद, शास्त्र, स्तोत्र इत्यादिका चाहे जितना अध्ययन किया जाय; परन्तु यदि उनका अध्ययन छूट गया तो फिर उन सब पर पानी पड़ जाता है । पर आत्म-विद्याका वह हाल नहीं है ।

आत्मा यद्यपि स्वयं प्रकाश-मय है तथापि सद्गुरु-वचनके बिना उसका प्रकाश नहीं होता। एक-बार दस यात्री एक नदी पार करके यह जाननेके लिए कि सब आ गये या नहीं, गणना करने लगे। गिननेवाला अपनेको छोड़ कर नौको गिनता था, इस कारण दसवेंका पता ही न चलता था। अत एव सब प्रवासी बड़ी चिन्तामें पड़े कि एक आदमी डूब तो नहीं गया। इतने हीमें अचानक एक और पथिक आ निकला। उसे जब यह बात मालूम हुई तो उसने सबको खड़ा करके नौ मनुष्योंको गिना दिया और प्रत्येकको यह समझा दिया कि 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् दसवाँ तू ही है। उसने उनको समझा दिया कि तुममेंसे प्रत्येक अपनेको गिनना भूल जाता है और इसी लिए यह गड़बड़ पड़ती है। यह बात समझ जाने पर उनका अज्ञान और चिन्ता दूर हो गई और वे सब अपने मार्गमें लगे। बस यही दशा आत्मज्ञानकी भी है। गुरु-कृपाके बिना आत्मज्ञानकी मुख्य पहचान नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य 'सोऽहं' की भावना भूल कर शोक-निमग्न हो जाता है। वह शोक अज्ञानके कारण ही होता है। जहाँ वह अज्ञान दूर हुआ कि बस फिर अपनेको अपना मिल जाता है। इसके लिए अनेक व्यावहारिक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कभी कभी लेखनीके कान पर रहते हुए भी मुहर्रिर लोग भ्रमसे इधर उधर ढूँढ़ने लगते हैं। परन्तु उसके मिलने पर उन्हें परम आनन्द होता है। इसी प्रकार अज्ञान-भ्रम नष्ट होने पर स्व-स्वरूप-प्राप्ति होती है।

यह वैराग्य-प्रकरण मानो वैदिक धर्म-तत्त्वकी नीव ही है। इस विषयमें जो निरूपण किया गया उसका तात्पर्यार्थ यह है कि आत्मज्ञान होनेके लिए पूर्ण वैराग्यको छोड़ कर अन्य साधन नहीं है। वैराग्यके बिना इन्द्रियाँ अन्तर्मुख नहीं होतीं, विवेक-ज्ञान नहीं उपजता और ईश्वर-विषयक-भक्ति भी नहीं उत्पन्न होती। सच्चा वैराग्य आने पर शांति, सुख आदि सब प्राप्त होते हैं। अन्य किसी साधनसे भी स्व-स्वरूप-प्राप्ति नहीं होती।

न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः ।

—नारायणोपनिषद् ।

अमृतत्व अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कर्मोंके करने, पुत्र-लाभ होने अथवा धन-सम्पन्नतासे नहीं होती; किन्तु केवल विषय-त्यागसे ही मोक्ष-प्राप्ति होती है, यह वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त है। पुत्र-लाभसे बहुत होगा तो स्वर्ग-लाभ होगा; मोक्ष नहीं मिल सकता। क्योंकि वह अज्ञानकी निवृत्ति हुए भी सर्वथा अप्राप्त है। ज्ञानोत्पत्तिका मुख्य मार्ग त्याग और ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय एक वैराग्य ही है। परमार्थ-प्राप्ति कुछ दरवाजे परकी भाजी नहीं है। वह मार्ग बड़ा ही विकट है। ऊपर बतलाये हुए पूर्व सुकृत, चित्त-शुद्धि इत्यादि अनेक संस्कारोंकी उसके लिए आवश्यकता है।

आधुनिक कालमें उत्पन्न होनेवाले धर्म-पंथोंकी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तब जान पड़ता है कि धर्मकी सिर्फ हँसी हो रही है। जिसे देखिए वही एक दम ईश्वर-प्राप्तिकी अपेक्षा करता है। घरसे उठ कर, मन्दिर, मसजिद, अग्यारी अथवा चर्चमें जा बैठते ही जिसे देखिए वही समझता है कि भक्ति, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि सब परमार्थ-साधनोंका निधान हाथ आ गया। और वेद-प्रतिपाद्य मार्गको तो आधुनिक विद्वान् व्यर्थका ढकोसला समझते हैं। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। आर्योंके शास्त्रोंको देखनेसे जान पड़ता है कि मनुष्यको विषयोंसे और शरीरसे ज्यों ज्यों घृणा होती जाती है त्यों त्यों आत्म-प्राप्तिके सच्चे मार्ग देख पड़ने लगते हैं। शरीरसे जितना ही प्रेम बढ़ाया जाता है उतनी ही आत्मज्ञान-प्राप्तिमें बाधा उपस्थित होती है। शरीर और आत्माके धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। प्लेटो नामक प्राचीन ग्रीक तत्त्ववेत्ताने स्पष्ट कहा है कि "आत्मा सर्वदा शरीरसे बाहर निकलनेका प्रयत्न किया करता है। क्योंकि शरीर उसे जेलखाना मालूम होता है। शरीरकी पुष्टि करने और उसकी अभिलाषाएँ बढ़ानेमें उस जेलखानेके बन्धन और भी दृढ़ होते हैं।" यह प्लेटोका

तत्त्व आर्य-धर्मशास्त्रके अनुसार ही है । शरीरकी प्रतिष्ठा नहीं होने देंगे । शीतोष्णादि द्वन्द्वोंकी मार सहन करेंगे और तपस्या करके आत्माकी पुष्टि करेंगे ! वह यदि पुष्ट होता जाता है तो उसकी स्व-प्रकाशता आप-ही-आप दृष्टि पड़ने लगती है। ये सब बातें होनेके लिए पहले वैराग्य होना ही चाहिए और इसी लिए योगवासिष्ठमें वैराग्यको आदि स्थान दिया गया है। आधुनिक धर्म-पंथोंको निकालनेवाले लोगोंने मुक्तिको मानो अपनी सहेली बना लिया है । रास्ते पर भजन करनेवाले लोगोंका कहना है कि रेलकी टिकट लेने पर जैसे वह एक स्थानसे दूसरे स्थानको अचूक पहुँचा देती है उसी प्रकार धर्मान्तर संस्कारके समयकी जल-सिंचन-विधि होने पर मुक्तिका खजाना हाथ आ जाता है; परन्तु यह केवल बकबक है । मुक्ति कुछ ऐसी रास्ते पर नहीं रक्खी है । उसे प्राप्त करनेके लिए आर्य-धर्म-तत्त्वानुसार विषय-त्याग करके देहाभिमान नष्ट करना पड़ता है और सुख-दुःखादि द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति शरीरमें लानी पड़ती है, इसी प्रकार-के अनेक तप करने पड़ते हैं । वे तप किये बिना मुक्तिकी अपेक्षा करना व्यर्थ है ।

दूसरा प्रकरण।

जगन्मिथ्यात्व।

रज्जुज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति॥

—योगवासिष्ठ।

वैराग्य निरूपणके बाद योगवासिष्ठमें जगन्मिथ्यात्वके विषयमें विचार किया गया है। वैराग्य और जगन्मिथ्यात्वका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बातका जब एक-बार विश्वास हो जाता है कि संसार असत्य है तभी वैराग्य दृढ़ होता है। वैराग्यके बिना ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती और आत्मज्ञानके बिना मनुष्यका जीवन बिलकुल व्यर्थ है। चाण्डाल-गृहमें भिक्षा माँग कर उदर निर्वाह करना अच्छा है; परन्तु आत्मज्ञान न होनेके कारण प्राप्त होनेवाली मूर्खतामें रहना अत्यन्त बुरा है। यह बात बड़ों बड़ोंने मानी है। जगत्के मिथ्या होनेका सिद्धान्त मनमें पूर्णतया बैठना बहुत कठिन है; क्योंकि इस विषयका विवेचन करनेमें अनेक शास्त्रोंका और दर्शनोंका सम्बन्ध आता है और उन सबका ज्ञान होना चाहिए। किसी एक शास्त्रके प्रमेयोंकी जानकारी प्राप्त कर लेना कदाचित् सहज होगा; परन्तु जिस विषयमें अनेक शास्त्रोंके तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है वह विषय अवश्य ही साधारण मनुष्योंकी बुद्धिसे बाहर होता है; फिर यह वेदान्तका विषय तो बहुत ही गूढ़ है। उसका विवेचन करनेके लिए प्राचीन न्याय, मीमांसा इत्यादि दर्शनोंमें जो प्रौढ़ युक्ति-वाद बतलाये गये हैं उनका समझ लेना बहुत ही आवश्यक है। प्रसिद्ध लार्ड बेकन के "Advancement of Learning" (विद्याका उत्कर्ष) नामक

श्रेष्ठ ग्रन्थका जिन्होंने परिशीलन किया है उन्हें इस प्रकारके विषयकी जानकारी अवश्य ही होगी ।

वेदान्त-शास्त्रका सिद्धान्त है कि इस जगत् अर्थात् प्रपंचकी उत्पत्ति और संहारका कारण केवल यह हमारा मन ही है । मनकी शान्ति होने पर संसार-भ्रम नष्ट हो जाता है और मनका उदय होने पर जगत्का उदय होता है । इसका उत्तम दृष्टान्त यह है कि हम बिछौने पर सोते रहते हैं, वहाँसे हिलते नहीं अथवा अपने किसी अवयवसे कोई भी हलचल नहीं करते; तथापि मनकी चंचलताके कारण नाना प्रकारके पदार्थ स्वप्नमें दृष्टि पड़ते हैं। हमारी आँखें बन्द रहती हैं तथापि हमें हाथी, घोड़े इत्यादि अनेक पदार्थोंके दृश्य देख पड़ते हैं; हम हाथ-पैर आदि नहीं चलाते तथापि स्वप्न-सृष्टिमें हम चाहे जहाँ जाते-आते हैं और चाहे जो देते-लेते हैं; परन्तु हमारे जागते ही वह सब व्यापार नष्ट हो जाता है । बस यही दशा इस संसारकी है ।

चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारस्योदयक्षयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनिमेषं मनः कुरु ॥

—योगवासिष्ठ ।

मनके उदय और मनके ही अस्तसे संसारका उदय और अस्त होता है । अत एव वासना और प्राणका आकर्षण करके प्रत्येकको मनके अस्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए । मन प्रपंचके विषयमें जितना ही उन्मुख होता है उतना ही संसारका उदय होता है और स्वरूपका विस्मरण होता जाता है । इसी प्रकार मन प्रपंचसे ज्यों ज्यों विमुख होता जाता है त्यों त्यों प्रपंच मिथ्या होता जाता है और स्व-स्वरूपकी पहचान होती जाती है । इस लिए मनकी अनिमेषता प्राप्त होनेके लिए प्राण और वासनाओंका संरोध करना ही मुख्य उपाय श्रीवसिष्ठने बतलाया है । प्राण और वासनाओंके योगसे मन स्वच्छन्द दौड़ने लगता है । अत एव प्राण निश्चल

होना चाहिए। इससे संकल्प-जाल नष्ट हो जाता है। प्राणके रोकनेसे मन यद्यपि निश्चल हो जाता है तथापि वासनाके अकस्मात् प्रबल होनेसे चित्त फिर चंचल होता है। क्योंकि वासनाका स्वरूप ही बड़ा विलक्षण है। पूर्व-कर्मोंके संस्कारसे अनेक पदार्थोंकी मनमें जो स्फूर्ति होती है यही वासना है। मनके निश्चल होने पर भी घट-पटादि पदार्थ मनमें आने लगते और वही संस्कार वासना-रूपसे फिर उठता है अथवा देहमें क्रोध, लोभ इत्यादि मनोविकारोंके प्रबल होनेसे मन चेष्टाको प्राप्त होकर वह पदार्थाकार बन जाता है। तथा प्राणी-मात्रने एक ही बार क्यों न हो, जो कुछ देखा होगा, सुना होगा अथवा अनुभव किया होगा वही उस संस्कारके कारण उनके स्मरणमें आवेगा और वासना-रूपसे अन्तःकरणमें दृढ़ रहेगा। अत एव यदि मनको निश्चल करना हो तो प्राण और वासनाका निरोध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य सारे उपाय व्यर्थ हैं। स्व-स्वरूपका जब विस्मरण होने लगता है तब अन्तःकरण बहिर्मुख होने लगता है और चित्त-वृत्तिमें विकल्प उत्पन्न होनेके कारण संसार-व्यथा उपजने लगती है। एक क्षण-मात्र भी यदि आत्म-स्वरूपका विस्मरण हो जाता है तो बड़े बड़े अनर्थ होते हैं। यह वेदान्त-शास्त्रका कथन है। इसका सारांश यही है कि प्रपंच सत्य मालूम होने लगता है। परन्तु सम्यक् विचार करने पर वही प्रपंच भस्म हो जाता है। रस्सीमें हमें सर्पका भ्रम होता है। परन्तु उसी रज्जु (रस्सी) का सत्य ज्ञान हो जाने पर सर्प-भ्रान्ति दूर हो जाती है। दूसरा उत्तम उदाहरण हौवेका है। छोटे लड़केसे यदि हौवाका नाम ले दिया जाता है तो वह भय-चकित होकर घबड़ा जाता है। हौवा वास्तवमें कोई चीज नहीं है तथापि छोटा बच्चा जब तक उसके विषयमें अज्ञान रहता है तब तक उसे डर ही मालूम होता है। जहाँ उसे मालूम हो गया कि हौवा कोई चीज नहीं है कि बस तुरन्त ही उसका डर चला जाता है। बस, संसार-रूपी हौवाका भी यही

हाल है। जब तक अज्ञान है तभी तक संसार सत्य जान पड़ता है; परन्तु सम्यक् विचार करते ही इस हौवाका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। इसी संसार-भ्रमको वेदान्त-शास्त्रमें माया कहते हैं। इस मायामें बड़ी विचित्रता है।

ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति ॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् यह विश्व-रूप माया स्व-नाशके कारण आनन्द देनेवाली और सम्यक्-दर्शनसे नष्ट होनेवाली है; परन्तु इस मायाका यह स्वभाव अज्ञ लोगोंके ध्यानमें नहीं आता। मायाके योगसे प्रपंचमें चाहे नाना प्रकारकी घटनाएँ हो जायँ तथापि जल-प्रवाहकी तरह एकको जगह दूसरा आनेके कारण मनुष्य भ्रममें पड़ जाता है; और संसार उसे सत्य मालूम होने लगता है। जल-प्रवाहके अनुसार पानी बराबर बहता रहता है; वह कूड़े-कचरेके साथ आगे चला जाय तथापि उसकी जगह खाली नहीं रहती। क्योंकि पीछे आनेवाला पानी उसकी जगह लेते ही रहता है, इसी कारण यह किसीके ध्यानमें नहीं आता कि प्रवाहका यह पानी चला गया। जल-प्रवाहके इसी दृष्टान्तकी ही तरह दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण अलात-चक्रका है। मसाल हाथमें लेकर उसे चारों ओर फिराने पर जो तेजोवलय देख पड़ता है उसे 'अलात-चक्र' कहते हैं। असली मसाल छोटी ही होती है तथापि उसे गोलाकार फिराने पर उसका तेजोवलय कितना बड़ा देख पड़ता है। परन्तु वास्तवमें वह तेजोवलय मिथ्या है। यही दृष्टान्त जगन्मिथ्यात्वके लिए ठीक ठीक लगते हैं। यद्यपि यह हम देखते हैं कि जगत्की वस्तुएँ नष्ट होती हैं तथापि दूसरी वस्तुएँ उत्पन्न होती रहती हैं, इस कारण वस्तुओंका नाश होना बुद्धिमें नहीं आता और हम जगत्को शाश्वत तथा सत्य ही समझते रहते हैं। ज्ञानके ऊपर मायाका

दृढ़ आच्छादन होनेके कारण ही ऐसा भ्रम होता है। यद्यपि मायाकी ऐसी विचित्रता है तथापि सम्यक् विचार करनेसे वह क्षण हीमें नष्ट हो जाती है, अन्य किसी विचारसे वह नष्ट नहीं होती। जिस कोठरीमें निबिड़ अन्धकार भरा हुआ हो उसमें दीपक लेकर जाइए और फिर अन्धकारको ढूँढ़िए। दीपकके भीतर जाते ही अन्धकारका पता नहीं लगता। यही हाल माया-भ्रमका है। सम्यक् विचार-रूपी दीपकके जलाते ही मायाका अँधेरा नष्ट ही हो जाता है।

माया ज्ञानको पाँच प्रकारसे आच्छादित करती है। उन पाँच प्रकारोंको पातंजल योगशास्त्रमें **पंचकोश** और वेदान्तमें **पंचपर्व** संज्ञा दी गई है। वे पाँच प्रकार ये हैं:—(१) अविद्या, (२) अस्मिता, (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनिवेश। उनके लक्षण इस प्रकार हैं:— जिसके कारण स्व-स्वरूप पर आवरण पड़ जाता है उसे **अविद्या** कहते हैं। देह ही आत्मा है, यह विपरीत बुद्धि होना **अस्मिता** है। देहके तईं अति प्रीति होना **राग** कहलाता है। और प्रीतिके विषय देहके लिए घातक जितने प्रतिकूल पदार्थ होते हैं उनको देख कर क्षोभ-युक्त बुद्धि होनेको **द्वेष** कहते हैं। और देहके विषयमें जो यह चिन्ता होती है कि यह कृश है अथवा स्थूल है, बाल है अथवा वृद्ध है, जीवित है अथवा मृत है—इसे **अभिनिवेश** कहते हैं।

हमारा आत्मा स्व-प्रकाश, निर्मल और निरंजन है। उसके तईं इन पाँच प्रकारके देह-विकारोंका आरोप करना मायाका कर्म है। यह माया सम्पूर्ण विश्वकी मोहिनी है। यह स्व-स्वरूपको भुला कर मोह उत्पन्न करती है। इस मोहका मोहकत्व भी ऐसा विचित्र है कि यद्यपि यह आत्मा इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहा है कि जैसे अनेक मनकोंमें एक सूत हो, तथापि वह मोह इस आत्माको अच्छादित कर डालता है; मनुष्यमें विपरीतका भान उत्पन्न हो जाता है और इस कारण उसका ज्ञान

भ्रष्ट हो जाता है; स्व-स्वरूप जो नित्य ज्ञान है उसके लिए प्रपंचाकार बन जाता है और उसे सत्य मान कर वह दारुण मोहमें फँस जाता है।

वेदान्त-शास्त्रमें यह बात अनेक दृष्टान्तोंसे व्यक्त की गई है कि सम्पूर्ण विश्वमें आत्मा अखण्ड भरा हुआ है। शक्कर चाहे जितने प्रकार की हो; पर मीठा सबका एक ही होगा। दीपक चाहे नाना प्रकारके हों तथापि प्रभा सबकी एक ही होगी। अनेक अग्नियोंकी चिनगारियाँ क्यों न हों; पर उनका विदाहित्व गुण एक ही होगा। अथवा पट चाहे अनेक प्रकारके हों; परन्तु तन्तु एक ही होगा। बस इसी तरह आत्म-स्वरूप एक ही है और वह अखण्ड भरा हुआ है। माया-रूप जगत् सत्य नहीं है।

यदिदं दृश्यते किंचित्तन्नास्ति किमपि स्फुटं।
यथा गंधर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥

—योगवासिष्ठ।

संसारमें जितनी वस्तुएँ द्रग्गोचर होती हैं अथवा किसी भी बहिरिन्द्रियसे जिनका ज्ञान होता है वे सब वस्तुएँ मिथ्या हैं। जिन वस्तुओंको हम कहते हैं कि हैं वे सब वस्तुएँ सम्यक विचारके बाद सत्य नहीं ठहरतीं, यह सिद्धान्त है। इस पर यह शंका हो सकती है कि प्रपंच जब प्रत्यक्ष दीख रहा है तब फिर उसे मिथ्या क्यों कर कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह सब मनुष्यके भ्रमकी करतूत है। जैसे आकाशमें गंधर्वनगरका भास होता है अथवा मारवाड़ देशमें मृग-जलौघका आभास होता है—वास्तवमें वे सत्य नहीं होते—वैसे ही जगत्का सिर्फ भासनेवाला सत्यत्व मिथ्या है।

स्वज्ञानदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुजातयः।
इमास्ताः प्रतिबिंबन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥

—योगवासिष्ठ।

सरोवरके तीरवाले वृक्षोंका प्रतिबिम्ब उस सरोवरमें पड़ता है। वह प्रतिबिम्ब जिस प्रकार वस्तुतः सत्य नहीं है उसी प्रकार स्व-ज्ञान-रूप

दर्पणमें दिखनेवाला जगत्‌का प्रतिबिम्ब भी सत्य नहीं है। इस पर फिर यह शंका होती है कि सरोवरके किनारेके वृक्ष सत्य होते हैं, इसी लिए उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि वे वृक्ष सत्य न होते तो उनकी प्रतीति ही न हुई होती।

इस पर नैयायिकोंका कथन है कि प्रपंच सत्य ही है और इसी लिए उसका भ्रम होता है। हमें शुक्तिका रजत-भ्रम होता है अर्थात् सीपमें जो रूपेका भास होता है वह तीन कारणोंसे होता है। पहला सीपका साधारण ज्ञान हमें होता है, दूसरा उसके पीछे जो एक नील-त्रिकोण भाग होता है उसका ज्ञान हमें नहीं रहता; और तीसरा देशान्तरमें हम जो रूपा देखते हैं उसका स्मरण होता है। इसी प्रकार (१) हमें ब्रह्मका साधारण ज्ञान होता है। (२) उसके विशेष पदार्थका अज्ञान रहता है। (३) प्रपंच जो सत्य है, उसका हमें स्मरण होता है, इसी लिए हमें यह भास होता है कि जगत् सत्य है। हमने यदि सत्य वस्तु देखी होगी तभी उसके साहृश्यकी याद होना सम्भव है। वह यदि हमने नहीं देखी होगी तो उसके साहृश्यका स्मरण होना और उससे भ्रम होना असम्भव है। सारांश नैयायिकोंकी कोटी यह हुई कि प्रपंच सत्य है और इसी लिए उसका भास होता है।

इस पर वेदान्ती लोगोंका यह उत्तर है कि इस प्रकारका भास होनेके लिए सीपका मुख्य ज्ञान होना ही बस होता है। वहाँ अन्य किसी सामग्रीकी भी आवश्यकता नहीं होती। कभी कभी स्वप्नमें हम देखते हैं कि हमारा सिर किसीने काट डाला; परन्तु अपने शिरच्छेदनका अनुभव क्या किसीको होता है? तथा कभी कभी ऐसी भी स्वप्न-चेष्टा होती है कि हमारे पंख फूट आये हैं और हम आकाशमें पक्षियोंकी तरह संचार कर रहे है; परन्तु इसका अनुभव क्या जागृतावस्थामें किसीको होता है। यही हाल जगत्‌के सत्य भासनेका है। नैयायिकोंका यह तत्त्व

कि सादृश्यके बिना भ्रान्ति नहीं होती, टिक नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि प्रपंच ब्रह्मका भास है तो फिर उन दोनोंमें सादृश्य होना चाहिए; परन्तु उनमें किसी प्रकारका भी सादृश्य नहीं है। ब्रह्म निर्गुण, सर्व-व्यापक, स्व-प्रकाश और स्व-संवेद्य अर्थात् आत्मानुभवी है और प्रपंच उसके विरुद्ध सगुण, परिच्छिन्न अर्थात् मर्यादित, पर-प्रकाशित और पर-संवेद्य है। अत एव इस प्रकार जो परस्पर विरुद्ध धर्मकी दो वस्तुएँ हैं उनमें सादृश्य-भ्रम होनेका कोई कारण नहीं। अतः यही मानना चाहिए कि वह भ्रम केवल अज्ञानसे होता है। ब्रह्मके तईं सामान्य या विशेषका भेद हो ही नहीं सकता। क्योंकि वह निस्सामान्य और निर्विशेष है। ब्रह्मके तईं सामान्य और विशेषका भेद यदि मान लिया जाय तोः—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन।

—बृहदारण्यक।

यह श्रुति अप्रमाण हो जायगी और श्रुति विरुद्ध बोलना पाखंड है, अत एव श्रुतिके अनुसार ही चलना चाहिए। यह नहीं है कि ब्रह्मके तईं सामान्य और विशेषका भेद नहीं है। परन्तु वह अर्थ भिन्नत्वसे है। सामान्य शब्दका अर्थ समस्त लेना चाहिए और विशेष शब्दका अर्थ व्यक्त समझना चाहिए। समस्त शब्दसे निर्विकारका अर्थ लेकर व्यक्त शब्दसे प्रपंचाकारका अर्थ समझना चाहिए। विशेषाकारके न रहने पर निर्विशेष सामान्य ही शेष रहता है। इस रीतिसे भ्रमकी सामग्री परब्रह्मके तईं लग सकती है। ब्रह्म सोनेकी तरह निर्विकार है। सोना जैसे सर्वत्र एक ही है, परं अलंकारके रूपसे व्यक्त होता है अर्थात् स्पष्ट और व्यक्ति-रूप होता है, वैसे ही ब्रह्म निर्विकार है और वही प्रपंचाकार भासता है।

इस पर यह शंका होती है कि सोनेका विकार होनेके बाद अलंकार-रूपसे जैसे उसका परिणाम होता है वैसे ही विश्व भी परब्रह्मका परिणाम है। परन्तु ऐसा परिणाम-वाद स्थापित करना यहाँ ठीक नहीं

ज्ञान पड़ता । क्योंकि ब्रह्म विकार-शून्य है और इस कारण उसका परिणाम जगदाकार कभी हो नहीं सकता । एक और बात है । वह यह कि जिस जिस वस्तुका परिणाम होता है वह वह वस्तु भिन्न भिन्न नाम-रूप पाकर नाश हो जाती है । इसके लिए व्यवहारका उत्कृष्ट दृष्टान्त दही है । दूधका जब दही बनता है तब पहलेके उसके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं । श्रुतियोंमें सर्वत्र ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है कि जिसका परिणाम होता है उसका नाश होता है; परन्तु ब्रह्म अविनाशी और अविकारी है । ब्रह्मका यदि प्रपंचाकार परिणाम हुआ होता तो वेदोंने "नेति नेति" इत्यादि शब्दोंसे विश्वका निषेध कदापि न किया होता ।

अपूर्वं, अनपरं, अनन्तरं, अबाह्यं, अस्थूलं, अनणु, अदीर्घं, अन्हृस्वं,

—बृहदारण्यक ।

इस प्रकार वेदमें ब्रह्मका वर्णन है और प्रपंचका स्पष्ट निषेध किया गया है ।

अपूर्व, अनपरं, अस्थूल इत्यादि विशेषणोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म और जगत्में किसी प्रकारका भी सादृश्य नहीं है और प्रपंचको ब्रह्मका परिणाम बतलाना मिथ्या ठहरता है। वेदान्ती मानते हैं कि जगत्के सत्यत्वके विषयमें जो भ्रम होता है उसका कारण केवल अज्ञान ही है । यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ज्ञान और अज्ञान ही सुख-दुःख तथा मोक्ष-बन्धनके कारण हैं । ज्ञानसे सुख और अज्ञानसे दुःख होता है । अज्ञानसे बन्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष-प्राप्ति होती है । मनकी चंचलताके कारण विश्व-प्रतीति उपजती है ।

मनः संपद्यते तस्मान्महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारं तरंगा इव वारिधेः ॥

—योगवासिष्ठ ।

ब्रह्म जो परमात्म-स्वरूप है, उससे मनकी उत्पत्ति होती है और

मनकी उत्पत्तिके कारण विश्व-प्रतीति होती है। इस पर यह शंका होती है कि जब ब्रह्म स्थिर और निश्चल है तब उससे अस्थिर और चंचल, अत एव विरुद्ध गुणके मनकी उत्पत्ति क्यों कर सम्भव है ? इस शंकाका उत्तर यह है कि स्थिर पदार्थसे भी चंचल पदार्थकी उत्पत्ति होती है। समुद्रका ही उदाहरण लीजिए। वह स्थिर, गम्भीर और निश्चल है, तथापि उससे क्षणिक और अस्थिर बुलबुले उत्पन्न होते हैं। मन बाजीगरकी तरह नाना प्रकारके संकल्प करके जगत्में विचित्रता लाता है। मन यदि कल्पना ही न करे तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। मन जब स्व-स्वरूपमें निमग्न रहता है तब कोई भी विकल्प उत्पन्न नहीं होते, इसका अनुभव आत्मानुभवी योगियोंको होता ही है। सर्व-साधारण लोगोंको इसका अनुभव सुषुप्ति कालमें होता है। शरीरमें "पुरीतति" नामक एक नाड़ी है। मन सुषुप्ति कालमें उसी नाड़ीमें लीन रहता है। यह बात न्याय, वैशेषिक दर्शनमें कही है। उस दशामें एक आत्मा ही शरीरमें स्थिर रहता है और मनके अभावके कारण जगत्का अस्तित्व नहीं रहता। यह अनुभव सभीको है। अब यदि जगत् सत्य होता तो सुषुप्ति कालमें भी वह भासमान हुआ होता। क्योंकि जो वस्तु सत्य है उसका किसी हालतमें भी नाश नहीं हो सकता। परन्तु जगत्का यह हाल नहीं है। वह जागृतावस्थामें एक प्रकारसे देख पड़ता है; स्वप्नावस्थामें भिन्न प्रकारका बन जाता है; और सुषुप्ति कालमें बिलकुल ही नहीं रहता। अत एव इस प्रकार जो भिन्न भिन्न स्वरूपोंसे देख पड़नेवाला जगत् है वह सत्य क्यों कर कहा जा सकता है ? वह नश्वर ही वस्तु है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सोनेके दृष्टान्तसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है कि ब्रह्मके तईं प्रपंचका आभास कैसे होता है। नाना प्रकारके अलंकार सुवर्णसे ही बनाये जाते हैं; परन्तु अविद्वान् मनुष्य प्रत्येक अलंकारके विषयमें भिन्न

भिन्न समझ रखता है और भिन्न भिन्न नामों तथा आकारोंसे वह उसे पहचानता है। उसे जिस अलंकारका जो नाम और जो आकार देख पड़ता है वही यथार्थ जान पड़ता है; परन्तु अलंकारका मुख्य अधिष्ठान जो सोना है उसमें उसकी बुद्धि नहीं प्रवेश करती। दृष्टिसे यद्यपि प्रत्यक्ष सुवर्ण देख पड़ता है; तथापि अविद्वान्की चित्त-वृत्ति सुवर्णाकार नहीं होती, वह सिर्फ नाम-रूपकी भ्रान्तिमें डूबा रहता है और यद्यपि प्रत्यक्ष यथार्थ वस्तु-दर्शन हो रहा है तथापि उसके चित्तको और ही कुछ विपरीत भास होता है। बस इसी प्रकार यद्यपि आत्मा अपरोक्ष और स्वतःसिद्ध है तथापि मनुष्य भ्रममें पड़ कर नाम-रूपात्मक विरुद्ध पदार्थोंको ही सत्य समझता है। अर्थात् केवल नाम-रूपके कारण भिन्न भिन्न पदार्थ सत्य मान कर मुख्य आत्म-स्वरूप वस्तुको मनुष्य भूल जाता है। अत एव वेदान्ती कहते हैं कि यदि शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति करना हो तो तप इत्यादि परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं। मनुष्यको सिर्फ नाम-रूप छोड़ कर रहना चाहिए; फिर सब शुद्ध ब्रह्म ही है। वेदान्त शास्त्रमें नाम-पंचककी व्याप्ति इस प्रकार वर्णन की गई है कि—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयं।

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ब्रह्म सत्ता-प्रकाश-सुखात्मक है और जगत् नाम-रूपात्मक है। इस भूतल पर जितने सुन्दर शहर, हवेलियाँ, वृक्ष इत्यादि देख पड़ते हैं और जिनके कारण पृथ्वीको विचित्रता प्राप्त हुई है उनमेंसे अज्ञानी लोग प्रत्येकको सत्य ही मानते हैं। अज्ञानके कारण उन्हें यह नहीं समझ पड़ता कि ये सब वस्तुएँ असलमें पृथ्वी ही हैं और इस कारण उनका भ्रम और भी बढ़ता ही जाता है। परन्तु जो परमार्थ-दृष्टा है वह क्या शहर, क्या हवेलियाँ और क्या वनोपवन—सबको पृथ्वीमय

ही समझता है । Reduce things to their first principles, यह राजनीतिका तत्त्व है, यही वेदान्त-शास्त्रमें भी है। पृथ्वी पर देख पड़नेवाले सब पदार्थों पर लदे हुए नामरूप-विकार छोड़ कर उनका मूल ढूँढ़ना चाहिए, फिर सभी ब्रह्म है।

एक विचित्रता और है। वह यह कि जिसकी जैसी अन्त-र्वृत्ति होती है तद्रूप उसे सारी वस्तुएँ दिखने लगती हैं। जो तृप्त है उसे सारा विश्व तृप्त देख पड़ता है, क्षुधितको सब क्षुधित ही देख पड़ता है। अंधेको चाहे राज-भवनमें लेजा कर बैठा दीजिए; पर वह यही समझता है कि मैं किसी अंधकूप हीमें पड़ा हूँ। अथवा जो धनवान् होता है वह समझता है कि लोग हमारी ही तरह रोज घी-शक्कर क्यों नहीं उड़ाते? यही हाल अज्ञानीका भी है। उसे यह सारा संसार दुःख-मय प्रतीत होता है; परन्तु जिसे स्व-स्वरूपकी पहचान है उसे सब आनन्द-मय ही देख पड़ता है। हारेस वानपोल नामक महान् तत्त्ववेत्ताने अँगरेजीमें यह सिद्धान्त लिखा है कि—

Life is a comedy to those who think;
But life is a tragedy to those who feel.

सब सुखमय है योगीको,
सब दुखमय है रोगीको।

इन अँगरेजी और हिन्दी दोनों पद्योंका तात्पर्य एक ही है। स्व-स्वरूपके विषयमें जो अंधा है उसे यह सारा विश्व दुःख-रूप है। अंधेको जो राज-मन्दिर अंधकूप-सा जान पड़ता है वही राज-मन्दिर नेत्रवाले (ज्ञानी) को प्रकाश-मय और मनोहर देख पड़ता है। तात्पर्य यह कि यह विश्व ज्ञाताओंको प्रकाश-रूप और सद्रूप देख पड़ता है।

इस सिद्धान्त पर कि ब्रह्मसे विश्वोत्पत्ति होती है, एक और शंका उठती है कि जब शुद्ध ब्रह्म अजड़ अर्थात् अविनाशी है तब फिर यह

कथन कि उस ब्रह्मसे इस विश्व-रूपी जड़ वस्तुकी उत्पत्ति होती है, क्यों कर सम्भव हो सकता है ? इसका उत्तर अगले श्लोकमें है:—

यथा विशुद्ध आकाशे सहसैवाभ्रमंडलम्।
भूत्वा विलीयते तद्वदात्मनीहाखिलं जगत्॥
—योगवासिष्ठ।

आकाश यद्यपि वस्तुतः निर्मल, अनन्त, अगाध और सर्व-व्यापक है तथापि उसमें अकस्मात् अभ्र-मण्डल उत्पन्न होते हैं और कुछ कालमें वे बिला जाते हैं। बादल आते हैं और जाते हैं; पर अन्तमें आकाश जैसाका तैसा ही अभंग रहता है। बादलोंका मैल आकाशमें नहीं लगता अथवा बादलोंकी और उसकी एक-रूपता भी नहीं होती। बादल सिर्फ आते हैं और जाते हैं। इसी प्रकार शुद्ध आत्माके तईं जड़ विश्वका आभास होता है और कुछ काल बाद जब विश्वका लय हो जाता है तब भी आत्मा जैसाका तैसा ही शुद्ध बना रहता है। तथा रूप-रहित और विशुद्ध ब्रह्म पर अज्ञानके कारण विश्वका आरोप चाहे हो जाय तथापि उसका लेप ब्रह्म पर नहीं लग सकता। वेदान्ती लोगोंका कथन है कि यह कहना कि विश्व है, मानो वाणीकी विटम्बना करना है। क्योंकि—

आदित्याव्यतिरेकेण रश्मयो येन भाविताः।
आदित्या एव ते तस्य निर्विकल्पः स उच्यते॥
—योगवासिष्ठ।

जो जिसके बिना नहीं हो उसे तद्वस्तु-रूप ही मानना चाहिए। सूर्यके बिना यदि किरणें हो ही नहीं सकतीं तो सूर्यको किरण-रूप ही मानना चाहिए। तथा सूर्यका उदय होने पर किरणें दृष्टि पड़ती हैं और सूर्यास्त होने पर किरणें भी अस्त हो जाती हैं। अत एव किरण सूर्य-रूप ही जानना चाहिए। उन्हें कदापि अलग नहीं मान सकते। यह ज्ञान जिसे निश्चयात्मक हो जाय उसीको कहना चाहिए कि रवि-किरणोंका ज्ञान हो गया। बस ब्रह्म और विश्वके लिए भी यही दृष्टान्त दिया जा

सकता है । एक ब्रह्म सर्वत्र भरा हुआ है । विश्व यदि उससे भिन्न भास हो तो यह भ्रम मुख्य अधिष्ठानके तईं नहीं हो सकता; किन्तु यह समझना चाहिए कि यह सिर्फ आरोपित है । अत एव जो ब्रह्म और विश्वमें द्वैत नहीं समझता वही निर्विकल्प और सर्वज्ञ है तथा वही ब्रह्मानन्द भोगनेका पात्र है । निर्विकल्प समाधिकी पहचान यही समझना चाहिए कि उस दशामें ब्रह्मके अतिरिक्त विश्वकी स्फूर्ति ही नहीं होती । यदि कोई कहे कि मैं मनको रोक कर शान्त रहूँगा तो उसके लिए यह कहना कि उसे समाधि-सुख प्राप्त हुआ, मानो शब्दकी विटम्बना करना है ।

यथा न तोयतो भिन्नाः फेनोर्मिहिमबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥

—योगवासिष्ठ ।

पानी भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न रूपसे देख पड़ता है । अर्थात् कभी फेनके रूपसे, कभी लहरके रूपसे और कभी बुलबुलेके रूपसे वह देख पड़ता है; तथापि असलमें वह सब पानी ही है । समुद्रका पानी जिस समय बढ़ता है उस समय जान पड़ता है कि मानो लहरोंके रूपसे उसमें द्वैत आ गया । परन्तु पीछेसे जब वह सपाट हो जाता है तब वहाँ यह भास नहीं रहता कि यहाँ कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न हुई है । जो वस्तु आदि-अन्तमें नहीं रहती; किन्तु बीच हीमें जिसका भास होता है वह वस्तु पहलीसे भिन्न नहीं होनी चाहिए । उसकी मध्य-स्थितिमें जो भिन्नताका भास होता है उसे वेदान्तमें " नाम-रूपका दृश्य " कहा गया है । उस भ्रमका निरास होने पर पानीका वह कल्पित द्वैत अवश्य ही नहीं रहता । और उस जगह एक पानीको छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं रहता । बस सर्व-व्यापक ब्रह्मकी भी यही पानीकी-सी स्थिति है । विश्व यद्यपि भिन्न देख पड़ने लगता है तथापि वह ब्रह्म ही है । वस्तु एक होने पर भी जो भिन्न भिन्न रूपोंसे देख पड़ती है सो केवल भ्रमका

कार्य है । तात्पर्य यही कि अधिष्ठान वस्तुके तई जो दूसरी वस्तु अध्यारोपित रहती है वह उस असली अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती । यह सिद्धान्त है । पहले मृत्तिका और उससे बना हुआ घट, तन्तु और पट, सुवर्ण और अलंकार तथा पानी और लहर इत्यादिके जो समर्पक दृष्टान्त दिये गये हैं उनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है । ब्रह्मके तई जो जगत्का भास होता है उसे वेदान्तमें **विवर्तवाद** कहते हैं । मूल-रूप जैसाका तैसा स्थिर रहते हुए सादृश्यके कारण उसके विषयमें दूसरी वस्तुकी भ्रान्ति होना **विवर्त** कहलाता है । इसके लिए सीपका उदाहरण लीजिए । सीप जैसीकी तैसी ही बनी रहती है; परन्तु उसमें मिथ्या चाँदीकी कल्पना होने लगती है । सीपके तई परिणामवाद नहीं लग सकता; क्योंकि उसका स्वरूप बिलकुल भिन्न है । एक वस्तुका रूपान्तर होकर अर्थात् अधिष्ठान नष्ट होकर उसकी जगह अन्य वस्तु उत्पन्न होना—जैसे दूधका दही बनना—इसे **परिणामवाद** कहना चाहिए । दूधका जो दही बनता है उसमें प्रथम दूधका रूप और मध्यमें तथा अन्तमें भिन्न रूप बनता है । विवर्तवादमें ऐसा नहीं होता । उसमें सीपकी तरह अधिष्ठान निर्बाध बना रहता है । सीपमें चाँदीका भास केवल भ्रमके कारण होता है । इस सम्पूर्ण विवेचनसे मनमें यह विश्वास हो जाता है कि यह सर्व जगत् मिथ्या है और यह विचार दृढ़ होने पर शरीरमें वैराग्य होता है और वैराग्य होने पर "जीवन्मुक्ति" नामक जिस अवस्थाका निरूपण आगे होनेवाला है, वह आप-ही-आप मनुष्यके गलेमें माला पहना देती है । यहाँ तक जगन्मिथ्यात्वके विषयमें विचार किया गया । अब अगले प्रकरणसे "मनोलय" नामक महत्त्व-पूर्ण भागका प्रारम्भ करते हैं । पाठकोंको ऐसे समयमें जब कि उनका मन प्रशान्त हो, इस विषयका बार-बार मनन करना चाहिए । इससे आध्यात्मिक ज्ञानका लाभ उन्हें अवश्य ही होगा ।

तीसरा प्रकरण।

मनोलय।

आत्मतत्त्वानुबोधेन न संकल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहः ॥

—गौड़पादाचार्य।

वैराग्य प्राप्त होना वेदान्तका मुख्य आधार है। और वैराग्यकी दृढ़ता होनेके लिए सम्पूर्ण विषयोंकी ओर दोष-दृष्टिका होना और प्रपंचका मिथ्या भासना अर्थात् जगन्मिथ्यात्वदर्शन उसके बादका उपाय है कि जिसका विवेचन गत प्रकरणमें किया गया है। अब तीसरी सीढ़ी मनोलय की है उसका विचार करना चाहिए। वैराग्य दृढ़ होनेके लिए सद्गुरुका पाद-संवाहन करना चाहिए। इसके बाद वे कृपा करके जो मार्ग दिखलाते हैं उसका अभ्यास अर्थात् निदिध्यासन करते समय मन और वासनासे बहुत पीड़ा होती है। अत एव मन और वासनाकी शान्ति अवश्य होनी चाहिए। जहाँ सद्गुरुने तत्त्वोपदेश किया और महा-वाक्यके योगसे वह दृढ़ हो गया तथा जहाँ उससे साक्षात्कार होने लगा कि बस सब काम हो जाता है। परन्तु वैसा होनेमें मन और वासना ये दोनों विघ्न डालते हैं और इस कारण असम्भावना, विपरीत-भावना इत्यादि क्षुब्ध होते हैं। उनकी शान्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि उपायोंसे करनी पड़ती है। असम्भावना दो प्रकारकी है। एक प्रमाणासम्भावना और दूसरी प्रमेयासम्भावना। कोई वस्तु जिन प्रमाणोंसे सिद्ध होती है वे प्रमाण ही यथार्थ नहीं है—ऐसी जो आशंका होती है उसे **प्रमाणासम्भावना** कहते हैं, और कोई बात यद्यपि वह अनेक प्रमाणोंसे

सिद्ध हो चुकी है तथापि यह कैसे कहा जाय कि वह बात सत्य ही है—ऐसी जो शंका होती है उसे **प्रेमयासम्भावना** कहते हैं। तथा किसी वस्तुकी सत्य स्थितिके विरुद्ध कल्पना करनेको **विपरीत-भावना** कहते हैं। ये जो तीन प्रकारकी भावनाएँ हैं उनको दूर करनेके लिए एकाग्र चित्त करके और प्रपंचका निरसन करके निदिध्यासन करना पड़ता है। स्व-स्वरूपका अनुसन्धान करने लगने पर मन और वासना ये दोनों विषारी नागिनें फुसकारती हुई बीचमें विघ्न डालती हैं और प्रपंच-भान उत्पन्न करती हैं। इस लिए मनोलय और वासना-शान्तिका अभ्यास करना पड़ता है। और इसीसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है। अन्य चाहे जो उपाय किये जायँ कोई लाभ नहीं होता। जीवन्मुक्ति जो सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्रमें श्रेष्ठ है, उसकी प्राप्ति मनोलयके ही मार्गसे ही होती है। मानवी प्राणीको सुख-दुःखका जो अनुभव होता है वह मन और वासना-के कारण ही होता है। अत एव इन दोनोंका क्षय करना अत्यन्त आवश्यक है।

एष स्वभावाभिमतः स्वतः संकल्प्य धावति।
चेतसा स्वयमम्लानस्तदेव मन आत्मनः॥

—योगवासिष्ठ।

इस श्लोकमें मनका लक्षण बतलाया गया है। आत्माको जो पदार्थ स्वभावतः प्रिय लगते हैं और अज्ञानके योगसे जो रमणीय भासते हैं वे पदार्थ ग्राह्य हैं—यह संकल्प करके उनके पीछे जो स्वयं दौड़ता जाता है वह मन है। आत्मा स्वयं प्रकाशमय और जैसाका तैसा ही है; परन्तु कोई-न-कोई संकल्प करके जो इधर उधर भटकता फिरता है वही मन है। यह देह, ये इन्द्रियाँ, ये प्राणापानादि वायु, यह जगङ्वाल, ये घट-पटादि पदार्थ इत्यादि जितनी भेद-कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं वे सम्पूर्ण विभाग-कल्पनाएँ मन ही उत्पन्न करता है। वास्तवमें देखिए

तो आत्माके तईं विकल्प भेद बिलकुल ही सम्भव नहीं है। वह आकाशकी तरंह निर्विकल्प, नित्य, शुद्ध और सर्व-साक्षी है। उसके पड़ोसमें बस कर भेद-सृष्टिकी चेष्टा करनेवाली व्यक्ति ही मन है। आत्म-स्वरूपसे और उपर्युक्त भेद-कल्पनासे मनका लक्षण और स्वभाव पहचानना चाहिए। आत्माका स्वरूप यदि नहीं मालूम होता तो मनका स्वभाव भी नहीं मालूम होता। अज्ञ लोगोंको वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। सफेद, लाल, हरे इत्यादि भिन्न भिन्न रंगोंके वस्त्र एकत्र करके यदि किसी अंधेके हाथमें दिये जायँ तो क्या उसे रंग-ज्ञान हो सकता है? अंधत्वके कारण—अज्ञानके कारण—उसे रंग-ज्ञान हो नहीं सकता। बस यही दशा आत्म-ज्ञान-विराहित पुरुषकी है। निश्चल और निर्विकल्प आत्माके तईं द्वैतका भान बिलकुल ही नहीं उठता। तिस पर भी भेद-शक्ति उत्पन्न करके जो सकल सृष्टिका भास करता है उसे मन कहना चाहिए। इस मनमें बड़ी विचित्रता है। वह जब संकल्प करता है तब विश्वका भास होता है और जब विकल्प करता है तब वही विश्व उसे शून्यवत् देख पड़ता है। यहाँ एक शंका उठती है कि एक ही पदार्थसे ऐसे दो प्रकारके अनुभव क्यों होने चाहिए? इसके लिए अग्निका उदाहरण देना ही योग्य उत्तर है। अग्निकी ज्वाला वायुके योगसे ही उत्पन्न होती है और उसका अस्त भी उसीके योगसे होता है।

मनकी वृत्तियाँ दो प्रकारकी हैं। एक मलिन वृत्ति और दूसरी शुद्ध वृत्ति। मनकी मलिन वृत्तिके कारण द्वैत-प्रतीति, विश्वाभास और देहादिकोंकी स्फूर्ति होती है; परन्तु यह स्थिति मनकी शुद्ध वृत्ति होनेसे तत्काल उड़ जाती है। मनका स्वरूपाकार बनना ही उसकी शुद्ध वृत्ति है। अत एव यह सिद्धान्त सत्य निश्चित होता है कि मनोवृत्तिसे ही विश्व उत्पन्न होता है और मनोवृत्तिसे ही विश्वका लय होता है। मन द्वैतका मूल है। वह सिर्फ मिथ्या-भ्रम है। वह भ्रम स्व-स्वरूपका ज्ञान न होनेके

कारण ही उत्पन्न होता है । ‘ मन ’ का नाम ही वृथा है । उसे भ्रमका केन्द्र कहना ही ठीक होगा । स्व-स्वरूपकी अज्ञान-दशामें मनका भाव देहमें उत्पन्न होता है । हम स्वप्नमें मर जाते हैं, यही नहीं, बल्कि कभी कभी यहाँ तक दिखता है कि हमारे शरीरकी दहन-क्रिया हो रही है; परंतु जागने पर क्या कुछ सत्य जान पड़ता है ? बस जैसा वह सब भ्रम है वैसा ही मन भी है । मन मनमाना भ्रमण करता है और उस भ्रमणके कारण ही उसे सुख-दुःखादि प्राप्त होते हैं । परन्तु सम्यक् विचार करने पर आत्म-प्राप्ति होती है और तत्काल मनका नाश हो जाता है । अत एव मनका नाश करनेके लिए आत्मज्ञानको छोड़ कर अन्य कोई भी साधन नहीं है ।

असम्यग्दर्शनं यस्मादनात्मन्यात्मभावनम् ।
यदवस्तुनि वस्तुत्वं तन्मनो विद्धि राघव ॥

—योगवासिष्ठ ।

सम्यग्दर्शनको ज्ञान और असम्यग्दर्शनको अज्ञान कहना चाहिए । जिसके योगसे किसी वस्तुका भी यथार्थ दर्शन होता है वही सच्चा ज्ञान है । न्याय-वैशेषिक दर्शनोंमें स्पष्ट कहा है कि यथार्थ और अनुभव-सिद्ध जो ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है । यथार्थ शब्दसे अयथार्थ अर्थात् मिथ्या भानका निरसन किया जाता है । शुक्ति-रजताभास, मृग-जल, स्वप्न-भ्रम इत्यादि अयथार्थ ज्ञान है । इस अयथार्थ ज्ञानकी यथार्थ शब्दसे व्यावृत्ति की जाती है ।

स्मृत्यनुभवश्च —तर्कसंग्रह ।

अर्थात् न्याय-शास्त्रमें ज्ञानके दो भाग कहे हैं; १ स्मृति, २ अनुभव । इनमेंसे स्मृति-व्यतिरिक्त ज्ञानको अनुभव कहना चाहिए, अत एव अनुभव शब्दसे स्मृतिकी व्यावृत्ति होती है । इस लिए सम्पूर्ण शास्त्र यही गर्जना करते हैं कि जो कुछ यथार्थ, स्मृति-व्यतिरिक्त, अनुभव-सिद्ध और प्रत्यक्ष-भूत है उसीको **ज्ञान** कहना चाहिए ।

अब यथार्थ ज्ञानका स्वरूप देखना चाहिए। जगत्‌में जिसके कारण अनात्मा प्रकाश पाता है वह **अयथार्थ ज्ञान** है। हमें जो बाह्य प्रपंच देख पड़ता है और देह, इन्द्रिय आदि जो सब नश्वर पदार्थ देख पड़ते हैं वही अनात्मा है। और जिसके योगसे यह भावना होती है कि इस अनात्माके तईं आत्मा है तथा जिसके योगसे देहादि मिथ्या वस्तुओंके तईं वस्तु-बुद्धि होती है वह मन है। यह एक पदार्थ, वह दूसरा पदार्थ इत्यादि प्रकारके विभाग और भेद रचनेके लिए मन ही कारण है। इस भेदका अभावन अर्थात् न होनेकी भावना, विचार-पूर्वक करने पर मन सर्वथा लय हो जाता है।

उपादेयानुपतनं हेयैकांताविसर्जनम्।
यदेतन्मनसो रूपं तद्बन्धं विद्धि नेतरम्॥

—योगवासिष्ठ।

इस श्लोकमें मनका लक्षण बहुत अच्छी तरह बतलाया गया है। जितने विषय उपादेय हैं और जितने पदार्थ आत्माको अत्यन्त प्रिय जान पड़ते हैं उन पर जो टूट पड़ता है वही मन है। स्त्री आदिक रमणीय विषय और पदार्थ देख कर जो तदाकार वृत्ति कर लेता है और जो विषयातुर होकर नाना प्रकारसे उनका उपभोग करनेके लिए तैयार होता है वह मन है। उसी प्रकार केवल दर्शनसे ही भय, कम्प इत्यादि विकार उत्पन्न करनेवाली सर्पादिक वस्तुओंकी ओर जो किसी तरह भी आत्म-प्रवृत्ति नहीं करता वह मन है। इस मनको विषयोंसे जो विलक्षण प्रीति होती है उसके लिए गुड़-चींटेकी उपमा बहुत अच्छी है। गुड़के टुकड़ेमें चींटे इतने मुग्ध होकर लिपटे रहते हैं कि चाहे आप उन्हें बीचसे तोड़ ही क्यों न डालिए तथापि वे वहाँसे छूटते नहीं। मन भी ऐसा ही परम विषय-लुब्ध है। परन्तु—

मनो हि जगतां कर्त्ता मनो हि पुरुषः स्मृतः।
मनःकृतं कृतं राम न शरीर-कृतं कृतम्॥

मनकी इस प्रकार स्थिति होनेके कारण उसका निग्रह करना अर्थात् मनोलय करना आवश्यक है। यह अखिल विश्व मनके कारण ही भासमान होता है, अत एव मन ही जगत्का कर्त्ता है और बाह्य प्रपंचकी भावना नष्ट करनेवाला मन ही है। जब मनके योगसे जगत्का उदय होता है तब मनकी ही तरफ जगत्का कर्तृत्व भी आना चाहिए। मनको जो पुरुष संज्ञा दी गई है सो इसी कारण कि पुरुषत्व और स्त्रीत्वकी भेद-भावना उस मनसे ही उत्पन्न हुई है। मनोलय होने पर स्त्री-पुरुषका भेद नहीं रहता। हमारे प्राज्ञ पाठकोंमेंसे मिल्टन साहबका "पेरा डाइज लास्ट" ग्रंथ बहुतोंने देखा होगा। उसकी आदम और हौआ दोनों व्यक्तियाँ बिलकुल दिगम्बर वृत्तिमें रहती थीं। उनमें स्त्री-पुरुषकी भावना प्रथम बिलकुल ही न थी। परन्तु ज्ञान-वृक्षका फल खानेके कारण आगे चल कर स्त्री-पुरुषका भेद-भाव उनमें संचरित हुआ। तात्पर्य यही कि पुरुषत्व, स्त्रीत्व इत्यादि मनकी भावनाएँ हैं।

जो कार्य मनसे किया जाता है उसीके लिए हम कह सकते हैं कि यह कार्य हमने किया। परन्तु जो क्रिया सिर्फ शरीरसे होती है उसके लिए हम यह नहीं कह सकते कि यह क्रिया हमसे हुई। हम जागृतावस्थामें मनसे जो बात करते हैं उसके पाप-पुण्यके हम अवश्य अधिकारी होते हैं; परन्तु स्वप्नकी पाप-पुण्य क्रियाका फल हमको नहीं भोगना पड़ता। स्वप्नकी पाप-क्रियाका प्रायश्चित्त जागृत होने पर आज तक क्या किसीने दिया है? अथवा किसीने लिया है? इसी प्रकार स्वप्नके भोजन-दानसे संतृप्त होकर क्या किसीने डकार ली है? नहीं। मनसे की हुई सत्क्रिया ही पुण्य-कर्म है। मन ठिकाने न रहते समय चाहे हमसे पुण्य-कर्म हो भी जाय तथापि वह व्यर्थ है। यह भी नहीं है कि केवल शरीरसे जो कुछ किया वह हमने किया। किसीने बड़े प्रेमसे अपनी स्त्रीका सर्वावयवसे आलिंगन किया और उसी शरीरसे और बहुत

प्रीतिसे अपनी लड़कीका भी आलिंगन किया, तो क्या इसके लिए उसे अधोगति मिल सकती है ? नहीं । कान्ताका दृढ़ालिंगन करते समय और कन्याका आलिंगन करते समय यद्यपि उसका शरीर एक ही था तथापि मन बिलकुल भिन्न होनेके कारण वह दोषी नहीं ठहर सकता । पाप-पुण्यकी प्राप्ति मनकी स्थितिके अनुसार होती है । परस्त्रीकी अभिलाषा प्रत्यक्ष शरीरसे ही नहीं, किन्तु यदि मनसे भी हुई तो अधोगति प्राप्त होती है । यही मन जब स्वरूपमें लीन हो जाता है तब शरीरसे चाहे जो अधर्माचरण हो जाय तथापि उससे अधोगति नहीं होती । क्योंकि उस दशामें मनका अस्तित्व ही नहीं रहता । मन यदि स्व-स्वरूपकी पहचान कर लेता है अथवा सगुण-रूपका ध्यान करता है तो अति पुण्य प्राप्त होता है; परन्तु सिर्फ शरीरसे चाहे जितने कष्ट उठाये जायँ तथापि उनसे कुछ लाभ नहीं होता । उन कष्टोंको वृथा ही समझना चाहिए । जिन कर्मोंमें मन नहीं है उनसे कोई फल-प्राप्ति नहीं होती । फिर वे कर्म तीर्थ-यात्रा, व्रत-वैकल्य, जप-तप, यज्ञ-याग, अध्ययन, देवतार्चन इत्यादि कोई भी हों । उनमें यदि मन नहीं है तो वे सब व्यर्थ हैं । वेदान्त-मतसे जीवन्मुक्त अवस्था सर्व-श्रेष्ठ है, उसमें शरीर द्वारा चाहे जो हो उसका दोष उस सत्पुरुषको नहीं लगता; क्योंकि वह कर्म-फलसे अलिप्त रहता है ।

यहाँ तक इस विषयका वर्णन किया गया कि मनका लक्षण क्या है और प्रत्येक कर्म करते समय मनकी कितनी आवश्यकता है । अब यह देखना चाहिए कि उस मनका लय अर्थात् नाश कैसे हो सकता है । जैसे रोगीकी चिकित्सा पहले वैद्यसे करा कर तब औषधोपचार करना हितकारक होता है वैसे ही पहले मनकी चिकित्सा करके बाद उसे विचार-रूपी मात्रा देनी चाहिए । और चित्त-रूप जो रोग है उसे अत्यन्त साहससे नष्ट कर डालना चाहिए । यह उत्तम मार्ग है । वासना-बाहुल्यसे चित्तमें मालिन्य आता है, इस लिए मनको वासना-रहित करना चाहिए ।

चित्त-शुद्धि होनेके लिए वासनाका क्षय पहले अवश्य होना चाहिए। जहाँ मन वासनासे मुक्त हुआ कि बस फिर जीवात्मा सहज ही मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

इस देवीभागवतके वचनानुसार जीवात्माका बन्ध अथवा मोक्ष होनेके लिए केवल मन ही कारण है। पानी यदि मलिन होता है तो उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी अस्वच्छ ही होता है। पर यदि वही पानी शुद्ध होता है तो उसका प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ होता है। वैसे ही यदि पानी हिलता हुआ हो तो उसका प्रतिबिम्ब भी हिलता है और वह यदि स्थिर होता है तो प्रतिबिम्ब भी स्थिर रहता है। शीशेका भी ऐसा ही उदाहरण है। शीशेमें यदि कुछ दोष होता है तो प्रतिबिम्ब भी उसमें ठीक नहीं देख पड़ता। किसी किसी शीशेमें राक्षसके समान भयंकर और विकराल मुँह देख पड़ता है अथवा हाथभर लम्बा मुख देख पड़ता है, इन बातोंका सभीको अनुभव है। जैसा यह शीशेका दोष है वही बात मनके लिए भी है। मन-रूप शीशा यदि शुद्ध होता है अर्थात् मनमें यदि किसी प्रकारकी वासना नहीं होती तो उसमें स्व-स्वरूपका प्रतिबिम्ब स्वच्छ पड़ कर आत्मज्ञान होता है। अत एव मनको वासना-रहित करना चाहिए।

मनको वासना-रहित करनेके अनेक उपाय हैं। उनमें पहला उपाय सद्गुरुके बोधका अन्तःकरणमें विवेचन करना ही है। इसीको वेदान्त-शास्त्रमें निदिध्यासन कहते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वासना-युक्त अर्थात् बहिर्मुख रहती हैं, वे अन्तर्मुख नहीं होतीं। बलात्कारसे ही उनका प्रवेश भीतरकी ओर करना पड़ता है अर्थात् उन्हें अन्तर्मुख करना पड़ता है। जितना कुछ अनात्म-वर्ग हैं उसीके तईं चित्त-वृत्ति प्रकाशित होती है, इस लिए उस वृत्तिका महान् प्रयाससे नियमन करना पड़ता है।

अनात्म पदार्थोंके तईं चित्त-वृत्ति शान्त करके और सजातीय आत्माकी ओर वृत्ति लेजा कर जब निरन्तर अनुसन्धान किया जाता है तब वासना-रहित दशा प्राप्त होती है और फिर चित्तमें चित्तत्व रहता ही नहीं। स्व-स्वरूपमें चित्त-वृत्तिका लगना ही मुक्ति है।

आशा केवल पिशाचवत् है। वह शुद्ध वस्तुमें मलिनता लाती है। कोई पदार्थ यदि पृथ्वी पर नहीं भी होता है तो भी उसे प्राप्त करनेका हौसला आशाके कारण ही उत्पन्न होता है; और चाहे जितना मिले, तथापि अधिकाधिक पानेकी अपेक्षा बनी ही रहती है। इस प्रकारकी आशाओंसे जब मन भर जाय तब समझ लेना चाहिए कि अब हमें आशा-पिशाचने घेर लिया। बस विषयासक्ति इसीको कहते हैं। इस आशा हीके कारण चित्त-विक्षेप होता है और इसीसे मनुष्य आत्म-स्थितिसे भ्रष्ट हो जाता है। आशासे अज्ञान बढ़ता है; और उन अज्ञान-रूप बादलोंसे स्व-स्वरूप-रूपी चन्द्र बिलकुल ही ढक जाता है तथा विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है। इन सब बातोंका कारण जब हम देखते हैं तो एक मन ही है। इस मनके योगसे ही अनेक वस्तुओंकी अयथार्थ प्रीति होती है। इस विषयमें बृहदारण्य-श्रुतिमें यह वचन है:—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

अर्थात् बाह्य संकल्प-विकल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, भीति ये सब मनके खेल हैं। मनका यह सारा आडम्बर लय होनेके लिए यही उपाय है कि—

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वन्हौ त्रिजगत्तृणम्।
जुव्हतोंऽतर्निवर्तन्ते राम चित्तादिविभ्रमाः॥

—योगवासिष्ठ।

अपने मन और अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके सम्पूर्ण जगत्को तृणकी तरह समझ कर चिद्रूप अग्निमें उसका हवन करना चाहिए; इससे

चित्तादि विभ्रम तत्काल नष्ट हो जाते हैं। सर्वदा विषय-चिन्तन, देहादि वस्तुओंकी सर्वकाल भावना और जगत्को सत्य समझना इत्यादि बातोंको मनकी बहिर्मुखता कहते हैं। इसीकी विरुद्ध स्थितिको अन्तर्मुखता कहते हैं। अर्थात् सम्पूर्ण जगत्को मिथ्या समझना, सब विषयोंका सदोष जान पड़ना और सर्वदा ब्रह्माकार स्फूर्ति होना इत्यादि बातोंको मनकी अन्तर्मुखता समझना चाहिए। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंको अनात्मा समझ कर स्व-स्वरूपके तईं चित्त-वृत्तिका निमग्न होना ही अन्तर्मुखता है। यह अन्तर्मुखता प्राप्त होने पर सम्पूर्ण विश्व तृण प्राय होकर चिद्रूप अग्निमें भस्म हो जाता है; फिर चित्त ही कहाँ रह सकता है? तरु-कोटरान्त-गत वह्निके रहते हुए यदि उस जगह तृण-बीज बोया जाता है तो उसमें अंकुर नहीं निकलता अथवा दावानलके जलते समय वहाँ चाहे जितना धान्य बो दिया जाय तथापि उसमें अंकुर नहीं फूटता। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान-रूपी अग्निके प्रदीप्त होने पर चित्तादि भ्रम नाश हो जाते हैं।

हेय अर्थात् त्याज्य और उपादेय अर्थात् ग्राह्य पदार्थोंकी कल्पना भी मनमें न लाना चाहिए, इससे चित्तका लय हो जाता है और द्वैतकी प्रतीति नहीं होती तथा चित्तमें अचित्तत्व आ जाता है। स्पष्ट ही है कि इन सबका कारण जो अज्ञान है वही जब बिलकुल नष्ट हो जायगा तब कार्य-रूपी मन किसके आधारसे रहेगा? और मनोलय होने पर ग्राह्य-अग्राह्य बातें भी उसीके साथ नष्ट हो जायँगी। कारणके अभावमें कार्य रहता ही नहीं, यह सिद्धान्त है।

मनकी वृत्तियोंका नष्ट करना ही मनका नाश करना है। मनकी तीन वृत्तियाँ हैं—रज, सत्त्व और तम। ये तीनों क्रमशः जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिमें भासमान होती हैं। जागृतावस्थामें चित्त रजोमय रहता है और उसे घोर-रूप प्राप्त होता है तथा मनकी चंचलता अधिक होती है। स्वप्नावस्थामें मन सत्वगुणके कारण शान्त रहता है और सुषुप्ति

अवस्थामें तमोगुणकी प्रबलताके कारण मनको मूढ़ता प्राप्त होती है। ये तीनों अवस्थाएँ जहाँ नहीं हैं वहीं मन मृत होता है अर्थात् मनोलय होता है; और वेदान्त-शास्त्रमें कही हुई चौथी अवस्थाका अनुभव होता है।

अब अगले श्लोकमें यह बतलाया गया है कि चित्तके योगसे मनुष्यकी चलन-वलन क्रिया कैसी होती है:—

> चित्तं जानीहि संसारं बन्धश्चित्तमुदाहृतः।
> पादपः पवनेनेव देहश्चित्तेन चाल्यते॥
>
> —योगवासिष्ठ।

वायुके योगसे वृक्षमें चलन-वलन होता है और उसकी शाखा-उपशाखाएँ हिलने लगती हैं तथा उसकी स्थिरता नहीं रहती, इसी प्रकार चित्त देहको चलित करनेवाला है। स्वस्थ रहनेवाली अपनी इन्द्रियोंको वह बलात्कारसे चेताता है और इस कारण सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि संसार-रूपी जो दृढ़ बन्ध है वह मनके कारण ही होता है। यदि हमें निर्विकार स्थिति प्राप्त करना है तो मनोजय ही करना चाहिए। मनोजयसे अज्ञान नष्ट होता है और शम-दमादि संपत्ति मिलती है तथा स्व-स्वरूपकी भेंट होती है। यदि हम यह कहें कि मनोजयसे सुखका सुकाल होता है और दुःखका दुष्काल पड़ जाता है तो इसमें सब आ जाता है। लोग मनोजय करनेके लिए तीर्थ, व्रत, तप, दान आदि लौकिक व्यवहार करते हैं; परन्तु ये कोई ठीक उपाय नहीं हैं। ये सिर्फ संसृतिके कारण होकर जगत्का बन्ध करते हैं। यद्यपि ये साधन सुखके लिए स्वीकार किये जाते हैं तथापि वे दुःख हीके कारण होते हैं, उनसे सिर्फ देह कष्ट होता है; स्व-स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। परन्तु पूर्वोक्त साधनोंसे क्षणभर मनोलय करनेसे सुखसे स्व-स्वरूप-प्राप्ति होती है। दोनों साधन अपने हाथ हीके हैं। अत एव ऐसे ही साधन करने चाहिए कि जिनसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो। यही श्रेयस्कर है।

जिस पर सद्गुरुका अनुग्रह हुआ हो उसे एकान्त-वासका सेवन करना चाहिए और गुरु-वाक्यके अनुसार योग्य रीतिसे मनोजय करना चाहिए। श्वास-निरोधके द्वारा जो मनोजय किया जाता है उससे सिद्धियाँ अवश्य होती हैं; परन्तु ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्म-प्राप्ति होनेके लिए विचार करना चाहिए; वेदोंमें कहे हुए "नेति नेति" वचनोंका निदिध्यास करके द्वैत-निरसन करना चाहिए, इससे मनोलय होता है। तथा विजातीय पदार्थोंको सम्मुख न होने देना चाहिए और स्व-स्वरूपाकारमें—जो सजातीय है,—तद्रूप होकर रहना चाहिए। यह समझनेके लिए कि स्व-स्वरूपमें विक्षेप होता है, वेदान्त-शास्त्रमें मनोवृत्तिके पाँच दोष बतलाये गये हैं। उन्हें पहले अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उन दोषोंका ज्ञान न होते हुए यों ही मन रोकनेसे कोई फल नहीं होता। प्रपंचमें बिलकुल फस कर सिर्फ बाहरसे समाधिका रूप दिखानेसे लौकिक परमार्थ चाहे भले ही सध जाय, पर आत्म-हित जिसे कहते हैं वह नहीं प्राप्त हो सकता। सच्चे परमार्थकी यदि प्राप्ति करना हो तो लौकिक दम्भको छोड़ कर सद्-गुरुके ही चरण पड़ना चाहिए। सद्गुरुके पाद-सेवनसे तत्काल मनोजय होता है; अन्य साधनोंकी जरूरत ही नहीं रहती। काम-क्रोधादि षड्-रिपुओंक दमन करनेके लिए श्रीमद् भागवतके दशम स्कंधमें उत्तम उपाय बतलाये गये हैं; उनका यहाँ निरूपण करना आवश्यक है।

श्रीमद् भागवतमें मनोलयके उपाय इस प्रकार कहे गये हैं:—काम रिपुके जीतनेका मुख्य साधन संकल्प-विहीन होना है। कामको जीत लेने पर क्रोध भी अवश्य ही जीत लिया जाता है। यह दृष्टि होना कि जगत्-में दृग्गोचर होनेवाले सारे पदार्थ अनर्थकारक हैं, लोभ जीतनेका साधन है। हृदयमें भय मालूम होनेकी जो दुष्ट-वृत्ति है वह तत्त्वज्ञानके अभ्याससे जल जाती है। शोक और मोह सांख्यशास्त्रके अभ्याससे नष्ट होते हैं। अब दम्भके नाशका विचार करना चाहिए। इस विकारको श्रीमान् शंकराचा-

र्यने "स्वधर्म प्रकटीकरण" कहा है। ज्ञानेश्वर नामक प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधुने इसका स्पष्टार्थ इस प्रकार किया है:—

अन्तःकरणको दूसरी ओर रख कर यों ही तिलक-मुद्रा लगा कर बैठना दम्भ है। यह दोष दूर होनेके लिए साधु-चरण-सेवाके सिवाय अन्य उपाय नहीं है। योगाभ्यास करते समय बीचमें जिसके कारण विघ्न उत्पन्न होते हैं उस दुष्ट-वृत्तिका नाश मौनसे करना चाहिए। आशाको निरिच्छतासे जीतना चाहिए। भूत मात्रोंसे जो हमें आधिभौतिक दुःख होते हैं उन्हें अन्तःकरणमें सर्वदा कृपा धारण करके जीतना चाहिए। योग-सामर्थ्यके द्वारा अध्यात्म दुःखोंसे दूर रहना चाहिए। निद्रा-दोष सत्व-सेवन-से नष्ट करना चाहिए। सत्वगुणके प्रकर्षसे रज और तम गुणोंको जीतना चाहिए। सत्वगुणको भी शान्ति द्वारा लीन करना चाहिए। ये गुणातीत होनेके मार्ग हैं।

परन्तु यदि इतना क्लेश न सहना हो और एक एक रिपुके जीतनेका प्रयास न उठाना हो; किन्तु एक-दम सब शत्रुओंको जीतना हो तो इसका सुलभ उपाय यही है कि भक्ति-पूर्वक सद्गुरुके चरणोंका शरण लेना चाहिए। परम भक्तिसे ईश्वरका अनन्य भजन करनेसे तत्काल सब दुष्ट-वृत्तियोंका लय हो जाता है और पूर्णत्वका लाभ होता है। सच पूछिए तो सद्गुरुको छोड़ कर जो कि केवल ज्ञान-दीप और प्रकाशित है, भजन करने योग्य और कौन है? सद्गुरु अपने भक्तको ब्रह्म-स्थिति तक पहुँचा कर रक्षा करनेवाला है। सद्गुरुको छोड़ कर अन्य देवताका पूजन करना व्यभिचार है? गुरु-कृपाका फल जिसे नहीं मिला और जो भक्तिसे विमुख है उसका सम्पूर्ण अध्ययन व्यर्थ है। ऐसे पुरु-षोंका शास्त्र-पठन और वेदाभ्यास "कुंजर-शौचवत्" समझना चाहिए। अधिक क्यों, चाहे उन्होंने महा-वाक्यका विचार ही क्यों न किया हो, तथापि सद्गुरु-भजनके बिना वह भी व्यर्थ है। अत एव सद्गुरुके शरणमें

जाकर विमल भक्तिसे उसका भजन करना चाहिए और उसके दिखलाये हुए मार्गोंसे मनको जीतना चाहिए। मन शोक-मोह-रूपी है। योग-शास्त्रमें उसे जीतनेका यह उपाय बतलाया गया है:—

हस्तं हस्तेन संपीड्य दंतैर्दन्तांश्च पीडनम्।
अंगान्यंगैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे किसी शूर और पराक्रमी पुरुषको जीतनेके लिए क्रोध-चेष्टाएँ होती हैं उसी प्रकार मनको जीतनेके लिए विचेष्टन करना पड़ता है। चरण तोड़ कर दृढ़ासन लगाना चाहिए, हाथसे हाथको मरोड़ कर बल-पूर्वक दबाना चाहिए और दाँत-ओंठ क्रोधसे चाब कर मनको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए। मनको जीतने पर विश्व-भ्रान्तिका पसारा टूट जाता है और मनुष्य सुख-सागरमें निमग्न हो जाता है। जन्म-मरणका डर उसे नहीं रहता। गुरु-संप्रदायको छोड़ कर मनका दमन करनेके लिए हम जो जो उपाय करते हैं उनसे मन स्थिर नहीं होता; किन्तु और भी अधिक चंचल हो जाता है।

मनकी पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध करनेसे निवृत्तिक स्थिति प्राप्त होती है। वही मनका पराजय अथवा मनोलय है। उन पंच वृत्तियोंको न जीतते हुए मनोजय करनेकी डींग मारना परमात्माके दिये हुए मुखका दुरुपयोग करना है। सद्गुरु-मुखसे मनोवृत्तियोंका ज्ञान करके फिर मनो-जय करनेका प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करनेसे विशेष प्रयास न पड़ते हुए मनोजय हो जाता है। वृत्तियोंका निरोध करनेसे मन आप-ही-आप निवृत्तिक होता है। मनकी वृत्तियाँ अर्थात् शाखाएँ कौन कौनसी हैं, सो पहले अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और फिर उन शाखाओंका छाँटना प्रारम्भ करना चाहिए, इससे अच्छी सफलता प्राप्त होती है। यदि किसी महान् शूर वीरको मारना हो तो पहले उसके हाथ-पैरोंका छाँट-

डालना ही ठीक होगा। श्री परशुरामने जब देखा कि सहस्रार्जुन युद्धमें अनिवार हो गया है तब उन्होंने पहले उसके हजार हाथ काट कर ढेर कर दिया और फिर उसका संहार किया। यह पुराण-प्रसिद्ध कथा पाठकोंको मालूम ही होगी। किसीके हाथ-पैर काट कर यदि उसे एक जगह बैठा दिया जाय तो वह पंगु किसी तरह भी बाहर नहीं जा सकेगा। बस यही हाल मनका भी है। मनके हाथ-पैर अर्थात् पाँचों वृत्तियाँ काट कर यदि उसे पंगु बना डाला जाय तो फिर वह कहाँ दौड़ कर जायगा? अवश्य ही उसका नियमन हो जायगा और वह अपनी जगहसे टल नहीं सकेगा अर्थात् स्व-स्वरूपके तईं स्थिर होगा। फिर कुछ भी किया जाय, चित्त-वृत्ति चंचल नहीं हो सकती। केवल परब्रह्ममें वह निश्चल हो जायगी, किसी बाह्य वृत्तिसे भी उस स्थितिमें मलिनता नहीं आ सकेगी।

अब मनकी पाँच वृत्तियाँ और उनके लक्षणोंका निरूपण किया जाता है। वे पाँच वृत्तियाँ ये हैं:—१ प्रमाण, २ विपर्यय, ३ विकल्प, ४ निद्रा और ५ स्मृति। इनमेंसे प्रमाण-वृत्ति छः प्रकारकी है:—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ शाब्द, ५ अर्थापत्ति और ६ अभाव। इन-मेंसे प्रत्येकका यहाँ पर कुछ विवेचन करना आवश्यक है। गदाधर भट्टाचार्य नामक महान् नैय्यायिकके ग्रन्थमें प्रत्यक्ष प्रमाणका सर्वोत्कृष्ट निरूपण किया गया है। घट-पटादि पदार्थ जो हमें नेत्रोंसे भासमान होते हैं, जिन जिन वस्तुओंकी श्रवणसे प्रतीति होती है, जिन जिन गंधोंका घ्राणेन्द्रियसे ज्ञान होता है, जो जो स्पर्श त्वगिन्द्रियसे व्यक्त होता है और जो जो रस-वृत्ति रसनेन्द्रियको गोचर होती है वह वह **प्रत्यक्ष** समझना चाहिए और वह वह **प्रत्यक्ष प्रमाण** समझना चाहिए।

पर्वतो वह्निमान् धूमात्।

अर्थात् धुआँ देख कर वहाँ अग्निका अनुमान करना **अनुमान** कहलाता है।

गोसदृशो गवयः ।

अर्थात् यह कहनेसे कि गवय गायके समान होता है, जो परस्पर सादृश्यका ज्ञान होता है उसे **उपमान** कहते हैं। वह मानो सिंह ही है, उसका मुख चन्द्रके जैसा है इत्यादि रीतिसे एक वस्तुको दूसरी वस्तुकी उपमा देकर जो ज्ञान किया जाता है उसीको उपमान कहते हैं।

शब्दोंसे बतलानेके कारण जो वस्तु-ज्ञान होता है उसे **शब्द** कहते हैं।

नदीतीरे पंच फलानि सन्ति ।

एकने दूसरेसे कहा कि "नदीके किनारे पाँच फल हैं," अब यह सुन कर दूसरेको जो ज्ञान हुआ उसे शाब्द-प्रमाण कहना चाहिए। सद्गुरु-मुखसे महा-वाक्यका ज्ञान करके पूर्णब्रह्मका अनुभव होना योग-मार्गके शाब्द-प्रमाणकी पहचान है। अब अर्थापत्तिके विषयमें विचार करते हैं।

पीनो देवदत्तः दिवा न भुंक्ते।

किसीने कहा कि "देवदत्त नामक पुरुष दिनको भोजन तो नहीं करता, तथापि वह खूब हृष्ट-पुष्ट है।" अब इससे यह भावना होना कि—

रात्रौ भोजनमन्विष्यते।

अर्थात् वह रात्रिको भोजन करता होगा, **अर्थापत्ति** है। अब छठे प्रकार **अभावको** लीजिए।

यत्र घटो नास्ति तत्र घटाभावः ।

अर्थात् जहाँ घट नहीं है वहाँ घटाभाव समझना चाहिए। इस प्रकार षड्विध प्रमाणोंका होना चित्तकी पहली वृत्ति है।

शुक्ताविदं रजतं ।

अर्थात् सीपमें रजतकी भावना होना अथवा किरणके तईं मृग-जलका अथवा रज्जुके तईं सर्पका भ्रम होना **विपर्यय-वृत्ति** कहलाती है। जो वस्तु हमें अच्छी तरह मालूम है उसके तईं अन्य कुछ भास होना विपर्यय समझना चाहिए। अब विकल्पका लक्षण यह है:—

" वंध्या-पुत्रः । व्योम-सुमनः " अर्थात् बाँझका लड़का, आकाश-पुष्प इत्यादि शब्दोंसे जो तद्विषयक चित्त-वृत्ति होती है उसको **विकल्प** कहते हैं । विकल्प शब्दका लौकिक अर्थ ' असत्यका स्मरण होना ' है; परंतु उसका मुख्य अर्थ संशय या संदेह है । जब ' अमुक वस्तु है या नहीं ' इस प्रकार संदेह उत्पन्न होता है तब उसको विकल्पका लक्षण जानना चाहिए ।

मनकी पाँच वृत्तियोंमेंसे प्रमाण, विपर्यय और विकल्पका वर्णन हो चुका । अब निद्रा और स्मृतिका वर्णन किया जायगा । निद्रा-वृत्तिके कारण आत्म-स्वरूप-स्थितिसे च्युति हो जाती है । यही वृत्ति आत्म-स्वरूपका विघात करती है और मनुष्यको भवसागरमें डुबा देती है । पूर्व समयमें अनुभूत वस्तुका जो यथार्थ स्मरण होता है उसको **स्मृति** कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जब उक्त पाँच प्रकारकी मनोवृत्तियोंका यथोचित नियमन किया जायगा तब कहीं निवृत्तिक स्थिति प्राप्त होगी और मनका जय किया जा सकेगा ।

इन पाँचों वृत्तियोंका समावेश जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति नामक अवस्थाओंमें किया जा सकता है, अत एव इन तीनों अवस्थाओंके परे होते ही " साक्षित्व " नामक सर्वोत्तम अवस्थाका अनुभव प्रतीत होता है । साक्षि-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होते ही मनोवृत्तियोंका अभाव हो जाता है, इस लिए मनोलयका यही मुख्य उपाय है । जो लोग अपने चित्तका नियमन करके मनको जीत नहीं सकते, किंतु लोगोंको दिखानेके लिए ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि आडम्बर किया करते हैं उनको सचमुच लज्जित होना चाहिए । वशिष्ठजी कहते हैं:—

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातंत्र्यवर्जितः ।
ध्यानवार्तां वदन्मूढः स किं लोके न लज्जते ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जो मनुष्य अपने चित्तको जीत नहीं सकता उसकी स्वाधीनताका नाश हो जाता है। यदि चित्तका जय किया न जाय तो विषयवा-सनाओंकी वृद्धि होती है और ज्ञानका नाश हो जाता है। जो मनुष्य मनोजय किये बिना यह कहता है कि मैं ध्यानस्थ हूँ वह सब लोगोंके उपहासका पात्र हो जाता है। अस्तु।

अपने चित्तको जीतनेका यत्न करना प्रत्येक मनुष्यके अधीन है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य विषयासक्त क्यों हो जाता है? चित्तके नियमन करनेके अभ्यासमें शिथिलता या उदासीनता क्यों आ जाती है? और यत्न करने पर भी फलकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? इन तीनों प्रश्नोंका विचार करना चाहिए। पहली बात यह है कि वैराग्यके अभावसे विषयासक्ति उत्पन्न होती है; दूसरी बात यह है कि परमार्थके संबंधमें अनास्था या अनादर करनेसे अभ्यासमें उदासीनता आ जाती है; और तीसरी बात यह है कि अभ्यास निरंतर नहीं किया जाता, इस लिए फलकी प्राप्ति नहीं होती। अत एव वैराग्य, आदर और निरंतरताकी बहुत आवश्यकता है। वैराग्यसे विषयोंकी आसक्तिका नाश हो जायगा और चित्तमें किसी प्रकारका विक्षेप उत्पन्न न होगा। अभ्यासके विषयमें आदर-भाव अथवा श्रद्धा रखनेसे उदासीनता या शिथिलता आने नहीं पाती। मनोजयका मुख्य उपाय अभ्यास ही है, इस लिए यह अभ्यास निरंतर किया जाना चाहिए। ज्ञानी लोग अपने मनको जीतनेका अभ्यास निरंतर करते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वैराग्य और आदर-भावका अवलंब करके यदि निरंतर अभ्यास किया जाय तो मनोजयकी प्राप्ति अवश्य होगी।

एक एव मनो देवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः।
अन्यत्र विफलक्लेशः सर्वेषां तज्जयं विना॥

—योगवासिष्ठ।

अनेक क्लेशदायक कर्मोंका त्याग करके केवल एक मन हीका जय करना चाहिए; क्योंकि मन-रूप देव सब प्रकारकी सिद्धियोंका दाता है। सब इन्द्रिय-वृत्तियाँ केवल मनकी सहायतासे प्रकाशित होती हैं इस लिए मनको 'देव' कहते हैं। देव शब्द संस्कृतके दिव् धातुसे बना है जिसका अर्थ 'प्रकाशित करना' होता है। श्रीमद्भागवतमें इस मन-रूप देवके विषयमें कहा है—"भीष्मोहि देवः सहसः सहीयान्"—अर्थात् मनका स्वरूप बहुत उग्र है, इस लिए प्रथम उसीको अपनी ज्ञेय-वस्तु अर्थात् ज्ञान-गम्य वस्तु बनाना चाहिए। मन ही सब वस्तुओंका ज्ञान करा देता है, इस लिए सबसे पहले उसकी भिन्न भिन्न वृत्तियोंको भलीभाँति जान लेना चाहिए और तब उनके नियमन करनेका अभ्यास करना चाहिए। इससे यह विदित होगा कि मन किस प्रकार ज्ञेय होता है।

अनुद्वेगः श्रियोमूलमनुद्वेगात्प्रवर्तते।
जंतोर्मनोजयादन्यत् त्रैलोक्यविजयस्तृणम्॥
—योगवासिष्ठ।

जब किसी प्रकारका संकल्प मनमें उत्पन्न नहीं होता तब उस अवस्थाको अनुद्वेग कहते हैं। अनुद्वेग-रूप मनोजयसे मोक्ष-रूप लक्ष्मी प्राप्त होती है। यदि त्रिभुवनकी प्राप्ति हो जाय तो भी वह मनोजयके बिना व्यर्थ है। जिसने अपने मनको जीत लिया है उसीको महा शूर कहना चाहिए। संभव है कि बड़े बड़े अतिरथी और महारथी तीनों लोकको जीत लेंगे; परंतु मनको जीतनेवाला इस दुनियामें विरला ही महात्मा होता है।

मनोजयके मुख्य चार उपाय ये हैं—सत्संग, वासना त्याग, आत्म-ज्ञान-विचार और प्राण-स्पंद-निरोधन। इनमें सत्संग ही सार वस्तु है। मनोजयके सब साधनोंमें सत्संगको मुकुटमणि कहना चाहिए। इसकी महिमा सब साधुजनोंने गाई है। इसके द्वारा यह जीव असंग हो जाता

है, उसकी देह-बुद्धि नष्ट हो जाती है और उसको सदाचरणमें अनुराग उत्पन्न होता है। सत्संगसे मनुष्य जप-तपादि साधनोंमें प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अभ्यास करते करते कुछ दिनोंमें वह पूर्ण विरक्त हो जाता है और सत्संगके प्रभावसे आत्मानंदका अनुभव करके अपने जीवनकी सार्थकता कर लेता है। मनको पूरी तरह अपने अधीन करनेके लिए साधु पुरुषोंके चरणोंका आश्रय करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" अर्थात् यदि उत्तम ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा हो तो संतजनोंकी सेवा करनी चाहिए। संतजन ज्ञानके आगर हैं। इस लिए निरभिमानता-पूर्वक काया, वाचा और मनसे संत-जनोंकी सेवा करके अपेक्षित ज्ञानकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए। उनके उपदेशामृतका प्रवाह जब हमारे अंतःकरणमें बहने लगता है तब उसके प्रभावसे मन तुरंत ही कल्पना-रहित हो जाता है। गुसाँई तुलसीदासजीने सत्संगको तीरथराजकी उपमा दी है। सत्संगकी महिमा सचमुच अवर्ण-नीय है। देखिए, गुसाँईजी क्या कहते हैं:—

विधि हरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

—रामचरित मानस।

मनोजयका दूसरा साधन **वासना-त्याग** है। चित्तकी जो भिन्न भिन्न अनेक वृत्तियाँ हैं उन्हींको वासना कहते हैं। जब अंतःकरणसे कोई वृत्ति उठने लगती है तब साक्षि-स्वरूपकी ओर ध्यान देकर उस वृत्तिका लय करना चाहिए। ज्यों ही वासना जागृत हो और मनमें विषयाकार संकल्प होने लगे त्यों ही उसको वहीं दबा देना चाहिए—वासना अथवा वृत्तिको कभी पदार्थाकार होने न देना चाहिए। इस प्रकार स्व-स्वरूपसे भिन्न अनात्म-विषयोंको स्व-रूपाकार करनेसे वासनाका आप-ही-आप त्याग हो जाता है।

आत्मज्ञान-विचार तीसरा उपाय है । आत्म-विद्यासे मनका मनत्व नष्ट हो जाता है । आत्मा और अनात्माका विवेक करनेसे मनोजय प्राप्त होता है । आत्मज्ञानकी प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंसे होती है । अत एव जब इन साधनोंकी सहायतासे आत्मज्ञानका विचार किया जाता है तब मनकी चंचलता सहज ही नष्ट हो जाती है ।

आर्य-तत्त्वज्ञानमें प्राण-स्पंद-निरोधन नामका चौथा उपाय बताया गया है, जिसके द्वारा वायु-धारण करनेकी शक्ति प्राप्त होकर मनोजय भी किया जा सकता है । अब उसीका निरूपण किया जाता है ।

यह सिद्धान्त है कि वायुका निरोध करनेसे मनका लय हो जाता है और मनका निरोध करनेसे वायुकी स्थिरता होती है । इस परस्परावलंबनके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

अर्थात् जो मनुष्य प्राण-वायुको अपने अधीन कर लेता है वह मन को भी अपने अधीन कर सकता है । इसी तरह जो मनुष्य अपने मनको अधीन कर लेता है वह प्राण-वायुको भी अपने अधीन कर सकता है । जिस आधार-चक्रके स्थानमें मनका लय होता है उसी स्थानमें प्राणवायुका भी लय होता है; इसी तरह जिस स्थानमें प्राण-वायुका लय होता है उसी आधारचक्र-स्थानमें मन भी आप-ही-आप लीन हो जाता है । योगशास्त्रमें वायु-निरोधनका अभ्यास करनेके लिए जिन चक्रस्थानोंका वर्णन किया गया है उनके नाम ये हैं:—१ आधारचक्र, २ लिंगचक्र, ३ नाभिचक्र, ४ हृदयचक्र, ५ कंठचक्र और ६ आज्ञाचक्र (भ्रुकुटि-मध्य)। योगीजन प्रत्येक चक्रस्थानमें एक एक देवता कल्पित करके

वहाँ वर्णात्मक देवताकी स्थापना करते हैं। यह कार्य केवल भावना-शक्तिके आधार पर किया जाता है। परशुराम-सूत्रमें यह वचन है "भावना-दार्ढ्यात् निग्रहानुग्रहसामर्थ्यात्" इसका भावार्थ वही है जो ऊपर लिखा गया है। अर्थात् योगीको प्रथम अपने शरीरके भिन्न भिन्न चक्र-स्थानोंमें वर्णात्मक देवताओंकी भावना करनी पड़ती है और जब तक वह अभ्यासमें लगा रहता है तब तक उसको अपनी उक्त भावना स्थिर रखनी पड़ती है। इसके वाद् प्राण-वायु और अपान-वायुकी एकता करके कुंडलिनी नामक नाड़ीको जागृत करना पड़ता है। योगशास्त्रमें इस नाडीका अभ्दुत महात्म्य बताया है। इसीको "सांभवी शक्ति" भी कहते हैं। उत्तेजित होनेके पहले यह नाड़ी निद्रित नागिनके समान रहती है। ज्यों ही यह नाड़ी जागृत होती है त्यों ही सुषुम्नाका द्वार खुल जाता है और प्राण-वायु ऊर्ध्वगतिक होकर षट् चक्रोंका भेद् करने लगती है। जिस चक्रमें प्राण-वायुका प्रवेश होता है उसमें मन भी वायुके साथ चला जाता है अथवा जिस चक्रमें मनका प्रवेश होगा उसमें प्राण-वायु भी उसके साथ अवश्य चली जायगी। इस तरह जब प्राण-वायु सचमुच षट् चक्रोंमेंसे ऊर्ध्वगतिक होकर चलने लगती है तब उसको **हठयोग** कहते हैं। केवल भावनाके आधार पर जब किसी चक्रमें प्राण-वायु और मनका प्रवेश कल्पित करके वहाँ देवताका ध्यान किया जाता है तब उसको **राजयोग** कहते हैं।

जब हठयोग अथवा राजयोग करके मनोजय किया जाता है तब योगीके अभ्यासकी पूर्ण सिद्धि होती है—तब वह मोक्ष प्राप्त करके केवल सुख-स्वरूप हो जाता है।

पूर्णे मनसि संपूर्णं जगत्सर्वं सुधाद्रवैः।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे पाँवमें जूता पहननेसे सब जमीन 'चर्मास्तृत'—अर्थात् चमड़ेसे मढ़ी हुई या नरम—मालूम होती है, वैसे ही जिसका मन पूर्ण ब्रह्माकार हो जाता है उसको सारा जगत् ब्रह्म-रूप ही देख पड़ता है।

मनको जीतनेके लिए अथवा चित्तका नाश करनेके लिए दो उपाय अत्यंत श्रेष्ठ हैं:—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव।
योगश्चित्तनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणं॥ —योगवासिष्ठ।

चित्तका नाश करनेके लिए योगमार्ग अथवा ज्ञानमार्गका अवलंब करना चाहिए। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको **योग** कहते हैं और सम्यक् अर्थात् उत्तम प्रकारसे आत्मानात्म वस्तुको जानना **ज्ञान** कहलाता है, जिसको सांख्य भी कहते हैं। इन दोनोंका पृथक् पृथक् विवेचन करना आवश्यक है। पहले योगका वर्णन किया जायगा। योगके आठ अंग या प्रकार हैं। उनके नाम ये हैं:—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ ध्यान, ७ धारणा और ८ समाधि। अब संक्षेपमें यह देखना चाहिए कि इनमेंसे प्रत्येक अंगका लक्षण और स्वरूप क्या है।

१ यम।

यम-योगके बारह भेद हैं, जैसे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा, और अभय। योगाभ्यास करनेवालेको पहले इन्हीं गुणोंका अभ्यास करना चाहिए। (१) **अहिंसाका** साधारण अर्थ 'किसी जीवका वध न करना' होता है; परंतु योगियोंकी दृष्टिसे इस शब्दका दूसरा अर्थ होता है। शब्द इत्यादिके द्वारा कभी किसीको दुःख न देना ही अहिंसाका परम लक्षण माना गया है। (२) **सत्य** किंचित् लाभके लिये भी अनृत भाषण न करना, किंतु सदा सत्य ही बोलना चाहिए। परमहंस ब्रह्मानंदस्वामीने अपने योगकल्पद्रुम नामक ग्रंथमें सत्यकी व्याख्या इस प्रकार की है—

किसी भी इंद्रियसे किसी भी वस्तुका जैसा ज्ञान हो ठीक वैसा ही उच्चारण वाणीसे करना तथा इस प्रकारके प्रत्यक्ष ज्ञान परसे न्यायशास्त्रानुमोदित अनुमान द्वारा जो निश्चय किया जाता है उसके अनुसार भाषण करना सत्य कहलाता है। सत्यका एक और अर्थ है—अपने गुरु अथवा परम पूज्य माता-पिताके मुखसे जो कुछ हम सुनें उसको ठीक वैसा ही मानना और ठीक वैसा ही वाणीसे उच्चारण करना तथा ऐसा भाषण करना कि जिससे सब भूतोंका कल्याण हो सत्य कहलाता है। (३) **अस्तेय**—दूसरेकी किसी वस्तुको—चाहे वह तृणके समान क्षुद्र क्यों न हो—हाथ न लगाना तथा मन, वाणी और शरीरसे पर द्रव्यकी अभिलाषा न करना अस्तेय कहलाता है। (४) **असंग**—इसका अर्थ यह है कि किसीके साथ संसर्ग न होना। (५) **ह्री**—इसका अर्थ लज्जा है। साधारण लज्जा नहीं, किंतु इस बातकी लज्जा कि जीव स्वयं ब्रह्म-रूप होकर देहादि अनात्म वस्तुओंमें आसक्त हो गया है और इस प्रकार आत्म-घात करनेको प्रवृत्त हो गया है। (६) **असंचय**—अर्थात् वित्तादि पदार्थोंका संग्रह न करना। द्रव्य-संचय करनेसे मनुष्यको बहुत दुःख भोगना पड़ता है, इस लिए ज्ञानी लोग द्रव्यका संग्रह नहीं करते। वे लोग सदा निष्किंचन और निष्परिग्रह अवस्थामें रहते हैं। (७) **आस्तिक्य**—अपने गुरु वेदान्त अथवा परमार्थ-संबंधी जो उपदेश करें उसमें किसी प्रकारका संदेह न मानना, किंतु उसको सत्य मान कर पूरा विश्वास रखना और उसीके अनुसार आचरण तथा अभ्यास करना। (८) **ब्रह्मचर्य**—मैथुनके जो आठ प्रकार बताये गये हैं उनका त्याग करके अपने अंतःकरणको सदा शुद्ध रखना ब्रह्मचर्यका मुख्य लक्षण है। मैथुनके आठ प्रकार ये हैं:—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः। —दक्षसंहिता।

ब्रह्मचर्यकी सिद्धिके लिए उक्त सब बातोंसे अलिप्त रहना चाहिए। (९) **मौन**—ग्राम्य-वार्तालाप अर्थात् नीच और बीभत्स भाषणका सर्वथा त्याग करना चाहिए। (१०) **स्थैर्य**—जब योगाभ्यास करते समय अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित होते हैं तब उनसे भयभीत न होना, उनकी कुछ परवा न करना और अपने अभ्यास कार्यमें लगे रहना ही स्थिरताका लक्षण है। इसी स्थिरताको धैर्य भी कहते हैं। इसका वर्णन भर्तृहरिने इस प्रकार किया है:—

> विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः ।
> प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजंति ॥

(११) **क्षमा**—दुर्जनोंसे ताड़ित, पीड़ित, अपमानित या निंदित होने पर भी उसका बदला न लेना—उनको दुःख न देना, किंतु स्वयं सब दुःख भोग कर उनकी भलाई हीकी चिंता करना क्षमाका लक्षण है। ज्ञानी जनोंके मतसे शीतोष्ण, राग-द्वेष, सुख-दुःख इत्यादि द्वंद्व भावोंको सह कर केवल निर्द्वंद्व स्थितिमें रहना क्षमाका परम लक्षण है। (१२) **अभय** योगाभ्यास करते समय यह संदेह उत्पन्न होता है कि 'मेरा अभ्यास सफल होगा या नहीं ? क्या और भी विघ्न उपस्थित होंगे ?' इस प्रकारके संदेहोंसे जो भय मनमें उत्पन्न होता है उससे बचे रहनेको अभय कहते हैं।

२ नियम ।

इस योगके ग्यारह भेद हैं; जैसे—

> शौचं जपस्तपो होमं श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
> तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥
>
> —योगवासिष्ठ ।

(१) **शौच**—अर्थात् शुद्धिको कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है। पहली बाह्य शुद्धि और दूसरी आंतरिक शुद्धि। मृत्तिका, जल इत्या-

दिसे शरीरको शुद्ध करना बाह्य शौच कहलाता है और प्राणायामादिके द्वारा शरीरांतर्गत नाड़ियोंकी शुद्धि करके तथा देवताओंकी उपासना करके मनकी जो शुद्धि की जाती है उसको आंतरिक शौच कहते हैं। (२) **जप**—गायत्री, प्रणव इत्यादि पवित्र मंत्रोंमेंसे किसी एक मंत्रका उपदेश श्रीगुरु मुखसे ग्रहण करके उसका आवर्तन करना तथा वेद और अध्यात्म-शास्त्रका अध्ययन करना जप कहलाता है। (३) **तप**—अर्थात् कृच्छ्र, चांद्रायण आदि कर्मोंका श्रद्धा-युक्त अंतःकरणसे आचरण करना। (४) **होम**—अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मोंके द्वारा अग्निकी उपासना करना। (५) **श्रद्धा**—अपने गुरुके विषयमें ईश्वर-भावसे श्रद्धा या विश्वास रखना। गुरुकी योग्यता ईश्वरके तुल्य समझनी चाहिए। कहा है—" यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। " अर्थात् जो मनुष्य ईश्वरकी परम भक्ति करता है और जो यह मानता है कि गुरूमें ईश्वर हीके समान परम शक्ति है उसको श्रद्धावान् कहते हैं। (६) **आतिथ्य**—अर्थात् श्रद्धा-पूर्वक अतिथिकी पूजा और सत्कार करना। (७) **अर्चन**—अर्थात् ईश्वरका भजन, पूजन इत्यादि। (८) **तीर्थाटन**—चित्तकी शुद्धिके लिए पवित्र तीर्थस्थानोंमें भ्रमण करना, वहाँ पवित्रोदकसे स्नान करना और देवताओंका दर्शन-पूजन करना। (९) **परार्थेहा**—अर्थात् परोपकार करने तथा पर-हित सिद्ध करनेके लिए सदा उत्सुक और तत्पर रहना। (१०) **तुष्टि**—यदृच्छासे जो कुछ मिल जाय उसीमें आनंदित रहना या संतोष मानना तुष्टिका लक्षण है। (११) **आचार्य-सेवन**—एकाग्र मनसे अपने गुरुका भजन करना; काया, वाचा और मनसे अपने गुरूकी सेवा करना और अपने सद्गुरूको संतुष्ट करके ईश्वरकी कृपा प्राप्त कर लेना ही आचार्य-सेवन कहलाता है।

जाय तब दूसरे छेदसे रेचक प्राणायाम करना पड़ता है अर्थात् जब इड़ा नामक नाड़ीसे पूरक किया जाता है तब पिंगला नामक नाड़ीसे रेचक करना चाहिए । यदि पिंगला नाड़ीसे पूरक किया जाय तो इड़ा नाड़ीसे रेचक करना चाहिए ।

प्राणायामकी सिद्धिके लिए तीन प्रकारके 'बंध' करना पड़ते हैं, जिनको मूल-बंध, उड्डियान-बंध और जालंधर-बंध कहते हैं । इस बातका उल्लेख पहले किया गया है कि लिंग-स्थान और गुद-स्थानके मध्यभागमें एक प्रकारकी सियन है । उस सियनको बाँए पाँवकी एड़ीसे दबा कर अधोगति-रूप अपान-वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करनेसे जब गुद-द्वारका आकुंचन होता है तब **मूल-बंध** सिद्ध होता है । इस विषयमें यह वचन प्रमाण है:—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोभिधीयते ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

जब रेचक-पूर्वक प्राण-वायुका प्राणायम करते समय अपना पेट पीठकी ओर आकर्षित किया जाता है और नाभि-स्थान किंचित् ऊपरकी ओर खींच लिया जाता है तब **उड्डियान-बंध** सिद्ध होता है । इसके लिए यह प्रमाण है—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डियानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

जब अपने कंठ अर्थात् गलेको संकुचित करके ठुड्डी हृदय स्थान पर स्थिरता-पूर्वक टिका दी जाती है तब **जालंधर-बंध** सिद्ध होता है । जैसे,

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ॥

—हठयोगप्रदीपिका ।

इन तीनों बंधोंमेंसे मूल-बंधका उपयोग पूरक प्राणायामके समय, जालंधर-बंधका उपयोग कुंभक-प्राणायामके समय और उड्डियान-बंधका उपयोग रेचक-प्राणायामके समय किया जाना चाहिए ।

इस प्रकार बंधत्रय-युक्त प्राणायामसे **कुंडलिनी** नामक नाड़ी जागृत होती है । जब मूल-बंध किया जाता है तब अपान-वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण होता है और जब जालंधर-बंध किया जाता है तब प्राण-वायुका नीचेकी ओर आकर्षण होता है—इसका परिणाम यह होता है कि प्राण-वायु तथा अपान-वायुकी एकता हो जाती है और जठरानल इतना प्रदीप्त हो जाता है कि उसमें साक्षात् अग्निके समान उष्णता उत्पन्न होती है । इसी उष्णतासे कुंडलिनीका उत्थान होता है और सुषुम्ना नाड़ीका द्वार खुल जाता है । सुषुम्ना नाड़ीमें जब प्राण-वायुका प्रवेश होने लगता है तब शरीरान्तर्गत सब प्राण-वायु एकत्र होकर ब्रह्मरंध्र तक चली जाती है । उसी समय समाधि अवस्था प्राप्त होती है । इस प्रकारके प्राणायाम हीको श्रीमद्भगवद्गीतामें 'यज्ञ' कहा है:—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

प्राणायामके अभ्याससे अनेक लाभ होते हैं । इस बातकी ओर ध्यान न देनेके कारण वर्तमान समयमें आर्य-सन्तानोंके सामर्थ्यकी बहुत हानि हुई है । अत एव यहाँ इस विषयकी कुछ अधिक चर्चा करना आवश्यक जान पड़ता है । प्राणायामसे प्रथम लाभ यह होता है कि शारीरिक सब नाड़ियोंकी शुद्धि हो जाती है । हम जो अन्न खाते और जल पीते हैं उसका उद्देश यही है कि उस अन्न और जलसे ऐसे रस और वायु (गैस) उत्पन्न हों जो शारीरिक स्वास्थ्य तथा पुष्टिके लिए अत्यंत आवश्यक हैं । परंतु जब यह अन्न और जल पेटमें अपक्व रह जाता है तब उनसे ऐसे रस और वायु (Gass) उत्पन्न होते हैं जो शारीरिक

स्वास्थ्य और पुष्टिके लिए अत्यंत प्रतिकूल तथा हानिकारक हैं। इस प्रकारके मालिन, प्रतिकूल तथा हानिकारक रस और वायुकी उत्पत्तिसे शरीरांतर्गत शुद्ध प्राण-वायुकी स्वास्थ्यकारक गतिमें रुकावट हो जाती है। ऐसे दुष्ट रस और वायुका प्राणायामके योगसे नाश किया जा सकता है। कपिलगीतामें लिखा है कि जल-स्नानसे शरीरकी सिर्फ बाहरी मलिनता दूर होती है। परंतु शरीरके भीतरकी मलिनताका नाश करनेके लिए प्राणायाम-रूप आंतरिक स्नान ही करना चाहिए।

प्राणायामसे दूसरा लाभ यह होता है कि जठरानलकी उन्नति होती है। इस बातका उल्लेख पहले किया गया है कि जब मूल-बंध तथा जालंधर-बंध द्वारा प्राण-वायु और अपान-वायुकी ऐक्यता की जाती है तब जठराग्नि बहुत प्रदीप्त हो जाती है। योगीजनोंके और साधारण लोगोंके भोजन करनेकी रीतिमें बहुत भेद है। वे लोग भोजनके समय साधारण मनुष्योंकी नाईं प्रत्येक व्यञ्जनकी रुचि और स्वादकी ओर ध्यान नहीं देते; किंतु प्राणोंकी रक्षाके लिए अपने जठरानलमें सब व्यञ्जनोंकी आहुति एक-दम डाल देते हैं। उनका जठरानल अत्यंत प्रदीप्त रहता है, इस लिए वह सब अन्नको तुरंत ही पचा डालता है। जठरानलकी उन्नति अथवा प्रदीप्तिके अनेक चमत्कार योगियोंके समाजमें देखे गये हैं। अस्तु।

प्राणायामसे अक्ष-दोषापचय नामक तीसरा लाभ होता है। जब शरीरमें अशुद्ध मल, रस या वायुकी उत्पत्ति होती है तब स्वाभाविक रीतिसे अक्ष अर्थात् इंद्रियोंमें भी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन दोषोंका नाश बंध-युक्त प्राणायामके द्वारा सहज ही किया जा सकता है। जिस प्रकार सुवर्णादि धातुओंकी मलिनता अग्निके संयोगसे नष्ट की जाती है उसी प्रकार इंद्रिय-जन्य दोषोंका क्षय प्राणायामके अभ्याससे किया जाता है। अमृतबिंदु उपनिषद्में लिखा है—

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥

प्राणायामसे **अंगलाघव** नामक चौथा लाभ है। कहते हैं कि जो लोग शिकार अच्छी तरह खेलते हैं उनके शरीरकी मेदाका नाश हो जाता है, उदर कृश हो जाता है और शरीर बहुत हलका हो जाता है। उन लोगोंमें फुरतीलापन (चपलता) बहुत रहता है। इसी तरह प्राणायामके अभ्याससे शरीरमें लघुता अर्थात् हलकापन आ जाता है और शरीर सदा निरोगी तथा अपने अधीन रहता है। इसीको अंगलाघव कहते हैं। इसके सिवाय एक और लाभ होता है। स्वभावतः इंद्रियोंकी प्रवृत्ति विषयोंकी ओर होती है—प्राणायामके द्वारा इस स्वाभाविक प्रवृत्तिका प्रतिबंध होता है और जब सुषुम्ना नाड़ीके द्वारके खुल जानेसे प्राण-वायुका प्रवेश उसमें होने लगता है तब एक प्रकारकी अद्भुत शक्तिका बोध होता है। यह पाँचवाँ लाभ है। प्राणायामसे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि **धारणा** नामक योगांगके साधन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। जब तक प्राणायामकी सिद्धि नहीं होती तब तक धारणा-योगका अभ्यास नहीं किया जा सकता। तात्पर्य यह है कि रजोगुण और तमोगुणके कारण शरीरमें जो मलिनताका संचय हो जाता है उसको प्राणायामके अभ्यास द्वारा नष्ट करनेसे मनकी स्थिति धारणाके योग्य हो सकती है। अत एव यह प्राणायामका अंतिम और महत्त्वका लाभ है।

योगाभ्यासके महत्त्वके विषयमें प्राचीन ग्रंथोंमें बहुत वर्णन किया गया है। पातंजल-सूत्रोंसे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि प्राचीन समयमें इस विषयकी ओर कितना ध्यान दिया जाता था। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक मनुष्यको योगाभ्यासका कुछ अनुभव अवश्य करना चाहिए। इसका कारण यह है कि मनुष्यकी दिनचर्या तथा शरीरके साथ इस विषयका अति निकट संबंध है। जब मनुष्यकी आधी आयु व्यतीत हो जाती है तब उसका शरीर वात-बद्ध होने लगता है और थोंद बढ़ने लगती है। ऐसा न होने देनेके लिए योगाभ्यास-रूप नियमित व्यायाम

बहुत उपयोगी है। यह बात सब लोगोंको विदित है कि नियमित व्यायामसे शरीर वात-बद्ध होने नहीं पाता। व्यायामका मुख्य तत्त्व यही है कि नाभिके समीपका भाग, जिसको योगशास्त्रमें मणिपुर प्रदेश कहते हैं, पीछेकी ओर जितना आकर्षित किया जा सके उतना करना चाहिए। यद्यपि व्यायामके समय नाभिके समीपका भाग पीछेकी ओर आकर्षित हो जाता है तथापि व्यायामके अनंतर जब मनुष्य स्वस्थ बैठा रहता है और किसी प्रकारकी हलचल नहीं करता तब पेटका भाग सामनेकी ओर प्रसृत होने लगता है और थोंद बढ़ जाती है। अत एव जैसे व्यायामके समय पेटका भाग भीतरकी ओर खिंचा रहता है वैसा ही उसको सदा रखनेका प्रयत्न करना चाहिए। इस अभ्याससे शरीरकी स्थूलता नष्ट हो जाती है और वह बहुत हलका होकर सदा हमारे अधीन बना रहता है। यही परिणाम प्राणायामसे भी होता है। बंध-युक्त प्राणायामसे शरीरकी सब नाड़ियोंकी शुद्धि हो जाती है और स्थूलताका नाश होकर उसमें हलकापन आ जाता है।

यह बात हमारे इतिहास और पुराण ग्रंथोंसे सिद्ध है कि प्राचीन समयके आर्य-लोग योगाभ्यासके कारण सदा निरोगी, दीर्घायु होते थे। योगविद्याका ऱ्हास हो जानेसे वर्तमान समयमें हम लोगोंकी शारीरिक दशा कैसी शोचनीय हो गई है सो भी सब लोगोंको विदित है। शरीर-रक्षाका मुख्य आधार-स्तंभ प्राण-वायु ही है। प्राचीन समयके आर्य-लोग इस प्राण-वायुको अपनी अधीनतामें रखनेकी ओर विशेष ध्यान दिया करते थे, इस लिए वे नियमित आहार-विहार तथा एकांत-वासका अवलंब करके सदा प्राण-दमनका अभ्यास किया करते थे। नियमित भोजनका यह नियम है कि पेटका चौथा भाग खाली रहना चाहिए। इस विषयमें सहदेवका कहावत-रूप यह मत सुप्रसिद्ध है—"भूखा राखे चौथा कोन।" हठयोगप्रदीपिका ज्योत्स्नामें भी लिखा है कि—

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

अर्थात् पेटके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे भर कर चौथे भागको वायु-संचारार्थ खाली रहने देना चाहिए ।

प्राचीन आर्योंकी महत्त्वाकांक्षा अमर्यादित थी । योगशास्त्रके सिद्धान्तोंकी ओर ध्यान देनेसे यह जान पड़ता है कि वे लोग इस देहको जरा, व्याधि और मृत्युसे मुक्त करनेका बहुत यत्न किया करते थे । यह मानवी-जीवन शुक्र, धातु अथवा वीर्य पर अवलंबित है और यह शुक्र चित्त पर अवलंबित है । अत एव उन लोगोंका ध्यान सदा ऐसे प्रयत्नोंकी ओर लगा रहता था कि जिनके अवलंबसे शुक्र और चित्तकी यथोचित रक्षा की जा सके । मनकी स्थिरतासे प्राण-वायुकी स्थिरता प्राप्त होती है, प्राण-वायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता प्राप्त होती है और बिंदुकी स्थिरतासे शरीरमें ऐसा अद्भुत तेज या बल उत्पन्न होता है कि जिससे यह शरीर ही सदाके लिए स्थिर हो जाता है—तब मनुष्यको अपने जीवनके विषयमें न संशय रहता है और न उसके मनमें मृत्युका भय रहता है । इस विषयका वर्णन ‘ अमरत्व ’ नामक प्रकरणमें आगे चलकर और भी किया गया है ।

अब यह देखिए कि इस समय हमारे देश-बंधुओंकी क्या दशा है । इस विषयमें विस्तार-पूर्वक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह बात सब लोगोंको विदित है कि हमारी धार्मिक अवस्था संतोषदायक नहीं है । नियत समय पर स्नान करनेकी कोई भी परवा नहीं करते । कोई कोई तो भोजनके अनंतर स्नान करते हैं और कोई कोई दो-दो चार-चार दिनों तक स्नान ही नहीं करते ! जब बाह्य शुद्धिका यह हाल है तब आंतरिक शुद्धिकी परवा कौन करता है । संध्यावंदन और प्राणायामका प्रायः अभाव-सा हो गया है । आहार-विहारमें भी कोई नियम

देख नहीं पड़ता। सबेरे पलंग परसे उठते ही कलेवा या जलपान—चाय, कॉफी या बिस्कुट—इत्यादिका प्रबंध पहले किया जाता है! जो समय स्नान, संध्या, पूजा, प्रार्थना आदि उपासनाके लिए नियत है वह समय पेट-पूजा और इधर उधरकी गप्पोंमें व्यतीत किया जाता है। कलश और कमंडलुके स्थानमें अब चीनी मिट्टीके प्याले तथा टीन और काँच-के बरतन देख पड़ते हैं! दिल-बहलावके लिए नाटक या नाचमें रातभर जागरण करके निद्राका नाश किया जाता है; परंतु जब किसी महत्त्वके विषयकी चर्चा की जाती है तब नींद आ घेरती है! वीर्यकी रक्षा कर-नेकी ओर कुछ भी ध्यान दिया नहीं जाता। ऐसी कठिन दशामें उदर-निर्वाहके लिए विदेशी भाषा और विद्याका असह्य बोझ सिर पर उठाना पड़ता है। इससे शारीरिक स्वास्थ्यकी हानि हो जाती है। यह कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है कि वर्तमान समयमें हमारे विद्वान् और शिक्षित भाई अल्प अवस्था हीमें परलोकको सिधारने लगते हैं! कुछ लोगोंने तो अपने शरीरको पुष्ट करनेके लिए मांसादि त्याज्य वस्तुओंका स्वीकार किया है। परंतु खेदकी बात है कि इससे भी शिक्षित विद्वानोंकी अल्प अवस्थाकी मृत्युकी संख्या किसी प्रकार घटी नहीं। उन लोगोंके शारी-रिक स्वास्थ्यमें भी किसी प्रकारका हितदायक परिवर्तन नहीं हुआ; और अब तो पश्चिमी लोग भी इस बातको मानने लगे हैं कि हिंदुओंकी शाकाहार-पद्धति अत्यंत शुद्ध और कल्याणकारक है। शारीरिक स्वास्थ्यके लिए प्राचीन योगशास्त्रकी पद्धति हीसे विचार करना और उसी शास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करना श्रेयस्कर तथा लाभदायक होगा। अत एव प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आहार-विहार इत्यादि सब कार्योंको नियमित करके प्राणायामका अभ्यास करे और उससे अपना हित संपादन कर ले। जरा, रोग इत्यादिकी निवृत्ति तथा शरी-रकी पुष्टिके लिए प्राणायामका अभ्यास बहुत उपयोगी है।

५ प्रत्याहार ।

यह योगका पाँचवाँ अंग है । यहाँसे लेकर समाधि तक जिन चार अंगोंका वर्णन किया जायगा उससे पाठकोंको प्राचीन आर्य-धर्मकी उज्ज्वलताका कुछ परिचय निस्सन्देह हो जायगा । किसी विद्वान् पुरुषका कथन है कि यदि सर्वोत्तम व्यवहार-निपुणताका नमूना देखना चाहो तो वह अँगरेज लोगोंमें मिलेगा और यदि धर्म-संबंधी उच्च विचार तथा साक्षात् ईश्वर-स्वरूपकी प्राप्तिकी योग्यता ढूँढ़ना चाहो तो प्राचीन सनातन वैदिक-धर्मकी ओर देखना चाहिए । यह बात सत्य है; इसकी प्रतीति पाठकोंको अब शीघ्र ही हो जायगी ।

जब प्राणायामका अभ्यास दृढ़ हो जाय, इंद्रियोंके दोष नष्ट हो जायँ और कुंडलिनी नाड़ीके उद्बोधसे मन धारणा करनेके योग्य हो जाय तब प्रत्याहारका आरंभ करना चाहिए । अब यह जानना चाहिए कि प्रत्याहार किसे कहते हैं । नेत्र, जिव्हा आदि पंचेन्द्रियाँ रूप, रस इत्यादि पाँच विषयोंकी ओर स्वभावतः आकृष्ट हुआ करती हैं; इस स्वाभाविक आकर्षणको रोकना—अर्थात् अपने अंतःकरणमें विषयोंके संबंधमें सदा अनासक्ति उत्पन्न करके उनकी ओर दोष-दृष्टिसे देखना और इन्द्रियोंको अपने चित्तके अनुकूल करना—**प्रत्याहार** कहलाता है । याज्ञवल्क्य संहितामें लिखा है:—

इंद्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

इन्द्रियोंकी विषय-निवृत्ति विवेकसे हो जाती है; परंतु विवेक-बलके लिए विषयोंके संबंधमें दोष-दृष्टि होनी चाहिए । इस दोष-दृष्टि हीको वैराग्य कहते हैं । इसके बिना विषयोंका परित्याग हो नहीं सकता । यह दोष-दृष्टि बहुत समय तक स्थिर रहनी चाहिए । क्षणिक दोष-दृष्टिसे कुछ लाभ नहीं होता । इससे प्रत्याहारका कार्य हो नहीं सकता । यह

बात सब लोगोंको विदित है कि मनुष्यको विषयोंके संबंधमें कभी कभी विरागता आ जाती है; जैसे आकण्ठ मिष्टान्न भोजन करनेके बाद या किसी आप्त-जनकी मृत्युके बाद स्मशानमें जानेके समय या स्त्री-संभोगके अनंतर। परंतु यह वैराग्य-बुद्धि चिरस्थायी नहीं होती। यदि यही वैराग्य चिरस्थायी हो जाय तो संसारके बंधनसे कौन मुक्त न होगा? हमारे सनातन वैदिक-धर्मका यही यत्न है कि मनुष्यके अंतः-करणमें विषयोंके संबंधमें दोष-दृष्टि सदा जागृत रहे। इसी लिए योग-वासिष्ठमें कहा है:—

कुरंगालिपतंगेभमीनास्त्वेकैकशो हताः।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याज्ञ कुतः सुखम्॥

अर्थात् हिरन गीतिसे मुग्ध होकर मारा जाता है, भ्रमर सुगंधमें निमग्न हो जानेके कारण कमलमें फँस जाता है, पतंग रूपसे मोहित होकर दीपकको ज्योतिमें नष्ट हो जाता है, हाथी स्पर्शके अधीन होनेके कारण पकड़ा जाता है और मछली रससे लुब्ध होकर अपने प्राणका नाश कर लेती है। यदि एक-ही-एक विषयके अधीन होनेके कारण उक्त जीवोंकी यह दुर्दशा हो जाती है तो पंच विषय-रूप अनर्थोंसे घिरे हुए मनुष्यको सुखकी प्राप्ति क्यों कर हो सकती है? तात्पर्य यह है कि सुख-प्राप्तिके लिए विषयाकर्षित इन्द्रियोंको अपने अधीन रख कर चित्तको सदा स्थिर और शांत रखना चाहिए—अर्थात् प्रत्याहारका अभ्यास करते रहना चाहिए।

प्रत्याहारका दूसरा प्रकार यह है—ऐसी भावना करनी चाहिए कि मन, इंद्रियाँ और विषय सब आत्म-स्वरूप ही हैं। इस विषयमें अमृतबिंदु उपनिषद्में लिखा है:—

शब्दादिविषयाः पंच मनश्चैवातिचंचलम्।
चिंतयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात् प्रत्याहारमें इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि शब्दादि पाँच विषय और उनको ग्रहण करनेवाली इंद्रियाँ तथा मन ये सब आत्म-स्वरूप सूर्यके किरण हैं। इस चराचर सृष्टिमें जो कुछ है उसकी ओर आत्म-भावसे देखना ही प्रत्याहार कहलाता है। गोरखनाथका कथन है कि जो प्रिय अथवा अप्रिय शब्द श्रवणेन्द्रियसे सुना जाता है उसको आत्म-स्वरूप ही जानना चाहिए। जो जो पदार्थ त्वगेन्द्रियको कोमल अथवा कठोर मालूम होता है, जो सुरूप अथवा कुरूप पदार्थ नेत्रोंसे देखा जाता है, जो मधुर अथवा कटु रस जिव्हेन्द्रियसे चखा जाता है और जो सुगंध या दुर्गन्ध घ्राणेन्द्रियसे सूंघा जाता है उसको आत्म-स्वरूप जान कर योगीको प्रत्याहार करना चाहिए। जैसे कछुवा अपने हस्त-पादादि अवयवोंको अपने भीतर सिकोड़ लेता है वैसे ही योगीको श्रोत्रादि सब इन्द्रियों तथा उनके विषयों और मनको आत्म-स्वरूपमें लीन कर देना चाहिए। इसीको प्रत्याहार कहते हैं।

उक्त दोनों प्रकारके प्रत्याहार राजयोगके संबंधमें बताये गये हैं। हठयोगमें भिन्न प्रकारका प्रत्याहार बताया गया है। मनुष्यके शरीरमें पच्चीस मर्म-स्थान हैं——जैसे ब्रह्मरंध्र, ललाट, भुकुटि-मध्य-प्रदेश, नेत्र-मंडल, नासिका-मूल-प्रदेश, तालु, कंठ, हृदय, नाभि इत्यादि। अंगुष्ठ-स्थानसे आरंभ करके, क्रमशः एक मर्म-स्थानसे दूसरे मर्म-स्थानमें होते हुए, ब्रह्म-रंध्र तक प्राण-वायुकी धारणा करना और फिर उस प्राण-वायुको ब्रह्मरंध्रसे नीचे उतार कर प्रत्येक मर्म-स्थानमें स्थापित करना हठयोगका प्रत्याहार कहलाता है।

यहाँ तक प्रत्याहारके तीन भेदों और उनके लक्षणोंका वर्णन किया गया। अब यह देखना चाहिए कि प्रत्याहारसे क्या लाभ होता है। प्रथम लाभको सुर-प्रसाद अर्थात् ईश्वरी साक्षात्कार कहते हैं। जो लोग प्रत्याहारके द्वारा अपनी इंद्रियोंको विषयोंसे पराङ्मुख करते हैं उनसे

ईश्वर प्रसन्न होता है। जो लोग सदा इंद्रियोंके अधीन बने रहते हैं उन पर ईश्वरकी कृपा कदापि नहीं होती। दूसरा लाभ यह है कि प्रत्याहार करनेसे मन सदा सुप्रसन्न रहता है। जितेन्द्रिय पुरुष सदा प्रसन्न-चित्त होते हैं; परंतु जो लोग इंद्रियोंके अधीन होते हैं वे कभी प्रसन्न-चित्त नहीं रहते; क्योंकि जब इंद्रियाँ विषयासक्त होती हैं तब स्वभावत: मनुष्यकी प्रवृत्ति विषयोपभोग हीकी ओर हुआ करती है। ऐसी अवस्थामें मन सदा चिंता-युक्त और दुखी बना रहता है। प्रत्याहारसे तीसरा लाभ यह होता है कि तपकी वृद्धि होती है। तप:प्रवृद्धिको सनातन वैदिक-धर्मका आधार-स्तंभ जानना चाहिए। इसीके आधार पर सब आचार-विचार स्थापित किये गये हैं। जो मनुष्य अपनी इंन्द्रियोंका निग्रह करता है उसीको जितेन्द्रिय कहते हैं। उसके तपकी वृद्धि दिन प्रति दिन होती जाती है। इंद्रिय-निग्रह ही परम तप है:—

> मनसश्चेंद्रियाणां च निग्रहः परमं तपः ।
> तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥
>
> —स्मृति।

अर्थात् मन और इंद्रियोंको विषयोंसे परावृत्त करना ही परम तप कहलाता है। सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म यही है। जितेन्द्रिय मनुष्य जो कुछ तपादि क्रिया करता है वह सब यथोक्त फलदायक होती है। यह तत्त्व अत्यंत महत्त्वका है; क्योंकि इसका संबंध समाजमें प्रचलित अनेक रूढ़ियोंके साथ लगा हुआ है। उदाहरणार्थ, विवाहकी पद्धति लीजिए। वेदकालसे लेकर इस समय तक जितने सर्वमान्य ग्रंथ विवाह-पद्धतिके निर्णायक हुए हैं उनके भावार्थकी ओर देखनेसे यही बोध होता है कि विवाह-पद्धतिके द्वारा इंद्रिय-निग्रहकी सिद्धि हीकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

प्रत्याहारका चौथा लाभ दैन्य-संक्षय है। जितेन्द्रिय पुरुषोंमें दीनताका नाम तक नहीं रहता। वे लोग किसी राजा, महाराजा या धनिककी परवा नहीं करते। सच है, जिसने स्वार्थको जीत लिया है उसमें दीनता क्यों कर रह सकती है। प्रत्याहारसे द्रुतंप्रवेश नामका पाँचवाँ लाभ है, जिससे धारणा, ध्यान और समाधिमें शीघ्रतासे प्रवेश हो जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि होते ही साधक पुरुष योगाभ्यासके उक्त अंगोंमें प्रवेश करनेके योग्य हो जाता है। इस लिए अब योगके छठे अंगका वर्णन किया जायगा।

६ धारणा।

धारणासे लेकर समाधि तक योगके जो तीन अंग हैं उनको **संयम** कहते हैं। सनातन वैदिक-धर्मके अनुसार शरीर अनेक देवों और तीर्थोंका निवास-स्थान है। योगीके शरीरमें पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, ऋषि, तारा, तीर्थ, देव, देवालय आदि सब कुछ हैं। इस विषयमें उपनिषद्में लिखा है—"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे निवसंति।" अर्थात् जितने देव हैं वे सब वेदज्ञ ब्राह्मणमें रहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधिका मुख्य तत्त्व यह है कि शरीरके अनेक चक्र-स्थानोंमें, कमल-स्थानोंमें और मर्म-स्थानोंमें जिन जिन देवोंकी भावना की जाती है वे देव सुप्रसन्न हो जाते हैं और इस प्रकारकी सिद्धिसे योगीजन उन देवताओंकी आराधना हीमें निमग्न रहते हैं। धारणाके विषयमें भगवद्गीतामें कहा है:—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत॥

अर्थात् आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधि-भौतिक विषयोंमेंसे इस चंचल मनको बल-पूर्वक हटा कर केवल आत्म-स्वरूपमें लीन करना **धारणा** कहलाती है। यदि एक-बार आत्म-स्वरूपमें स्थिर किया हुआ मन फिर भी विषयोंकी ओर दौड़ने लगे तो उसका बल-पूर्वक निग्रह करना और उसको

फिरसे धारणा-प्रदेशमें स्थिर रखना बहुत धीरज और साहसका काम है। यह बात निरंतर अभ्यास करते रहने हीसे सिद्ध हो सकती है। यदि इस यत्नमें पहले पहल सफलता प्राप्त न हो तो भी खेद न मानना चाहिए; किन्तु उत्साह-पूर्वक बार-बार मनोनिग्रह करके धारणामें स्थिर रहनेका अभ्यास करनेवाले साधक जनोंको पुराणोंमें वर्णित टिट्टिभ पक्षी-की कथासे शिक्षा लेनी चाहिए। किसी टिट्टिभ पक्षीके अंडे समुद्र ले गया। तब उस जातिके सब पक्षी एकत्र होकर अपनी चोंचसे समुद्रका जल खींच कर उसको सुखानेका यत्न करने लगे। उस समय नारदमुनि वहाँ आये। पक्षियोंका यह यत्न देख कर वे वैकुंठ-धामको गये और वहाँ जाकर उन्होंने गरुड़जीसे सब हाल कहा। गरुड़जी समुद्रके पास आकर अपने पंखोंसे सब जल सुखाने लगे। यह धीरज और साहस देखते ही समुद्रने टिट्टिभ पक्षीके अंडे लौटा दिये। इस पौराणिक-कथासे योगा-भ्यास करनेवाले साधक जन किस प्रकार शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं सो देखिए। टिट्टिभ पक्षीको साधक पुरुष जानिए। समुद्रको सुखा-नेका यत्न मानो उस साधकका मनोनिग्रह है। नारदमुनिको उस साधककी आंतरिक श्रद्धा या भक्ति और गरुड़को ईश्वर समझना चाहिए। उक्त रूपकसे यह बात सिद्ध होती है कि यदि साधक पुरुष अपने अभ्यास या प्रयत्नमें निराश न हो; किंतु निरंतर अभ्यास हीमें लगा रहे, तो उसकी आंतरिक श्रद्धा या भक्ति इतनी बढ़ जायगी कि प्रत्यक्ष ईश्वर भी प्रसन्न होकर उसकी सहायता करेगा। तात्पर्य यह है कि साधक पुरुषको निराश न होते हुए सदा अपने अनुसंधान हीमें लगे रहना चाहिए। यह धारणा-योग तलवारकी धार पर खड़े रहनेके समान अत्यंत कठिन है, इस लिए साधक पुरुषको बार-बार यत्न करके अपने चंचल चित्तको सदा धारणा-प्रदेशमें स्थिर रखनेका अभ्यास करते रहना चाहिए।

योगशास्त्रमें यह बात अनेक चमत्कृति-जनक उदाहरणोंसे समझा दी गई है कि धारणा-प्रयोगके समय योगीका मन किस प्रकार एकाग्र होना चाहिए। जब कोई मनुष्य तेलसे लबालब भरा हुआ बरतन अपने हाथमें लेकर सीढ़ी पर चढ़ने लगता है तब उसको अपना मन इस बातके लिए बहुत एकाग्र करना पड़ता है कि कहीं बरतन हिल न जाय और उसमेंका तेल गिर न पड़े—उसका सब ध्यान, सब चित्त, उस बरतन हीकी ओर लगा रहता है। ठीक इसी तरह योगी पुरुष अपने मनको धारणा-प्रदेशमें एकाग्रतासे स्थिर करके समाधि-सोपान पर आरोहण करनेका यत्न करता है। धारणा-योगमें इस भावनाका विशेष अभ्यास करना पड़ता है कि यह शरीर केवल पंचभूतात्मक है—अर्थात् इसी भावनाके अनुसार योगीको अपने शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंमें भिन्न भिन्न तत्त्वोंकी स्थापना करनी पड़ती है। शरीरमें पंचभूतोंका विभाग इस प्रकार किया जाता है—(१) पैरसे लेकर घुटने तक पृथ्वी-तत्त्व; (२) घुटनेसे नाभि तक जल-तत्त्व; (३) नाभिसे हृदय तक तेज या अग्नि-तत्त्व; (४) हृदयसे भ्रूमध्य तक वायु-तत्त्व; और (५) भ्रूमध्यसे शिखा तक आकाश-तत्त्व। इस प्रकार पंचभूतोंके विभागकी कल्पना या भावना स्थिर करके योगीजन अपने शरीरमें मानो एक नया जगत् ही निर्माण करते हैं। उक्त पाँच तत्त्वोंमें जिन देवताओंकी स्थापना करनी पड़ती है उनका वर्णन यह है:—पृथ्वी-तत्त्वमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले चतुर्मुख ब्रह्माका ध्यान करना चाहिए; जल-तत्त्वमें पीतांबरधारी नारायणका भजन करना चाहिए; अग्नि-तत्त्वमें त्रिलोचन महारुद्रकी उपासना करनी चाहिए; वायु-तत्त्वमें सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी भक्ति करनी चाहिए और आकाश-तत्त्वमें उस महादेवका ध्यान करना चाहिए जो शुद्ध स्फटिकके समान गौरवर्ण हैं।

७ ध्यान ।

यह योगाभ्यासका सातवाँ अंग है । इसको समाधिका केवल द्वार ही कहना चाहिए । अन्य वृत्तियोंका आश्रय न करके अपने चित्तको तेलकी धारके समान अखंडित स्थितिमें रखना **ध्यान** कहलाता है । "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् —" इस पातंजल-सूत्रका भी यही भावार्थ है । ध्यानके मुख्य दो भेद हैं—एक सगुण और दूसरा निर्गुण । सगुण ध्यानके पाँच भेद किये गये हैं, जैसे विष्णु-ध्यान, अग्नि-ध्यान, सूर्य-ध्यान, भ्रू-ध्यान, और पुरुष-ध्यान। इनमेंसे प्रथम **विष्णु-ध्यान**का वर्णन यह है— चतुर्भुज, शंख-चक्र-गदा-पद्म-किरीट-केयूर-धारी, कमल-नयन, श्रीवत्साङ्कित हृदय साक्षात् विष्णुकी मूर्तिका ध्यान करके यह भावना करनी चाहिए कि मैं स्वयं विष्णु-रूप हूँ । यह ध्यान वैष्णवोंके लिए कहा गया है । जो लोग शैव हैं उनको शंकरका ध्यान करना चाहिए । दूसरा **अग्नि-ध्यानः**—नारायणोपनिषद्में परमात्म-स्वरूपका जो वर्णन किया गया है उसीके अनुसार यह ध्यान होना चाहिए, जैसे—

> नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
> नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥
> तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।

दीपककी स्थिर और शांत ज्योतिमें परमात्म-स्वरूपकी भावना करके जो ध्यान किया जाता है उसको अग्नि-ध्यान कहते हैं । जो वैश्वानर अर्थात् अग्नि या तेज नीलवर्ण मेघोंमें बिजलीके समान चमकता है और जो नीवार नामक तृणके अग्रभागके समान केवल अणु-रूप है वह स्वयं मैं ही हूँ, ऐसी भावना करना अग्नि-ध्यान कहलाता है । तीसरा **सूर्य-ध्यानः**—जब हृदयमें यह भावना की जाती है कि सारे जगत्को प्रकाशित करनेवाला और सब लोगोंका साक्षी सुवर्णमय भगवान् सूर्य मैं ही हूँ तब उसको सूर्य-ध्यान कहते हैं । चौथा **भ्रू-ध्यानः**—प्रकाशमय परमात्माके तेजोबिंबका अपने भ्रूमध्य-स्थानमें चिंतन करके यह भावना

करना कि मैं वही बिंब-स्वरूप हूँ, भ्रू-ध्यान कहलाता है। पाँचवाँ **पुरुष-ध्यानः**—जिसके शरीर पर चंद्र-मंडलसे नीचे गिरनेवाली अमृत-धारका सिंचन हो रहा है और जिसका शरीर अत्यंत पुष्ट तथा तेजोमय है उस पुरुषका चिंतन अपने हृदयमें करके यह भावना करना कि मैं ही वह पुरुष हूँ, पुरुष-ध्यान कहलाता है।

निर्गुण ध्यानके विषयमें योगशास्त्रमें यह लिखा है कि जो सच्चिदानंद-रूप परमात्मा एक, अद्वितीय, ज्योतिर्मय, आदि-मध्यांत-रहित, अरूप, अरस, अगंध, अमूर्त, सर्व-जगद्रूप और सबमें अंतर्बाह्य व्याप्त है वही ब्रह्म-स्वरूप मैं हूँ, इस प्रकारकी जो भावना की जाती है उसको निर्गुण ध्यान कहते हैं।

ध्यान-योगके और भी अनेक भेद हैं। ऊपर केवल मुख्य मुख्य भेदोंका बर्णन किया गया है। यदि उक्त प्रकारसे ध्यान-योगका अभ्यास किया जायगा तो इसमें संदेह नहीं कि पर्वतके समान भी बड़े बड़े पापोंका नाश हो जायगा। पापोंका क्षय होते ही अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, रजोगुण और तमोगुणका लोप हो जाता है और केवल शुद्ध सत्वगुण शेष रह जाता है। उसी अवस्थामें आत्म-साक्षात्कारका अनुभव होने लगता है। ध्यानबिंदु उपनिषद्में लिखा है:—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

अर्थात् जब दो लकड़ियोंका परस्पर घर्षण होता है तब उनमेंसे अग्नि-की उत्पत्ति होती है; इसी तरह जब अपने देहमें मन-रूप एक लकड़ीका प्रणव-रूप दूसरी लकड़ीके साथ घर्षण अथवा ध्यान-रूप मंथन किया जाता है तब परम ज्योति-रूप ईश्वरका साक्षात्कार करने योग्य ध्यानकी दृढ़ता हो जाती है; तब मोक्षका द्वार आप ही-आप खुल जाता है।

ध्यान-धारणाकी महिमाके संबंधमें अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं । इसमें संदेह नहीं कि विषय-सुखमें निमग्न रहनेवाले पुरुष भी ध्यान-धारणाके योगसे साक्षात्कार लाभ करके सन्मार्गमें प्रवृत्त हो जाते हैं । इस विषयमें श्रीएकनाथ और विश्वंभर बाबाकी कथाका संक्षेपमें उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है । विश्वंभर बाबा अपनी पूर्वावस्थामें बड़े स्त्री-लंपट थे । वे श्रीएकनाथके समान भगवद्भक्त साधुओंकी सदा निंदा किया करते थे । एक-दिन अचानक दोनोंकी भेंट हुई । श्रीएकनाथने विश्वंभर बाबासे पूछा कि आप इस दुनियामें किस वस्तुको सबसे अधिक विलोकनीय, सुंदर और मोहक समझते हो । इस पर विश्वंभर बाबाने उस स्त्रीका नाम बताया जिस पर वे मोहित थे । तब एकनाथने उस स्त्रीकी सुंदरताका वर्णन करनेको कहा । विश्वंभर बाबा वर्णन करने लगे; परंतु जब वे उस स्त्रीकी सुंदरताका यथोचित वर्णन कर न सके तब एकनाथने उनसे कहा कि आप उस स्त्रीके पास जाकर उसकी सुंदरताका निरीक्षण करके यहाँ लौट आइए और तब वर्णन कीजिए । उन्होंने ऐसा ही किया । तिस पर भी वे उस स्त्रीकी सुंदरताका यथोचित वर्णन कर न सके । तब एकनाथने फिर उनको उस स्त्रीके पास भेजा । इस प्रकार छः महीने तक वे प्रति दिन उस स्त्रीके पास जाते, उसके प्रत्येक अवयव और अलंकारकी सुंदरता ध्यान-पूर्वक देखते और एकनाथके पास आकर उसका वर्णन करते थे । ऐसा करते करते उस स्त्रीकी सुंदरताकी संपूर्ण मूर्ति उनके ध्यानमें स्थिर और अटल हो गई । वे उसकी सुंदरतामें इतने निमग्न हो गये कि अब उन्हें उसके पास जानेकी आवश्यकता न रही । तब एक दिन उस स्त्रीने उन्हें अपने घर पर बुलाया; परंतु उन्होंने यह संदेसा भेज दिया कि अब तेरे यहाँ आनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, तू तो सदा ही मेरे हृदयमें निवास करती है, तेरी सुंदर और मनोहर मूर्ति क्षणभर भी मुझसे अलग नहीं होती, ऐसी

अवस्थामें वहाँ आकर मुझे और क्या लाभ होगा ? जब एकनाथ महाराजने देखा कि विश्वंभर बाबा उस मोहिनीकी सुंदरताके ध्यानमें अत्यंत निमग्न हो गये हैं तब उन्होंने उसी ध्यानको परमात्माके स्वरूपमें बदलनेका उपदेश किया । थोड़े ही समयमें विश्वंभर बाबा आत्म-साक्षात्कारका अनुभव करके बड़े साधु पुरुष हो गये । उन्होंने मराठी भाषामें ज्ञान-निरूपण-विषयक कविताकी रचना की है ।

योगशास्त्रमें आत्म-साक्षात्कारके दो भेद बताये गये हैं । इनमेंसे पहला यह है कि जब साधक पुरुष अपनी जिव्हाके अग्र-भागमें चित्तकी एकाग्र-धारणा करता है तब कुछ समयके बाद उसको दिव्य रसकी प्राप्ति होती है, जिव्हाके मध्य भागमें चित्तकी धारणा करनेसे दिव्य स्पर्शकी प्रतीति होती है, जिव्हाके मूल-प्रदेशमें चित्तकी धारणा करनेसे दिव्य शब्दका अनुभव होता है, तालु-स्थानमें चित्तकी धारणा करनेसे दिव्य-रूपका और नासिकाके अग्र-भागमें चित्तकी धारणा करनेसे दिव्य गंधका साक्षात्कार होता है । इन पाँच विषयोंमेंसे जब तक किसी एकका भी साक्षात्कार हो न जाय तब तक साधक पुरुषको ध्यान-योगका अभ्यास करना आवश्यक है । दूसरा भेद यह है कि साधक पुरुष अपने चित्तको निस्तरंग समुद्रके समान शांत करके उसमें सूर्य, चंद्र, तारा अथवा हीरा या मणिके तेजका ध्यान करे । ऐसा ध्यान करनेसे कुछ समयमें उसके हृदयमें दिव्य तेजका साक्षात्कार होने लगेगा । ऐसा करते करते वह योगाभ्यासी पुरुष परमात्म-स्वरूपका साक्षात्कार करनेके योग्य हो जायगा । उद्दालक ऋषिके आख्यानमें इस साक्षात्कारके संबंधमें लिखा है—

"तमस्युपरते स्वांते तेजःपुंजं ददर्श सः ।" अर्थात् ध्यान-धारणाके अभ्याससे सब तमका नाश हो जानेके बाद हृदयमें तेज पुंजका अनुभव होने लगता है । **वेदोक्त धर्मप्रकाश** नामक ग्रंथमें अनुभव-सिद्ध मानस-पूजाका वर्णन किया गया है । मानस-पूजा करते समय धूप, दीप, गंध

इत्यादि जिस सामग्रीका केवल काल्पनिक उपभोग किया जाता है उसकी प्रत्यक्ष प्रतीति सिर्फ ध्यान करनेवाले पुरुष हीको नहीं, किंतु उसके समीप बैठनेवाले अन्य सब लोगोंको भी होती है। यह बात अनुभव-सिद्ध और सत्य है। इस वर्णनमें रत्तीभर अतिशयोक्ति नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि ध्यान-धारणाके योगसे अर्थात् दृढ़ चिंतनके अभ्याससे योगी पुरुष अनेक चमत्कार कर सकते हैं। तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि वे अपने दृढ़ चिंतनसे आत्म-साक्षात्कार लाभ करनेको समर्थ होते हैं।

८ समाधि।

यह योगका आठवाँ और अंतिम अंग है। यही योगाभ्यासकी अंतिम मर्यादा है। जिस अवस्थामें अपना मन ध्येय-वस्तुके स्वरूपको पहुँच कर अन्य प्रकारकी सब चिंतन-क्रियाको भूल जाता है तथा संकल्प-विकल्प-रहित होकर केवल ध्येय-वस्तुके स्वरूपमें लीन हो जाता है, उस अवस्थाको योगीजन समाधि कहते हैं। पातंजल योगशास्त्रमें लिखा है— "तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" अर्थात् समाधि-अवस्थामें मन अपने मनत्त्वको भूल कर सदा ध्येय-रूप ही बना रहता है। योगशास्त्रमें यह विषय अनेक दृष्टाँतोंके द्वारा भली भाँति समझा दिया गया है। उनमेंसे कुछ दृष्टांत यहाँ दिये जाते हैं। पहला दृष्टांत, जैसे जल-बिंदु समुद्रमें प्रविष्ट होते ही तन्मय हो जाता है वैसे ही मन ध्येय-वस्तुके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर तल्लीन हो जाता है। दूसरा दृष्टांत, जब नमक पानीके साथ मिलाया जाता है तब वह अपने नकमपनका त्याग करके जल-रूप हो जाता है। इसी तरह जो मन आत्म-स्वरूपके साथ संयुक्त होता है वह अपने मूल-स्वभावका त्याग करके केवल आत्म-रूप हो जाता है। समाधि-अवस्थामें प्राण और मन दोनोंका एकत्र लय होता है, जीवात्मा और परमात्माकी एकता

होनेसे सम-रसता प्राप्त होती है और सब संकल्पोंका नाश हो जाता है। समाधिका उक्त वर्णन राजयोगके अनुसार किया गया है। जब तक सद्गुरुके मुखसे महा-वाक्यका उपदेश ग्रहण किया नहीं जाता तब तक उक्त समाधि-अवस्थाका अनुभव प्राप्त नहीं होता। यद्यपि यह बात सत्य है कि विषयोंके संबंधमें विरागता सहज ही उत्पन्न नहीं होती और यद्यपि यह बात सत्य है कि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति कुछ लड़कोंका खेल नहीं है, तथापि ये दुर्लभ बातें भी सद्गुरुकी कृपासे अनायास प्राप्त हो जाती हैं। सद्गुरु-कृपाके बिना ये बातें कभी सिद्ध हो नहीं सकतीं। उक्त समाधिको योगशास्त्रमें **सहजावस्था** भी कहा है। इसी अवस्थामें आत्म-साक्षात्कारकी सिद्धि होती है।

समाधिके समान श्रेष्ठ और अत्युत्तम अवस्था ईश्वरके अनुग्रह अथवा सद्गुरुकी कृपाके बिना प्राप्त हो नहीं सकती, यह सुन कर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि जीव और शिवकी एकता स्वयं-सिद्ध है तो साधक पुरुषको ईश्वरकी आराधना करने या सद्गुरुकी कृपा संपादन करनेकी क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थ-दृष्टिसे जीव और ईश्वर दोनों एक हैं तथापि जीवको ईश्वरकी आराधना करनी ही चाहिए। इस विषयमें श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वच न समुद्रो न तारंगः॥

अर्थात् यद्यपि वैराग्य-बलकी प्राप्ति हो जाय और यद्यपि वेदान्तके अभ्याससे जीव और शिवका भेद नष्ट हो जाय तथापि जीवको ईश्वरके प्रति यह कहना चाहिए कि "हे भगवन्! मैं तेरा हूँ, तू कुछ मेरा नहीं है।" समुद्र और उसकी लहरोंके दृष्टान्तसे भी यही बात पाई जाती है कि यद्यपि लहरें समुद्रकी हैं ऐसा कहा जाता है तथापि समुद्र कुछ उन लहरोंका हो नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि परमार्थ-दृष्टिसे

जीव और शिवकी एकता हो जाय तथापि जीवको ईश्वरकी सेवा और आराधना करनी ही चाहिए।

उक्त आराधनाके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है कि साधक पुरुषको प्रणवका जप करना चाहिए। प्रणव ओंकारको कहते हैं और वह परमेश्वरका वाचक शब्द है। प्रणव और ईश्वरमें वाच्य-वाचक संबंध है। जब हम किसी मनुष्यको उसका नाम लेकर पुकारते हैं तब वह हमारे सन्मुख आकर खड़ा हो जाता है। वैसे ही जब ओंकारका जप किया जाता है तब ईश्वर प्रसन्न होकर हमारे सन्मुख उपस्थित हो जाता है। प्रणव और ईश्वरका वाच्य-वाचक संबंध कुछ आज-कलका नया नहीं है—वह अनादि कालसे स्वयं-सिद्ध चला आ रहा है। अत एव विधि-पूर्वक ओंकारका जप करना और उसके अर्थका चिंतन करना ईश्वरकी परम आराधना है। ओंकार शब्दका अर्थ श्रुतियों और स्मृतियोंमें अनेक प्रकारसे किया गया है; परंतु मांडूक्य उपनिषद्में इस शब्दका जो अर्थ किया गया है वह सब आचार्यों और पंडितोंको मान्य है। संक्षेपमें उसका वर्णन यह है:—ओंकार शब्द **अकार, उकार, मकार**, और **अर्धमात्रा**-से मिल कर बना है। अकारके अर्थसे जागृतावस्था, विश्व और विराट-रूपका बोध होता है। उकारके अर्थसे स्वप्नावस्था, तैजस और हिरण्य-गर्भके स्वरूपका बोध होता है। मकारके अर्थसे सुषुप्तावस्था, प्राज्ञ और ईश्वरकी उत्पत्ति होती है। अर्धमात्राके अर्थसे तुर्यावस्था, साक्षी और ब्रह्मकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार ओंकारके अर्थका चिंतन करते करते अकारसे उकारमें, उकारसे मकारमें और मकारसे अर्धमात्रामें जब मनका लय किया जाता है तब प्रणव-रूप ईश्वरकी परम आराधना सिद्ध होती है। हिन्दी भाषामें वेदान्त-विषयका निरूपण करनेवाले जो ग्रंथ हैं उनमें **विचारसागर** अत्यंत महत्त्वका है। उस ग्रंथमें ओंकारका अच्छा निरूपण किया गया है।

इसमें संदेह नहीं कि सब मंत्रोंमें प्रणव अर्थात् ओंकार ही अत्यंत श्रेष्ठ है। पराशरस्मृतिमें कहा है कि यद्यपि चारों वेद मंत्र-रूप हैं तथापि उनमें गायत्री-मंत्र सबसे उत्तम है। उसकी उपासना ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको अवश्य करनी चाहिए। परंतु ओंकार-मंत्र चारों वेदोंका सार है, इस लिए वह गायत्री-मंत्रसे भी अधिक श्रेष्ठ है। छांदोग्य उपनिषद्में कहा है कि जब ब्रह्मदेवने सृष्टिकी रचना की तब उसने पहले तीन लोक निर्माण किये। अनंतर जब उनका मंथन किया गया तब उनमेंसे ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद उत्पन्न हुए। इसके बाद जब वेदोंका मंथन किया गया तब उनमेंसे भूः, भुवः और स्वः नामक तीन व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। इन व्याहृतियोंके मंथन करनेसे प्रणव-रूप ओंकार उत्पन्न हुआ। तात्पर्य यह है कि ओंकार ही सार वस्तु है—वह केवल जगद्रूप है। अत एव उसका जप करके उसके अर्थका चिंतन करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा करनेसे ईश्वरकी आराधना सिद्ध होगी और साधक पुरुषको आत्म-साक्षात्कारका लाभ होगा। इससे निष्काम-बुद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति होगी और अंतमें मोक्ष भी प्राप्त होगा।

यहाँ तक योगके आठों अगोंका वर्णन किया गया और यह सिद्ध किया गया कि योगाभ्यास मनोलयका बहुत उत्तम साधन है। अब मनोलयके दूसरे साधन अर्थात् ज्ञान या सांख्यका संक्षेपमें निरूपण किया जायगा।

सब श्रुतियों और स्मृतियोंका कथन है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। यह ब्रह्मज्ञान वेदान्त-शास्त्रके केवल श्रवण हीसे प्राप्त हो नहीं सकता। उसकी प्राप्तिके लिए चित्तकी एकाग्रताकी अत्यंत आवश्यकता है। इस चित्तैकाग्रताके दो प्रधान उपाय हैं। पहला उपाय योगाभ्यास है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। दूसरा उपाय सांख्य अथवा सम्यग्ज्ञान है। जिस प्रकार योगा-

भ्याससे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध अर्थात् मनोलय किया जाता है उसी तरह सम्यग्ज्ञान अथवा सांख्यसे भी मनका लय किया जा सकता है। सांख्य-ज्ञानका तात्पर्यार्थ यह है:—जितने पदार्थ दृष्टि-गोचर होते हैं और जो इंद्रियोंको सत्य प्रतीत होते हैं उन सब पदार्थोंको जड़, पर-प्रकाशित और मिथ्याभूत जानना चाहिए। जो वस्तु परिच्छिन्न है उसको अनात्मा, अत एव असत्य जानना चाहिए। इस असत्य तथा मिथ्याभूत ज्ञानसे जो ज्ञान भिन्न है उसीको स्वयं-प्रकाशित तथा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान केवल साक्षित्व-भावसे अनुभूत होता है। जो ज्ञान मन, बुद्धि और अहंकारके योगसे सत्य प्रतीत होता है उसको असत्य और मिथ्याभूत जानना चाहिए। केवल साक्षि-ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। साक्षि-ज्ञान हीको आत्मज्ञान अथवा स्व-स्वरूप-ज्ञान कहते हैं। शास्त्रोक्त उचित उपायोंसे इस आत्मज्ञानका बोध करके उसीमें सदा निमग्न रहनेका अभ्यास करना चाहिए। इससे जगदाभासका विस्मरण हो जायगा और पूर्ण विश्राम-स्थान प्राप्त हो जायगा। जैसे रज्जुको सर्प मानना केवल आभास है वैसे ही साक्षि-स्वरूपमें अन्य ज्ञानको केवल आभास जानना चाहिए। यही सांख्य-ज्ञानका मतितार्थ है। देहादि जड़ पदार्थोंके विषयमें अनादिकालसे अर्थात् अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे आत्म-भाव दृढ़ हो गया है, जो बहुत उपाय करने पर भी नष्ट नहीं होता; परंतु जब तक उसका नाश किया न जायगा तब तक आत्म-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त न होगा। जब उक्त आत्म-भावका नाश हो जायगा तब ही अंतःकरणमें साक्षि-रूप आत्मज्ञानका प्रकाश देख पड़ेगा। अन्य किसी उपायसे इस साक्षित्व-ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। इस साक्षित्व-ज्ञानकी प्राप्तिसे मुक्तिका लाभ आप-ही-आप हो जाता है; क्योंकि मुक्ति साक्षित्व-ज्ञानसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है, जिसके लिए भिन्न प्रयत्नकी आवश्यकता हो। जिसको केवल आत्म-वस्तुमें आत्मता प्रतीत होती है वही यथार्थमें मुक्त कहा जा सकता है। योगवासिष्ठमें कहा ही है कि—

देहात्मज्ञानवत् ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

अर्थात् देहात्म-भाव ही आत्मज्ञानके लिए बाधक होता है—जो लोग देहादि जड़ पदार्थों हीको आत्मा मानते हैं उन्हें आत्म-विषयक सम्यग्ज्ञान कभी प्राप्त नहीं होता ! जिसको केवल आत्मा हीमें आत्म-भाव प्रतीत होता है—जिसको आत्माके यथार्थ स्वरूपका बोध हो जाता है—वह यद्यपि मुक्तिकी इच्छा न करे तो भी मुक्त हो जाता है । इस प्रकार आत्मज्ञानकी सिद्धि होते ही मनका लय हो जाता है अर्थात् उस मनके आधार पर स्थिर रहनेवाली संसार अथवा प्रपंच-रूप इमारत नष्ट हो जाती है ।

अब यह जानना चाहिए कि मनोलयके जो उक्त दो उपाय बताये गये हैं उनमें श्रेष्ठ कौन है—अर्थात् योगाभ्यास और सांख्य-ज्ञानमेंसे अधिक उत्तम कौन है ? दोनों मार्ग अपने अपने तौर पर बहुत उपयोगी और लाभदायक हैं । दोनोंका उद्देश भी एक ही है—दोनोंसे एक ही फलकी प्राप्ति अभीष्ट है । ऐसा होने पर भी साधक जन अपनी अपनी स्वाभाविक रुचिके अनुसार इन दोनों उपायोंमेंसे किसी एकका स्वीकार करते और उसीकी विशेष प्रशंसा किया करते हैं । इस अवस्थामें यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि योगाभ्यास और सांख्य-ज्ञानमेंसे अधिक उत्तम मार्ग क्या है तथापि उन दोनोंके गुण और दोषोंका कुछ वर्णन किया जा सकता है । जिन साधक पुरुषोंने इन दोनों मार्गोंका अनुभव प्राप्त किया है उनका कथन है कि सांख्य-ज्ञानसे जिस प्रकार मनोलयकी स्थिरता दृढ़ होती है उस प्रकार योगाभ्याससे नहीं होती । इसका कारण यह है कि योगाभ्यासके अवलंबनसे उत्पन्न होनेवाला मनोलय चिरस्थायी नहीं होता । योग-बलसे जब तक चित्तकी वृत्तियाँ निरोधित रहती हैं तब तक मन मूर्च्छित अवस्थामें रहता है;

परंतु ज्यों ही चित्त-वृत्तिका उत्थान होता है त्यों ही मनका व्यापार पूर्व-वत् होने लगता है अर्थात् जगत्की सत्यताका भास होने लगता है। इस प्रकार जगत्की सत्यताका भास होते ही मनुष्य सुख-दुःखादि द्वन्द्वों-का अनुभव करके संसार-चक्रमें फँस जाता है। यह परिणाम सांख्यज्ञा-नसे नहीं होता। जिस मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है उसको यद्यपि किसी समय प्रपंचका भास हो जाय तथापि उसको सुख-दुःखादि द्वंद्व भोगना नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि सांख्य-ज्ञानके प्रधान तत्त्वके अनुसार वह जानता है कि मैं सुख-दुःखादि कर्मोंका भोक्ता नहीं हूँ—प्रारब्ध-कर्मके अनुसार उक्त द्वंद्वोंका भोक्ता केवल यह शरीर है। आत्मा विकार-रहित होनेके कारण सुख-दुःखादि भोगोंसे अलिप्त रहता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्ज्ञान-प्राप्तिके कारण ज्ञानी पुरुषको सुख-दुःखादि भोगोंकी बाधा बिलकुल नहीं होती। अत एव अनुभव-प्राप्त महाजनोंका मत है कि योगाभ्याससे चित्त-वृत्तियोंका निरोध करनेकी अपेक्षा सांख्य अर्थात् आत्मज्ञानकी सहायतासे मनो-लय करना अधिक श्रेष्ठ है।

यदि साधक पुरुषकी बुद्धि मंद होगी और चित्त अशुद्ध अथवा मलिन होगा तो वह आत्मज्ञानका ग्रहण कदापि कर न सकेगा। 'तत्त्व-मसि' इत्यादि महा-वाक्योंका अर्थ मलिन अंतःकरणमें प्रवेश कर नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें गुरुका उपदेश निष्फल हो जाता है। आत्म-ज्ञानके लिए तीक्ष्ण बुद्धि अर्थात् प्रज्ञाकी बहुत आवश्यकता है। गुरुके मुखसे सुने हुए महा-वाक्यका सम्यक् अर्थ केवल तीक्ष्ण-बुद्धि (प्रज्ञा) हीमें प्रतिबिंबित हो सकता है। अत एव यह बात सिद्ध है कि यदि साधक पुरुष प्रज्ञावान् न होगा अर्थात् यदि उसकी बुद्धिमें महा-वाक्यका अर्थ ग्रहण करनेकी योग्यता न होगी, तो उसको पहले योगाभ्यास करके मनोलय करना चाहिए। योगाभ्याससे जब उसके चित्तका निरोध

होगा और उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होगी तब उसमें निदिध्यासन करनेकी योग्यता प्राप्त होगी । निदिध्यासन, आत्मज्ञान-प्राप्तिकी तीसरी सीढ़ी है । इसके पूर्वकी पहली और दूसरी सीढ़ियोंको श्रवण तथा मनन कहते हैं । योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी शुद्धि हो जाने पर जब महा-वाक्यका उपदेश किया जायगा तब साधक पुरुषके अंतःकरणमें उसका यथार्थ बोध शीघ्र हो सकेगा । इसके अनंतर ही वह पुरुष निदिध्यासन पर आरूढ़ हो सकेगा । अस्तु ।

यहाँ प्रस्तुत प्रकरण समाप्त हुआ । यद्यपि साधक पुरुष मनोलय प्राप्त करके तथा महा-वाक्यका उपदेश ग्रहण करके निदिध्यासनकी सीढ़ी पर आरूढ़ हो जाता है तथापि पूर्व-कर्मोंके संस्कारोंके कारण उसके अंतः-करणमें विविध वासनाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं, जिससे उसके मनकी एकाग्रता नष्ट हो जाती है । अत एव मनोलयके अनंतर उसको विघ्नकारक वासनाओंके उपशमका यत्न करना पड़ता है । इसी यत्नको वासनो-पशम कहते हैं, जिसका विवेचन आगामी प्रकरणमें किया जायगा ।

चौथा प्रकरण ।

वासनोपशमन ।

पुण्यस्य फलमिच्छंति पुण्यं नेच्छंति मानवाः ।
न पापफलमिच्छंति पापं कुर्वंति यत्नतः ।।

—जीवन्मुक्तिविवेक ।

गत प्रकरणमें इस बातका उल्लेख किया गया है कि मनोलयका अभ्यास करनेके बाद साधकको वासनाओंका उपशम करना पड़ता है। जिस साधकके मनका लय हो जाता है और जिसकी सब वासनाएँ शांत हो जाती हैं वही जीवन्मुक्ति-पद पर आरूढ़ हो सकता है अत एव अब इस प्रकरणमें वासनोपशमनका विवेचन किया जायगा। वासनाओंका उपशम करनेके लिए आत्मानात्म-विचारकी अत्यंत आवश्यकता है। सबसे पहले इस बातका विचार करना चाहिए कि आत्मा किसे कहते हैं और अनात्मा किसे कहते हैं। इन दोनोंका भेद जाननेके लिए सदा आत्म-विचार करते रहना चाहिए और बुद्धिको केवल आत्म-वस्तुमें स्थिर रखना चाहिए। जब बुद्धि निश्चय करके आत्म-वस्तुमें स्थिर रहने लगेगी तब अनात्म-वस्तु आप-ही-आप सार-रहित और निरुपयोगी प्रतीत होने लगेगी। मुख्य आत्म-विचार यही है कि "मैं" स्थूल-देह, लिंग-देह और कारण-देह-मेंसे कोई भी देह नहीं हूँ; "मैं" शरीरान्तर्गत आस्थि, मज्जा, मांस और सप्त धातुओंमेंसे भी कुछ नहीं हूँ; "मैं" मन, बुद्धि, अहंकार और इंद्रियोंमेंसे भी कुछ नहीं हूँ; इस प्रकार निषेध-रूप-से जिसका वर्णन किया जाता है वह "मैं" क्या हूँ? उस "मैं" के

विषयमें जो विचार किया जाता है उसको आत्म-विचार कहते हैं। इस विचारसे यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि "मैं" इंद्रियोंका केवल प्रेरक हूँ, "मैं" मन, बुद्धि, अहंकार आदिका केवल प्रकाशक हूँ, "मैं" केवल साक्षि-रूप आत्मा हूँ। जब उक्त विश्वासकी प्रतीति निरंतर अखंडित हो जाती है तब कल्पना-रूप सब वासनाओंका अंत हो जाता है। सारांश यह है कि अविद्या अर्थात् अज्ञानका नाश करनेके लिए केवल आत्मानात्म-विचार ही समर्थ है।

इस संसारमें जितनी विद्याएँ और कलाएँ प्रचलित हैं उनमें अध्यात्म-विद्या ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है। संत और साधुजन इसी विद्याका आदर करते हैं। वे लोग न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदिको अनात्म-दर्शन समझते हैं। इन दर्शनोंका केवल यही उपयोग है कि इनके अभ्याससे बुद्धि सूक्ष्म होती है और अध्यात्म-विद्याका विचार करनेके लिए सहायता मिलती है। आत्म-विचार ही सब विद्याओंका राजा और मुकुटमणि है। ज्ञानी और तत्त्ववेत्ता लोग आत्म-विचार हीको मुख्य ज्ञान मानते हैं। निर्मल ब्रह्म-वाचक ज्ञेय इसी ज्ञानसे प्राप्त होता है। जैसे ईखमें मिठास, मधुमें माधुर्य, और समुद्र-जलमें खारापन होता है वैसे ही उपर्युक्त ज्ञानमें आत्म-वस्तुकी प्रतीति होती है। परंतु जब तक गुरु-चरणोंका या संतजनोंका समागम नहीं होता तब तक इस बातकी प्रतीति नहीं होती कि शब्द-रूप आत्मज्ञान हीमें अर्थ-रूप ज्ञेय वस्तु अर्थात् ब्रह्म स्वयं-सिद्ध और समाविष्ट है।

जो सब इंद्रियोंको चेतना-युक्त करता है वह कौन है? बुद्धि, अहंकार आदिको सचेतन करनेवाला कौन है? सोकर उठने पर 'सुखमहमस्वाप्सम्—अर्थात् मैं सुखसे सोया था'— यह बात कौन कहता है? इस प्रकारके अनेक प्रश्नोंका विचार करनेसे आत्माका बोध होता

है। जब मनुष्य कुछ काम करने लगता है तब पहले उसके मनमें कोई विचार उत्पन्न होता है— उस समय उसको कार्यमें कौन प्रवृत्त करता है? कोई इस प्रश्नके उत्तरमें यह कहते हैं कि सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला सूर्य ही उसको कार्यमें प्रवृत्त करता है। इस पर यह शंका की जाती है कि यदि सूर्य सबको सचेतन करता है तो सूर्यास्तके बाद सब लोगोंको कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला कौन है? इसका समाधान करते समय कोई चंद्रमा कहते हैं, कोई तारागण कहते हैं, कोई अग्नि कहते हैं, कोई मन कहते हैं—कोई कुछ कहते हैं, कोई कुछ कहते हैं। इस प्रकार अनेक उत्तर दिये जाते हैं; परंतु पूर्ण समाधान किसीसे भी नहीं होता। इसका समाधानकारक उत्तर केवल वेदान्त-शास्त्र या अध्यात्म-विद्यामें पाया जाता है। वह उत्तर यह है— एक साक्षि-रूप आत्मा सब वस्तुओंको अंतर्बाह्य प्रकाशित करता है, वही सबको सचेतन करता है, वही सबको कार्यमें प्रवृत्त करता है। आंतरिक सुख और दुःखका जाननेवाला वही आत्मा साक्षी है! सोकर उठने पर 'मैं सुखसे सोया था' यह कहनेवाला भी वही साक्षि-रूप आत्मा है। इस साक्षि-स्वरूपमें जाति-भेद, वर्णाश्रम, नातेदारी वगैरह कुछ भी नहीं है। निर्वाणदशकमें कहा है:—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः।
न माता पिता वा न देवा न लोकाः॥

ऐसी अवस्थामें आत्मा केवल शुद्ध चैतन्यमय रहता है। इस स्थितिमें वासनाओंका नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वासनाओंका क्षय करनेके लिए आत्मानात्म-विचार द्वारा शुद्ध, चैतन्यमय, साक्षि-रूप आत्माका साक्षात्कार होना अत्यंत आवश्यक है।

वासनाओंका नाश करनेके लिए ग्रंथोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। निम्न वचनमें एक उपाय सूचित किया गया है:—

यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात्।
नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्यांबुमतिर्मरौ।

—योगवासिष्ठ।

यह भावना हो जाने पर कि सब जगत् ब्रह्म है, मूर्खताका अर्थात् अज्ञानका आप-ही-आप नाश हो जाता है और फिर वासनाओंका बिलकुल उदय नहीं होता। इसका दृष्टांत यह है, मारवाड़ देशमें भ्रमण करनेवाले मनुष्यके मनमें यह विचार कभी नहीं रहता कि यहाँ मार्गमें कहीं पानी मिलेगा; क्योंकि उसको इस बातका स्मरण बना रहता है कि मारवाड़ निर्जल प्रदेश है। इसी तरह जब 'सर्वं ब्रह्म' यह भावना अंतःकरणमें दृढ़ हो जाती है तब वहाँ अज्ञानके लिए स्थान ही नहीं रहता। उस अवस्थामें सब वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। अत एव वासनाओंका नाश करनेके लिए यह एक अच्छा उपाय है कि सर्वत्र ब्रह्म-भावना स्थिर रखनेका अभ्यास किया जाय। पूर्व-जन्मके धर्माधर्म-युक्त संस्कारको वासना कहते हैं। पाप और पुण्य उसीके अंकुर हैं। जब किसी विषयकी अपेक्षा होती है तब वासनाका उदय होता है। जो मनुष्य वासनाओंका त्याग करता है वह अपने प्रारब्ध हीका क्षय करता है। जो मनुष्य देहाभिमानको धारण करता है वह सुख और दुःख दोनों भोगता रहता है। परंतु जो ज्ञानी पुरुष वासनाओंका त्याग करके प्रारब्धका क्षय करता है उसको सुख या दुःखकी कोई बाधा नहीं होती; क्योंकि वह सुख और दुःख दोनोंको समान मानता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा हैः—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दुःखमें जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखकी प्राप्तिके विषयमें जिसकी कोई इच्छा नहीं है, जिसके मनमें किसी वस्तुके संबंधमें प्रेम, भय और क्रोध नहीं है और जिसकी बुद्धि स्थिर है उसको मुनि कहते हैं।

श्रुति और अन्य ग्रन्थोंमें मुनि-शब्दके अर्थकी बहुत व्यापकता बताई है। 'मनुते स मुनिः—' अर्थात् जो सदा मनन करता रहता है वही मुनि है, वही ज्ञानी है, वही ब्रह्मवेत्ता है। उसके अंतःकरणमें वासना-का कदापि उदय हो नहीं सकता। इस बातका निरूपण पहले कर चुके हैं कि जो योगाभ्याससे प्रारब्धका नाश कैसे होता है। योग-सामर्थ्यसे प्रारब्ध-भोग भोगनेमें कोई कठिनता मालूम नहीं होती। सारांश यह है कि योगाभ्याससे प्रारब्ध-कर्मको भोग कर उसका नाश किया जा सकता है अथवा आत्मानात्म-विचार करनेसे और सर्वत्र ब्रह्म-भावना दृढ़ करनेसे भोगार्थ प्राप्त हुए सुख या दुःखका स्मरण नहीं होता। अत एव यह बात सिद्ध है कि पूर्व-जन्मके संस्कारोंका नाश करनेसे या योगाभ्या-सके द्वारा वासनाओंका क्षय हो जाता है।

दूसरा उपाय इस श्लोकमें सूचित किया गया है:—

साधुसंगमसच्छास्त्रपरो भवसि सन्मते।
तद्दिनेनैव नो मासैः प्राप्नोसि परमां धियम्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जिस दिन मनुष्य सत्समागम और सच्छास्त्र-श्रवणके लिए तत्पर हो जायगा उसी दिन उसको सद्बुद्धि प्राप्त हो जायगी। इसके लिए कुछ महीनोंकी आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वासनाओंकी शक्तिको घटानेके लिए—वासनाओंका उपशम करनेके लिए—शुद्ध बुद्धिकी आवश्यकता है। यह शुद्ध-बुद्धि तभी उत्पन्न होती है जब कि साधु-समागम द्वारा या सद्गुरु-मुखसे महा-वाक्यका उपदेश ग्रहण किया जाता है और अध्यात्म-शास्त्रका श्रवण तथा मनन किया जाता है। इन उपायोंका अवलंबन करनेसे सारी सृष्टि ब्रह्ममय देख पड़ती है। उस अवस्थामें वासनाएँ कैसे उत्पन्न हो सकती हैं?

वासनोपशमका एक और उपाय है:—

असंगव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥

—योगवासिष्ठ।

पहली बात यह है कि जब मनुष्य संसारके सब कार्य करता रहता है, परंतु अपने मनको उन कार्योंमें लिप्त नहीं कर देता तब उसको असंग अर्थात् अलिप्त या अनासक्त कहते हैं। इस प्रकार असंग, अलिप्त या अनासक्त होकर कार्य करनेसे कर्तृत्व या भोक्तृत्वका अभिमान नष्ट हो जाता है और मनुष्यका अंतःकरण वासनाओंके बंधनसे मुक्त हो जाता है। दूसरी बात यह है, भव अर्थात् प्रपंच या संसारको सत्य कभी न मानना चाहिए; क्योंकि सत्य वस्तु केवल एक ब्रह्म ही है। ब्रह्मके अतिरिक्त जो कुछ सत्य-सा मालूम होता है वह यथार्थमें सत्य नहीं है—वह मिथ्या भ्रम है। सत्यासत्यके विषयमें उक्त सिद्धान्त यदि मनुष्यके हृदयमें सदा जागृत रहे तो उसकी विषय-वासनाएँ आप-ही-आप नष्ट हो जायँगी। तीसरी बात यह है, शरीरको कभी नित्य या चिरस्थायी समझना न चाहिए। बुद्धिमें यह विवेक सदा जागृत रहना चाहिए कि शरीर नाशवान् और अनित्य है—उसका कभी-न-कभी अंत या नाश अवश्य होगा। जिसके हृदयमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और जिसकी बुद्धि सदा आत्मानात्म-विवेक पर आरूढ़ रहती है वही यथार्थमें इस शरीरको नाशवान् और अनित्य समझ सकता है और वही वासनाओंके बीजका नाश कर सकता है। सारांश यह है कि उक्त तीनों बातोंसे अर्थात् सब कार्य असंग होकर करनेसे, संसारको मिथ्या माननेसे और शरीर-नाशका विचार सदा जागृत रखनेसे वासनाओंका क्षय हो जाता है। इस प्रकार वासनाओंका क्षय हो जाने पर फिर उनका उदय कभी हो नहीं हो सकता।

वासनोपशमके जो उपाय बताये गये उनका रहस्य केवल भावनामें है। इस लिए देह-भावनाका त्याग करके सदा ब्रह्म-भावनाका अभ्यास करते रहना चाहिए। भावनामें अद्भुत सामर्थ्य है। भावना-शक्तिके विषयमें कहा हैः—

दृढभावानुसंधानाद्विमूढा अपि राघव।
विषं नयन्त्यमृतताममृतं विषतामपि॥
—योगवासिष्ठ।

यदि किसी पदार्थके विषयमें भावना दृढ़ की जाय तो मूर्ख मनुष्य भी तदाकार हो जाता है। जैसे यदि विषके स्थानमें अमृतकी भावना की जाय तो विषका कुछ परिणाम नहीं होता; और यदि अमृतके स्थानमें विषकी भावना की जाय तो अमृतका कुछ परिणाम नहीं होता—अमृत विष हो जाता है। इस परसे यह सिद्ध है कि जैसी भावना की जाती है वैसा ही फल मिलता है। देह-भावनाके विषयमें लिखा है—

सत्यभावेन दृष्टोऽयं देहो देहो भवत्ययम्।
दृष्टस्त्वसत्यभावेन व्योमतां याति देहकः॥
—योगवासिष्ठ।

जब हम आत्माको देह मानने लगते हैं तब देह ही आत्माके समान मालूम होती है; परंतु जब यह निश्चय हो जाता है कि देह आत्मा नहीं है तब देह असत्य मालूम होने लगता है। देहकी असत्यता प्रतीत हो जानेसे भय, शोक, दुःख आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। अत एव वासनाओंका नाश करनेके लिए देह-भावनाका त्याग कर देना चाहिए। जब आत्माके विषयमें देह-भावना की जाती है तब स्व-स्वरूप आच्छादित हो जाता है। इस लिए आत्म-भाव ही वासनोपशमका सर्वोत्तम उपाय है। देखिए—

ब्रह्मैकं भावयन्साधुः शांतस्तिष्ठन्गतव्यथः ।
यतस्तेऽसावहंभावः स्वयमेव विनश्यति ॥

—योगवासिष्ठ ।

आत्मानात्म-विचार करते करते जब यह भावना दृढ़ हो जाती है कि प्रपंच मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है तब काम, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जाते हैं, बुद्धि शांत हो जाती है और किसी प्रकारकी विपरीत भावना उत्पन्न नहीं होती । सच है; जब यह संसार और प्रपंच ही मिथ्या हो गया तब राग, द्वेष, सुख और दुःख कहाँ रह सकते हैं? ऐसी अवस्थामें वह अहंभाव ही नष्ट हो जाता है जो इस देहमें अनेक जन्मोंसे आसक्त रहता है । इस प्रकार जब अंतःकरण निर्मल हो जाता है तब द्वैत-भाव जो सब दुःखोंका कारण है नष्ट हो जाता है, सर्वत्र आनंदका अनुभव होने लगता है और वासनाओंका पूर्ण रीतिसे क्षय हो जाता है ।

पाँचवाँ प्रकरण।

आत्म-मनन।

प्रत्यगर्थमनालिंग्य न पराग्वर्ति किंचन ।
विज्ञानं जायते यस्मादात्मोपास्तिः सदा ततः ॥

—योगवासिष्ठ ।

पहले इस बातका वर्णन किया गया है कि मन और वासनाके कारण स्व-स्वरूपकी प्राप्तिमें विघ्न कैसे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सद्गुरुका दर्शन करके महा-वाक्यका उपदेश ग्रहण कर लिया जाता है और यह बात मालूम हो जाती है कि जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है, तथापि अनेक जन्मोंके अज्ञानके संस्कारोंके कारण अंतःकरणमें बार-बार भ्रम उत्पन्न हो जाता है और यह मालूम होने लगता है कि जगत् सत्य है। इसीको असंभावना कहते हैं। यह हमारे मन और वासनाका परिणाम है। इसी लिए गत दो प्रकरणोंमें मनोलय और वासनोपशमकी आवश्यकता तथा उनकी प्राप्तिके उपायोंका उल्लेख किया गया है। उनकी ओर ध्यान देनेसे यही मालूम होता है कि अध्यात्म-शास्त्रके श्रवणके सिवाय अन्य सब उपाय व्यर्थ हैं। अध्यात्म-शास्त्रके श्रवणसे अंतःकरणमें यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि वेद-वाक्य प्रमाण-भूत हैं अर्थात् वेदान्त-शास्त्रके सिद्धान्तोंका निरंतर श्रवण करनेसे प्रमाणासंभावना नष्ट हो जाती है और यह अटल विश्वास हो जाता है कि संपूर्ण सृष्टिके व्यापारोंकी उपपत्तिका मेल केवल श्रुति-वचनोंमें है, अन्यत्र कहीं नहीं है। यही कारण है कि अध्यात्म-शास्त्रके श्रवणकी बड़ी महिमा गाई गई है। जैसे वेद-वाक्य प्रमाण-भूत हैं वैसे ही गुरु-वचन भी प्रमाण-भूत है। अत एव वेद

अर्थात् ईश्वरमें जैसी श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए वैसी ही श्रद्धा और भक्ति गुरुके विषयमें भी होनी चाहिए । कहा है कि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाश्यंते महात्मनः ॥

—श्वेताश्वतर-उपनिषद् ।

अर्थात् जिसकी ईश्वर-भक्ति विमल है और जो गुरुकी वैसी ही भक्ति करता है जैसी परमेश्वरकी, उस महात्मा पुरुषको वेदोक्त सिद्धान्त निर्मल दर्पणके समान स्पष्ट देख पड़ते हैं । अब तीसरा विघ्न देखिए । यद्यपि श्रवण करते करते यह भावना दृढ़ हो जाती है कि वेद-वचन और गुरु-वचन सत्य हैं (अर्थात् प्रमाणासंभावनाका नाश हो जाता है) और यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है (अर्थात् असंभावनाका नाश हो जाता है), तथापि अपने विश्वास और अपनी भावनाके अनुसार आत्म-रूपका अनुभव प्राप्त नहीं होता । उस समय प्रमेयासंभावना नामक विघ्न उत्पन्न हो जाता है अर्थात् यह संदेहको दूर करनेके लिए अर्थात् प्रमेयासंभावना नामक विघ्नका नाश करनेके लिए आत्म-मननकी अत्यंत आवश्यकता है। अत एव इस प्रकरणमें आत्म-मननका विवेचन किया जायगा ।

अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे आत्माके स्वरूपका जो चिंतन किया जाता है उसको **आत्म-मनन** कहते हैं । आत्म-मननसे आत्मानुभव कैसे प्राप्त होता है सो देखिए—

शुद्धो निरंजनोऽनंतो बोधोहं प्रकृतेः परः ।
चेष्टमानमिमं देहं पश्याम्यन्यशरीरवत् ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् यह भावना करनी चाहिए कि मैं शुद्ध, बुद्ध, और स्वयं-प्रकाश हूँ; मैं निरंजन हूँ अर्थात् आकाशके समान उपाधि-रहित हूँ; मैं

अनंत और सर्व-व्यापी हूँ अर्थात् जैसे यह जगत् देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न है वैसा मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञान-रूप और स्वयं-बोध हूँ और यद्यपि मैं प्रकृतिका नियंता हूँ तथापि मैं उससे भिन्न हूँ । अंतःकरणमें यह धारणा दृढ़ करनेका अभ्यास होना चाहिए कि मैं जिस तरह अन्य लोगोंके शरीरोंको अनेक कार्य करते हुए देखता हूँ, उसी तरह पूर्व-संस्कारोंके कारण अनेक कार्य और व्यवहार करनेवाला मेरा भी यह शरीर मुझसे भिन्न है । सारांश, "मैं केवल साक्षी हूँ, मैं किसी भी कर्मका कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ" इस भावनाको उपर्युक्त अनेक युक्तियोंसे अपने हृदयमें स्थिर रखनेको आत्म-मनन कहते हैं । इस प्रकार निरंतर आत्म-मनन करते करते आत्म-बोध दृढ़ हो जाता है और आत्मानुभव होने लगता है ।

आत्म-बोध और आत्मानुभव होनेके लिए अनेक प्रकारसे भावना की जा सकती है । जैसे—

आपद्यचलचित्तोस्मि जगन्मित्रं च संपदि ।
भावाभावविहीनोऽस्मि तेन जीवाम्यनामयम् ॥
—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् यह भावना करनी चाहिए कि यद्यपि नाना प्रकारके संकट आ जायँ तथापि मुझे कुछ परवा नहीं; क्योंकि मेरा चित्त अचल और स्व-स्वरूपस्थ है । संकटों और आपत्तियोंसे वही मनुष्य दुखित होगा जो अपने विषयमें देह-भाव धारण करेगा; परंतु मैं देह और इंद्रियोंसे भिन्न हूँ, इस लिए मुझे किसी आपत्तिसे दुःख हो नहीं सकता । इसी तरह यदि भाग्य-वशात् मुझे सम्पत्ति प्राप्त हो जाय तो मेरा बर्ताव जगन्मित्रका-सा होना चाहिए—संपत्तिके मदसे उन्मत्त न हो जाना चाहिए । जैसे पवनके झकोरोंसे पर्वतकी स्थिरता कभी नष्ट नहीं होती या जैसे वर्षाऋतुके जलसे समुद्रमें कभी बाढ़ नहीं आती, वैसे ही

आत्म-भाव (ब्रह्म-भाव) धारण करनेवाले सत्पुरुषका चित्त संपत्ति और विपत्तिमें समान रहता है—उसके चित्तमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य इस प्रकारके आत्म-मननमें सदा निमग्न रहता है कि "मैं देह-रूप नहीं हूँ और मुझमें देहका अभाव भी नहीं है; अर्थात् मैं भावाभाव-रहित—विकार-रहित—केवल साक्षी हूँ ;" वही आत्म-बोध और आत्मानुभव प्राप्त कर सकता है। आत्म-मननका यह भी एक प्रकार है—

> निरीहोस्मि निराशोस्मि खवत् स्वस्थोस्मि निःस्पृहः।
> शांतोस्म्यहमरूपोस्मि चिरायुरचलस्थितिः॥
>
> —योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है कि यद्यपि मैं देहेन्द्रियोंका संचालक हूँ, यद्यपि मैं देहेन्द्रियोंसे सब कर्म करता हूँ, तथापि मैं स्वयं कुछ नहीं करता—मैं उन सब कर्मोंसे अलिप्त रहता हूँ। जैसे दीपकके प्रकाशमें सब तरहके भले-बुरे काम किये जाते हैं और वह दीपक ज्योंका त्यों अलग बना रहता है, वैसे ही मैं भी अलिप्त रह कर सब कुछ कराता रहता हूँ। मैं आकाशके समान कूटस्थ हूँ। मुझे किसी कर्तव्यकी अपेक्षा नहीं है। मैं शांत-स्वरूप और गुण-रहित हूँ। मेरा न तो कोई रूप है, न रंग है। मैं आकाशके समान स्थिर और सर्व-व्यापी हूँ। यदि उक्त रीतिसे आत्म-चिंतन निरंतर किया जाय तो आत्म-बोधकी प्रतीति अवश्य होगी। आत्म-चिंतनके द्वारा यह भी अनुभव प्राप्त होता है कि सारा ब्रह्माण्ड मुझमें समाया है और सब प्राणियोंका जीवित्व मुझमें भरा हुआ है। देखिए—

> मय्यनंते चिदंभोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
> समुल्लसंति खेलंति प्रविशंति स्वभावतः॥
>
> —योगवासिष्ठ।

अर्थात् मैं चिद्रूप अगाध समुद्र हूँ। नाना प्रकारके जो जीव हैं वे उस समुद्रकी लहरोंके समान मुझमें उत्पन्न होते हैं, मुझमें रहते हैं और मुझ हीमें नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चाहे जितनी लहरें मुझमें उत्पन्न होती रहें तो भी उनके कारण मुझमें क्षय या वृद्धि कुछ भी नहीं होती; क्योंकि मैं तो केवल आनंद-रूप हूँ। इस रीतिसे आत्म-मनन करते करते आत्मानुभव इतना बढ़ जाता है कि मनुष्य स्वयं अपने ही आत्म-रूपको सर्वत्र मनन करता है। जैसे—

सर्वभूतांतरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक् चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमोनमः ॥

—योगवासिष्ठ ।

सब भूतोंमें निवास करनेवाले अपने स्वरूपको मैं नमस्कार करता हूँ। मैं अपने नित्य-मुक्त और केवल चैतन्य-रूपको नमस्कार करता हूँ। मैं अपने स्वयं-प्रकाश और प्रत्यग्-रूपको नमस्कार करता हूँ। जब कि विश्व-रूप लहरें केवल चिद्रूप देख पड़ रही हैं, जब कि नेत्रोंमें केवल आत्म-रूप छा गया है, तब मुझे अपने सिवाय और क्या देख पड़ेगा? अत एव केवल आनंद-स्वरूप मुझको बार-बार नमन करता हूँ। सारांश यह है कि जब उक्त प्रकारकी भावनाओंसे रात-दिन आत्म-मनन किया जाता है तब आप-ही-आप मनका लय और वासनाका क्षय हो जाता है। उसी अवस्थामें आत्माका अनुभव प्राप्त होता है।

छठा प्रकरण ।

शुद्ध-निरूपण ।

बहुशास्त्रकथाकंथारोमंथेन वृथैव किम् ।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्त्वज्ञैर्ज्योतिरांतरम् ॥

—जीवन्मुक्तिविवेक ।

गत प्रकरणमें इस विषयका निरूपण किया गया है कि अध्यात्म-शास्त्रके श्रवण करनेसे प्रमाणासंभावनाका नाश होकर श्रुति और गुरुके वचनोंमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है तथा आत्म-मननके द्वारा प्रमेयासंभावनाका नाश होकर यह विश्वास और अनुभव हो जाता है कि "मैं ब्रह्म हूँ।" यद्यपि उक्त विश्वास और अनुभव प्राप्त हो जाता है तथापि अनेक जन्मोंके संस्कारोंके कारण देहादिक प्रपंच सत्य मालूम होने लगता है और मनुष्य अपने स्व-स्वरूपसे च्युत हो जाता है। आत्मानुभवकी स्थितिमें यही चौथा विघ्न है जिसको विपरीत-भावना कहते हैं। इस विघ्नको दूर करनेके लिए निदिध्यासकी आवश्यकता है। योगवासिष्ठके जिस प्रकरणमें निदिध्यासनका वर्णन किया गया है उसका नाम शुद्ध निरूपण है, इस लिए हमने भी प्रस्तुत प्रकरणका वही नाम रक्खा है। निदिध्यासनके द्वारा प्रपंचका निरसन हो जाता है, उपाधियोंका पूर्ण क्षय हो जाता है और केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। जैसे किसी पदार्थका सत या अर्क निकालनेके लिए उसको कई बार छानना पड़ता है उसी तरह अनेक प्रकारकी उपाधियोंका क्षय करते करते आत्माकी शुद्ध स्थितिका अनुभव होता है। इसी लिए इस विधिको शुद्ध-निरूपण कहते हैं। इस निरूपणसे यह बात भली भाँति ध्यानमें आ जाती है कि निदिध्यासन किस प्रकार किया जाता है, निदिध्यासन करनेवाले मनुष्यका आचरण किस प्रकारका होता है और उसकी आंतरिक स्थिति कैसी होती है।

शुभेच्छा आध्यात्मिक ज्ञानकी पहली सीढ़ी है। इस सीढ़ी पर आरूढ़ होनेसे संसार-भयका नाश हो जाता है और आत्म-मनन तथा निदिध्यासन करनेसे निःसंगता अटल हो जाती है। उस अवस्थामें किसी कर्मकी आसक्ति या बाधा नहीं होती। जैसे—

> बहिः कृत्रिमसंरंभो हृदि संरंभवर्जितः।
> कर्ता बहिरकर्ता च लोके विहर राघव॥
>
> —योगवासिष्ठ।

विषयोंकी अभिलाषाके कारण उनकी प्राप्तिके संबंधमें मनमें जो तीव्र उत्कंठा या आसक्ति उत्पन्न होती है और जिससे मन अत्यंत चंचल हो जाता है उसको **संरंभ** कहते हैं। आत्म-चिंतन और निदिध्यासन करनेवाला सत्पुरुष उक्त संरंभका त्याग करके केवल औपचारिक रीतिसे सब लौकिक कार्य करता रहता है। प्रकट-रूपसे यद्यपि वह अनेक प्रकारके व्यवहारिक कार्य करता हुआ देख पड़ता है जिनसे साधारण लोगोंको यही बोध होता है कि उस सत्पुरुषमें भी विषय-सुखकी इच्छा बनी है, तथापि उसके हृदयमें विषयोंकी अभिलाषाका लेश मात्र नहीं होता—उसका अंतःकरण संरंभ-रहित होता है। यद्यपि उसके बाहरी बर्तावसे कर्तृत्व-भाव प्रकट होता है तथापि उसका अंतःकरण उस भावसे आलिप्त रहता है। इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब तक किसी बातकी इच्छा मनमें न होगी तब तक मनुष्य कार्यमें कैसे प्रवृत्त होगा? पहले जब मनमें किसी विषयकी इच्छा उत्पन्न होगी तभी मनुष्य उसके अनुसार आचरण करेगा। बृहदारण्यकमें भी यही कहा है—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' अर्थात् पहले मन जिस प्रकार किसी पदार्थका ध्यान करता है उसी प्रकार इंद्रियोंके द्वारा कार्य होता है। यहाँ 'वाचा' शब्द केवल उपलक्षणार्थ है अर्थात् उससे सब इंद्रिय-गणोंका अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि यह बात सत्य है कि मनमें किसी विषयके संबंधमें इच्छा उत्पन्न हुए बिना इंद्रियोंके द्वारा कोई कार्य नहीं हो सकता तो यह कैसे मान लिया जाय कि साधु पुरुष अपने अंतःकरणमें कोई कर्तृत्व-भाव न रखते हुए भी सब व्यवहार करते रहते हैं। इस शंकाका समाधान यह है:—विषयोंके संबंधमें जितनी विपरीत-भावनाएँ हैं वे सब ज्ञानी पुरुषको मिथ्या प्रतीत होती हैं । ऐसी अवस्थामें वह विषयोंके संबंधमें मिथ्या संकल्प और विकल्प, चिंतन, मनन या इच्छा क्यों करेगा? जो अपूर्ण-काम है अर्थात् जिसकी इच्छा तृप्त नहीं हुई है, वही विषयोंकी अभिलाषा करता है और उसीके अंतःकरणमें संरंभ रहता है; परंतु जो पूर्ण-काम है अर्थात् जिसकी इच्छा तृप्त हो गई है, वह विषयोंकी अभिलाषा कभी न करेगा—इसके हृदयमें संरंभ कभी रह नहीं सकता। इसके सिवाय एक और कारण है । किसी वस्तुके संबंधमें इच्छा या कामना तभी उत्पन्न होती है जब कि वह अपनेसे भिन्न और श्रेष्ठ देख पड़ती है । परंतु ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें अपनेसे भिन्न उत्तम और श्रेष्ठ कोई वस्तु देख नहीं पड़ती, इस लिए उसके मनमें किसी वस्तुके संबंधमें इच्छा या कामना उत्पन्न नहीं होती। इस संसारके व्यवहारकी ओर देखा जाय तो यही मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्यको सुखकी इच्छा है, दुःखकी इच्छा कोई नहीं करता। केवल मनुष्य ही नहीं, बरन् सब जीवधारी प्राणियोंकी यही इच्छा होती है कि हमको सुख मिले, दुःख न मिले। अब यदि यथार्थ रीतिसे विचार किया जाय तो यही कहना पड़ता है कि दुःख-नाश और सुख-प्राप्तिकी इच्छा आत्म-सुखके बिना कदापि सफल हो नहीं सकती। जिसने आत्म-सुख प्राप्त कर लिया है वह साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य आदि राज्योंको भी क्षुद्र समझता है। सच है; जो निरंतर परमानंदमें निमग्न रहता है वह इन क्षुद्र विषयोंकी अभिलाषा क्यों करेगा। सारांश यह है कि जो ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म-रूप हो गया है और सदा ब्रह्मानंदमें निमग्न रहता

है उसके अंतःकरणमें विषयेच्छा कदापि उत्पन्न हो नहीं सकती। वह विषयेच्छा-रहित होकर अन्य जनोंके समान सब लौकिक कार्य करता रहता है। अब यह जानना चाहिए कि उसके लौकिक कार्योंमें और अन्य साधारण-जनोंके कार्योंमें क्या भेद है। भेद यही है कि उसके सब कार्य अहेतुक अर्थात् हेतु-रहित होते हैं और अन्य-जनोंके कार्य सहेतुक अर्थात् हेतु-सहित होते हैं। वह अन्य जनोंके समान किसी कार्यमें लिप्त या आसक्त नहीं होता। जब कि वह निरहंकार और अनासक्त स्थितिमें सब कार्य करता है तब यही कहना चाहिए कि उसका अंतःकरण कामना-रहित है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार किया गया है:—

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥
यस्य नाहंकृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

निदिध्यासनका तात्पर्य यही है कि अंतःकरणमें ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनोंका स्फुरण न होना चाहिए। जब तक इस त्रिपुटिके भेदका स्मरण बना रहता है तब तक समझना चाहिए कि ज्ञान-दृष्टि अपूर्ण है। जब मनुष्य त्रिपुटिका त्याग करके केवल स्वरूपस्थ हो जाता है तभी उसको जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है। उस अवस्थामें मनुष्यको देहादि प्रपंचका भान नहीं रहता और विपरीत-भावना भी नष्ट हो जाती है। आत्म-साक्षात्कारमें असंभावना और विपरीत-भावनासे जो विघ्न उत्पन्न होते हैं उनका नाश केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन-द्वारा किया जा सकता है।

द्वैत-भावका निरसन करनेके लिए सदा एकांतमें बैठ कर आत्म-स्वरूपका चिंतन करना चाहिए। जब चिंतन करते समय अपने सिवाय अन्य पदार्थका स्फुरण हो तो उसका त्याग कर देना चाहिए और केवल अपने

स्वरूप पर आरूढ़ होना चाहिए। उस समय केवल उन्हीं वस्तुओंका स्वीकार और अवलंब करना चाहिए जो आत्माके सजातीय हैं। आत्माके सजातीय-रूपकी पहचान गुरुसे करा लेना चाहिए। इस प्रकार आत्म-रूपका ध्यान करते करते आत्म-साक्षात्कार होने लगता है।

मनुष्यको इस संसारमें निदिध्यासन द्वारा सदा निर्विभाग-स्थितिमें रहनेका प्रयत्न करना चाहिए। निर्विभाग-स्थिति भावनाकी उस दशाका नाम है जहाँ वस्तुमें भेद, भिन्नता या विभागकी कल्पना नहीं होती। जब तक हृदयमें यह भाव जागृत रहता है कि वस्तुमें भेद या भिन्नता है—जब तक चित्तमें विभाग-कल्पना बनी रहती है—तब तक वह उसी विकारसे व्याप्त रहता है, तब तक मनुष्यको संसारकी सब वस्तुओंमें भिन्नता ही देख पड़ती है। यही विभाग-स्थिति मनुष्यके सांसारिक सुख और दुःखका कारण है। परंतु मनुष्यको आत्म-चिंतन और निदिध्यासनके द्वारा यह विश्वास हो जाता है कि यद्यपि संसारमें अनेक पदार्थोंमें भिन्न भिन्न रूप और नामके कारण भिन्नता देख पड़ती है तथापि उनका अधिष्ठान एक ही है; जैसे यद्यपि सोनेके अनेक अलंकार भिन्न भिन्न रूप और नामके कारण भिन्न भिन्न देख पड़ते हैं तथापि वस्तुतः वे सब एक ही समान हैं; क्योंकि उनमें एक ही सोना व्याप्त है। यही निर्विभाग-स्थिति मनुष्यके आत्यंतिक सुख, आत्मज्ञान या मोक्षका कारण है।

निम्न दो श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट रीतिसे बताई गई है कि निदिध्यासन किस तरह करना चाहिए:—

एको विशुद्धबोधोहमिति निश्चयवन्हिना।
प्रज्वाल्य द्वैतगहनमेक एव सुखी भव॥

—योगवासिष्ठ।

मनुष्यको अपने हृदयमें यह भाव धारण करके कि मैं शुद्ध ज्ञान-स्वरूप हूँ, इस प्रकारकी अद्वैत बोधाग्नि उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें द्वैत-रूप तृणके सब ढेर जल कर भस्म हो जायँ। देह-स्फुरण ही द्वैतका

मुख्य लक्षण है । जब तक हृदयमें देह-विषयक स्फूर्ति जागृत रहती है तब तक आत्म-स्वरूपका प्रकाश देख नहीं पड़ता । अत एव यह भावना करनी चाहिए कि मैं देह नहीं हूँ, मैं इंद्रिय नहीं हूँ, मैं केवल असंग ज्ञान-स्वरूप हूँ—यही निदिध्यासनका अभ्यास है । और भी देखिए:—

अजागृत् स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम् ।
सचेतनं विशुद्धं च तन्मयः सर्वदा भव ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जो जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिसे भिन्न होकर उन तीनों अवस्थाओंका केवल साक्षी है वही मेरा निर्मल और सनातन स्वरूप है—मुझे सदा उसी आत्म-स्वरूपमें निमग्न और तन्मय रहना चाहिए । इस स्थितिमें रहनेके लिए अपने हृदय परसे भेद-जनक उपाधियोंका परदा हटा देना चाहिए । संसारके किसी पदार्थको देख कर हमको तदाकार न हो जाना चाहिए, किंतु आत्म-स्वरूप हीमें स्थिर रहना चाहिए । यही निदिध्यासनका रहस्य है । यह बात पहले कह आये हैं कि विजातीय वस्तुओंका त्याग करनेसे केवल ब्रह्म शेष रहता है । अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि मन और मनके संकल्पोंका त्याग करके केवल चिद्रूप रहना कैसे संभव है ? इसका उत्तर यह है:—

संकल्पेनैव संकल्पो मनसेव मनो मुने ।
स्थित्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् ॥

—योगवासिष्ठ ।

स्वरूप-स्थितिमें रहनेका अभ्यास करते समय मनमें अनेक प्रकारके संकल्प उत्पन्न होते हैं, जिनसे सिद्धिमें बाधा होती है । इनको टालनेका यह उपाय है कि जब "मैं देह हूँ" यह असत्संकल्प उत्पन्न हो तब "ब्रह्माहमस्मि" इस संकल्पसे उसका नाश करना चाहिए । यह अनुभव-सिद्ध बात है कि एक संकल्प (कल्पना, विचार या भाव) का नाश दूसरे संकल्पसे हो जाता है । संकल्पका नाश करनेके लिए इसके सिवाय

और कोई उपाय नहीं है। अच्छा, संकल्पोंका नाश हो जाने पर भी मन बना ही रहता है। वह मन फिर भी प्रपंच हीका चिंतन करने लगता है। इसके लिए क्या उपाय है ? उपाय यही है कि प्रपंच-रूप अर्थात् विषय-रूप अशुद्ध मनको आत्म-रूप शुद्ध मनसे नष्ट करना चाहिए। जैसे अग्निमें तपाये हुए लाल लोहेको ठंडे लोहेसे (कुल्हाड़ी) काट सकते हैं, वैसे ही शुद्ध-संकल्प-युक्त मनसे राग-द्वेष-रूप अशुद्ध मनका नाश किया सकता है। इस प्रकार जब असत्संकल्प, अशुद्ध मन, राग, द्वेष आदिका त्याग या नाश किया जाता है तब आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यद्यपि इस साधनमें कोई विशेष कठिनता नहीं है और यद्यपि आत्म-स्वरूप-स्थितिमें निरंतर सुख और आनंद है, तथापि संसारी जन केवल देहकी आसक्तिमें फँस कर सदा दुःख भोगते हैं और उस परमानंद-स्थितिसे पराङ्मुख रहते हैं। यदि विचार किया जाय तो प्रत्येक मनुष्यका यही निश्चय होगा कि देह नाशवान् पदार्थ है, मैं अविनाशी आत्म-स्वरूप हूँ, मैं देह नहीं हूँ, मेरा और इस देहका कोई संबंध नहीं है। परंतु यह विचार या विवेचन प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें सदा जागृत नहीं रहता। यही कारण है कि हमारे आध्यात्मिक ग्रंन्थोंमें देहकी नश्वरता और संसारके मिथ्यात्वके विषयमें बहुत वर्णन पाया जाता है। यह बात हृदयमें अनेक प्रकारोंसे प्रतिबिंबित करानेका यत्न किया जाता है कि इस देह या संसारमें आसक्त रह कर अपने आत्म-स्वरूपको भूल जाना निरी मूर्खता है। अत एव प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह सदा आत्मानात्म-विचार करता रहे, आत्म-विचारमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली भेद-बुद्धि या विजातीय कल्पनाका त्याग करे और सजातीय कल्पना अर्थात् ब्रह्म-भावसे आत्म-स्वरूप हीमें सदा निमग्न रहे। इसीको निदिध्यासन कहते हैं। इससे सारी विपरीत-भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं, साक्षि-स्वरूपकी प्रतीति होती और ब्रह्म-स्थितिका अनुपम सुख मिलता है। शुद्ध निरूपणका यही अंतिम हेतु है।

सातवाँ प्रकरण ।

आत्मार्चन ।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ॥

—योगवासिष्ठ ।

विजातीय वस्तुका त्याग करके आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति और ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिए जो यत्न किया जाता है उसको आत्मानुसंधान या आत्मार्चन कहते हैं । इस बातका वर्णन निम्न श्लोकमें किया गया है कि आत्मार्चन कैसे करना चाहिए:—

यदि देहं तिरस्कृत्य चिर्ति विश्रम्य तिष्ठसि ।
तदा तृणीकृताशेषः स्वयमेको भविष्यति ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् यदि हम अपने स्थूल-देह और लिंग-देहका तिरस्कार करके आत्म-स्वरूपमें विश्रांति करके स्थिर रहें तो जितना प्रपंच है वह सब केवल तृणके समान क्षुद्र मालूम होगा और 'एकमेवाद्वितीयं' स्थितिका अनुभव प्राप्त होगा । इस स्थितिको प्राप्त करना आत्मार्चन कहलाता है ।

जिसको साक्षी और चैतन्य कहते हैं और जिसके स्वरूपका ध्यान या चिंतन सदा मनमें करना पड़ता है उस आत्माके विषयमें यह वर्णन ध्यानमें रखना चाहिए—

येन शब्दं रसं रूपं गंधं जानासि राघव ।
तमात्मानं परं ब्रह्म जानीहि परमेश्वरम् ॥

—योगवासिष्ठ ।

श्रीवशिष्ठजी रामचंद्रजीसे कहते हैं हे राघव, जिसके द्वारा तुमको शब्द, रस, रूप और गंधका ज्ञान होता है उस आत्मा हीको तुम परब्रह्म जानो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच विषय हैं; इन विषयोंकी ओर आकृष्ट होनेवाली श्रोतृ, त्वचा, नेत्र, जिव्हा और नासिका ये पाँच इंद्रियाँ हैं; इन इंद्रियोंका सब व्यवहार मनकी सहायतासे होता है; अब इन सब विषयों और इंद्रियोंको तथा मनको जो प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है, वही **साक्षि**-रूप परमात्मा है। जहाँसे प्रथम शब्दका स्फुरण होता है, फिर जहाँसे वह शब्द बाहर प्रकट होता है और बाहर प्रकट होने पर जिसके द्वारा उस शब्दके अर्थका ज्ञान होता है वही आत्माके साक्षित्वका स्वरूप है। इसी तरह स्पर्श, रूप, रस आदि सब विषयोंके संबंधमें जानना चाहिए। साधारण व्यवहारमें लोगोंको केवल इंद्रियाँ और विषय देख पड़ते हैं। इनके परे और किसी बातका ज्ञान नहीं होता, इस लिए यह स्थूल-दृष्टि कहलाती है। यदि सूक्ष्म-दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माके साक्षित्वका परिचय तुरंत ही हो जायगा। जिसकी सहायतासे इंद्रियाँ प्रकाशित होती हैं, जिसकी सहायतासे इंद्रियोंको मन अर्थात् चित्त-वृत्तिकी सहायता मिलती है और जिसकी सहायतासे सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं वही परमात्मा है। जो चित्त, मन, बुद्धि, पदार्थ और इंद्रियोंको जानता है वही साक्षि-रूप परमेश्वर है।

आत्मा शब्दसे उस वस्तुका बोध होता है जो सर्वत्र परिपूर्ण हो अर्थात् जो सर्व-व्यापक हो। जैसे इस विश्वमें कोई स्थान आकाश-रहित देख नहीं पड़ता, वैसे ही किसी विषयका कर्तृत्व या भोक्तृत्व आत्माके बिना हो नहीं सकता। ऐसा कोई कार्य, व्यवहार या व्यापार नहीं है जो आत्माके बिना किया जा सके। इस आत्माको जाननेका यह उपाय है:—

> यद्यजज्ञेयमिदं तत्त्वं नेति संत्यज्य युक्तिभिः।
> प्राप्यावशिष्टचिन्मात्रं सोऽस्मि सोऽस्मीति भावय॥
>
> —योगवासिष्ठ।

हम नेत्रेन्द्रियसे जो कुछ देखते हैं, श्रवणेन्द्रियसे जो कुछ सुनते हैं, त्वगिन्द्रियसे जो कुछ स्पर्श करते हैं, वाणीसे जो कुछ बोलते हैं, घ्राणेन्द्रियसे जिसकी वास लेते हैं, हस्त-पादादि अवयवोंसे जो कुछ करते हैं, वह सब ज्ञेय कहलाता है। इसी तरह मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदिके योगसे जो कुछ जाना जाता है वह सब ज्ञेय कहलाता है। संपूर्ण ज्ञेय मात्रका त्याग कर देने पर जो शेष रहे वही चिद्रूप आत्मा है। श्रुतिमें भी " नेति नेति " वाक्योंसे सब ज्ञेयका निषेध ही किया गया है। इस लिए जो सब ज्ञेयके परे हो और जहाँ सब प्रकारके निषेधोंकी परमावधि हो जाय वही आत्माका निर्गुण स्वरूप है।

उक्त श्लोकमें यह कहा गया है कि सब प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंका अनेक युक्तियों द्वारा त्याग कर देने पर जो शेष रहता है वही परब्रह्म है। अब इस बातका विचार करेंगे कि किन किन युक्तियोंसे यह कार्य किया जा सकता है। सबसे प्रथम तो भेद-बुद्धिका त्याग करना चाहिए। जब तक मनुष्यके अंतःकरणमें भेद-बुद्धि जागृत रहेगी तब तक उसका अज्ञान नष्ट हो नहीं सकता। सुवर्णके नाना प्रकारके अलंकार देखने पर भी जैसे हमारे अंतःकरणमें यह दृढ़ विश्वास बना रहता है कि उन सब अलंकारोंमें सोनेके सिवाय और कुछ नहीं है; ठीक इसी तरह इस संसारमें भिन्न भिन्न पदार्थोंकी नाम-रूपात्मक बाह्य उपाधियोंका त्याग करके सर्वत्र अधिष्ठानकी एकता या समानता हीकी ओर ध्यान देना चाहिए। अभेद-बुद्धिके बिना आत्माका परिचय होना असंभव है। दूसरी युक्ति यह है—यह जाननेका यत्न करना चाहिए कि जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिका द्रष्टा या साक्षी कौन है। इससे साक्षि-रूप आत्माका अवश्य परिचय हो जायगा। जागृतावस्थामें आत्मा इंद्रियोंके द्वारा विषयोंका उपभोग करता है। स्वप्नावस्थामें केवल मन हीके सब व्यापार हुआ करते हैं—इंद्रियाँ कुछ करती नहीं—और इन

व्यापारोंको आत्मा देखता रहता है। सुषुप्तावस्थामें आत्मा केवल स्व-सुखमें निमग्न रहता है । उस अवस्थामें आत्मा नष्ट हो नहीं जाता; क्योंकि निद्रा हो जाने पर उस सुखकी स्मृति बनी रहती है । यदि सुषुप्तिके समय आत्मा उपस्थित न होता तो निद्राके अनंतर सुखानुभवका स्मरण कौन कर सकता ? अत एव यह बात सिद्ध है कि आत्मा उक्त तीनों अवस्थामें रह कर भी उन तीनों अवस्थाओंसे भिन्न है । आत्माके इस साक्षि-रूपका निरंतर विचार करनेसे आत्माका यथार्थ परिचय अवश्य हो जायगा ।

तीसरी युक्ति यह हैः—यह जाननेका यत्न करना चाहिए कि बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य अवस्थाओंमें जो सुख और दुःख होता है उसका ज्ञाता, द्रष्टा या साक्षी कौन है । यदि विचार किया जायगा तो यह बात अवश्य ध्यानमें आ जायगी कि आत्मा उन तीनों अवस्थाओंसे भिन्न है । इस प्रकार अनेक युक्तियोंका अवलंब करके, सब ज्ञेय वस्तुओंका त्याग कर देने पर शेष आत्म-स्वरूपका परिचय होता है । उसी आत्म-रूपके विषयमें कहा है कि “ सोऽस्मि सोऽस्मीति भावय ” अर्थात् उसके संबंधमें यह भावना करना चाहिए कि “ मैं वही हूँ । ” भावना एक वस्तुके स्थानमें दूसरी वस्तुको मान लेना है । जैसे किसी विशिष्ट आकारके पत्थरको शिवलिंग कहते हैं और किसी अन्य आकारके पत्थरको गणपति, राम, कृष्ण, देवी, काली आदि कहते हैं । यहाँ पाषाणकी मूर्तिके स्थानमें अर्थात् पाषाणके पाषाणत्वका त्याग करके देवताकी भावना की जाती है, इसी लिए वह फलदायक होती है । यदि मूर्तिमें देवताकी भावना की न जाय तो वह केवल पत्थर है—उससे किसीका क्या लाभ होगा ? इसी तरह जितने ज्ञेय पदार्थ हैं उनके बाह्य-रूपका त्याग करके केवल अंतस्थ चिन्मूर्तिकी ओर ध्यान देना चाहिए और यह भावना करना चाहिए कि मैं वही हूँ । इसी भावको आत्मार्चन

कहते हैं। संपूर्ण ज्ञेयका निषेध हो जाने पर जो केवल ज्ञान मात्र अवशिष्ट रहता है वही ज्ञान आत्माका स्वरूप है। कहा है:—

ज्ञानं न भवतो भिन्नं ज्ञेयं ज्ञानात् पृथङ् न हि।
अतो न त्वितरं किंचित् तस्माद्भेदो न विद्यते॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञान हमसे (आत्मासे) कोई भिन्न वस्तु नहीं है—ज्ञान और हम एक-रूप हैं—आत्मा और ज्ञान एक ही बात है; इसी तरह ज्ञानसे जिस पदार्थका बोध होता है और जिसको ज्ञेय कहते हैं वह भी हमसे (आत्मासे) भिन्न नहीं है—ज्ञेय और ज्ञान भी एक ही बात है—दोनों आत्म-रूप हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान ये तीनों आत्म-रूप हैं—इस प्रकारकी एकात्म-रूप अर्थात् अभेद भावनाको आत्मार्चन कहते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि हमको जो ज्ञान होता है उसकी क्रिया क्या है। यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थमें चैतन्यका अंश है और जिन इंद्रियोंके द्वारा उन पदार्थोंका ज्ञान होता है उनमें भी चैतन्यका अंश है। इंद्रिय-वृत्ति और पदार्थ दोनोंमें चैतन्य भरा हुआ है। जब इन दो चैतन्योंकी भेट होती है अर्थात् जब इन दोनोंकी एक-रूपता होती है तभी पदार्थका बोध या ज्ञान होता है और उससे सुख या दुःखका अनुभव होता है। यदि जड़ पदार्थोंमें चैतन्य न होता तो हमको उनका कुछ भी ज्ञान या बोध न होता। अत एव जितने ज्ञेय पदार्थ हैं उन सबमें चैतन्यका अंश है। वह चैतन्य (अर्थात् ज्ञेय), उसका ज्ञान और उसको जाननेवाला (अर्थात् ज्ञाता) ये तीनों एक चैतन्य-रूप हैं हैं—इनमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है—केवल शब्दोंकी भिन्नता है, अर्थ या भावकी भिन्नता नहीं है। आत्मार्चनसे इस बातकी प्रतीति हो जाती है कि ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता ये तीनों एक-रूप हैं। जिन लोगोंकी

केवल स्थूल-दृष्टि होती है उनका भेद-भाव कभी नष्ट नहीं होता। इस लिए आत्मार्चनके लिए अर्थात् एकात्म-स्वरूपका दर्शन करनेके लिए अत्यंत सूक्ष्म-दृष्टिकी आवश्यकता है।

इस पर यह शंका की जा सकती है कि यदि सारा भेद-भाव नष्ट कर दिया जाय तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिके अस्तित्व तथा उनके भिन्न भिन्न कार्योंके संबंधमें भी अभेद-भाव रखना होगा। यह कैसे हो सकेगा? इसका उत्तर यह है:—ब्रह्मदेव विश्वकी उत्पत्ति करते हैं, विष्णु भगवान् विश्वका पालन करते हैं, रुद्र-रूप महादेव विश्वका संहार करते हैं; इस प्रकार भिन्न भिन्न देवताओंके भिन्न भिन्न कार्य हैं। इनके संबंधमें भी यही अनुसंधान करना चाहिए कि मैं तद्रूप हूँ—मैं उनसे वस्तुतः भिन्न नहीं हूँ। मैं केवल ज्ञान-स्वरूप हूँ, मैं चिद्रूप हूँ। इस लिए मुझ हीमें संपूर्ण विश्वकी उत्पत्ति होती है, रक्षा होती है और लय होता है। जब स्वानुभवसे यह बात जान ली जाती है तब मनुष्यके अंतःकरणमें पूर्णत्व प्रकट हो जाता है—तब वह स्वयं सर्व-कर्त्ता और सर्व-भोक्ता हो जाता है—तब उसको इस विश्वमें अपने सिवाय और कुछ देख नहीं पड़ता। उस अवस्थामें मनुष्यको यह भावना करना चाहिए:—

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमव्ययः।
न भूतं नास्ति नो भावी मत्तोन्यदिति भावय॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् इदं शब्दसे सूचित जितना दृश्य विश्व है वह सब मैं ही हूँ और मैं ही सब विश्व हूँ, इस प्रकार जो आत्मानुसंधान किया जाता है उसीको आत्मार्चन कहते हैं। अत एव मनुष्यको सदा यही अनुसंधान करते रहना चाहिए कि मैं अव्यय-रूप परमात्मा हूँ। यद्यपि रुचि-भेदके कारण कटु, आम्ल, मधुर आदि अनेक प्रकारके रस प्रतीत होते हैं तथापि उन सब रसोंमें मूल वस्तु जल ही है। अज्ञानी मनुष्य केवल रसोंकी बाह्य भिन्नतासे आकृष्ट और मोहित हो जाता है; परंतु जो ज्ञानी है

वह सब रसोंमें केवल मूल-वस्तु अर्थात् जलकी ओर देखता है। यद्यपि सुवर्णके अनेक आभूषण होते हैं तथापि उनमें मूल-वस्तु सोना ही है। समुद्रके पृष्ठ पर यद्यपि अनेक तरंग और लहरें देख पड़ती हैं तथापि वे समुद्रके जलसे भिन्न नहीं हैं। इसी तरह संसारमें यद्यपि अनेक पदार्थ भिन्न नाम और भिन्न रूपके कारण भिन्न भिन्न देख पड़ते हैं तथापि उनमें अपना चैतन्य-रूप ओतप्रोत व्याप्त है। इस प्रकार अनेक युक्तियोंके द्वारा अपनी विश्व-रूप स्थितिका अनुभव सदा करते रहना चाहिए अर्थात् मनुष्यको सदा आत्मार्चन करनेमें लगे रहना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्यको इस संसारमें अपने यथार्थ स्वरूपके सिवाय और किसी अन्य वस्तुका बोध या ज्ञान न होगा—उसको सर्वत्र आत्म-रूप ही देख पड़ेगा। इस आत्म-बोधका लक्षण यह है—

ग्राह्यग्राहकसंबंधे सामान्ये सर्वदेहिनाम्।
योगिनः सावधानत्वमेतदर्चनमात्मनः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक-भाव सब प्राणियोंमें होता है; सब साधारण लोगोंको केवल इतना ही ज्ञान होता है कि विषय ग्राह्य वस्तु है और जीव उसका ग्राहक है। परंतु योगी या ज्ञानी पुरुष उक्त ग्राह्य-ग्राहक-भावमें बहुत सावधान रहता है। उसकी दृष्टि केवल ग्राह्य वस्तु (विषय) की ओर या केवल ग्राहककी ओर या केवल ग्रहण करनेकी ओर नहीं होती; किंतु उसकी दृष्टि इन तीनोंको प्रकाशित करनेवाला जो साक्षी आत्म-स्वरूप है उसकी ओर रहती है। वह साधारण लोगोंके समान केवल ग्राह्य-ग्राहक-भावको नहीं देखता; किंतु वह उस भावके साक्षीको अर्थात् स्वयं अपने आपको देखता है। इसी सावधानताको आत्मार्चन कहते हैं। इस स्थितिमें निरंतर रहनेका अभ्यास करनेवाले सत्पुरुषको पूर्ण-ब्रह्मका अनुभव प्राप्त होता है।

आठवाँ प्रकरण ।

आत्म-निरूपण ।

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ।
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुंडकोपनिषद् ।

इस बातका वर्णन पिछले प्रकरणमें किया गया है कि अपनी विश्व-रूप स्थितिके अनुभव करने अर्थात् इस अखिल विश्वमें आत्माके सिवाय अन्य किसी वस्तुके अनुभव न करनेको आत्मार्चन कहते हैं। अब इस प्रकरणमें इस बातका विचार करना है कि सर्वव्यापी आत्माका लक्षण क्या है और अपने अंतःकरणको तदाकार—तल्लीन—आत्म रूप किस तरह करना चाहिए। इस लिए इस प्रकरणको **आत्म-निरूपण** नाम दिया गया है।

आत्माके लक्षणोंके विषयमें यह लिखा है:—

तस्मिन्देहेन्द्रियादीनां संघाते स्फुरति स्वतः ।
अहं सोऽहमयं भावः स जीवो मलगुंठितः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् देहेन्द्रियोंके समुदायमें जो स्वयं-सिद्ध स्फुरण-रूपसे प्रगट होता है और जिसमें 'अहं, सोहं, अयं' ये तीनों प्रकारके भाव होते हैं वही आत्मा कहलाता है। **अहं** शब्द देहके संबंधमें उपयुक्त होता है; **सोहं** शब्द मन-सहित सब इंद्रियोंके समुदायका वाचक है; और **अयं** शब्दसे आत्माका बोध होता है। अहंकार-मिश्रित मलिनताका त्याग कर देनेसे यथार्थ जीव-तत्त्वका रहस्य समझमें आ जाता है। यह आत्मा

एक ही होकर अनेक भिन्न भिन्न स्थानोंमें प्रगट होता है। इस विषयमें कहा है:—

मणितोयघृतादर्शेष्वेकमप्याननं यथा।
भात्यनेकमिवात्मापि तथा धीष्वनुबिंबितः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् मणि, जल, घृत और दर्पणको अपने सामने रख कर यदि हम अपना मुख उन पदार्थोंमें देखना चाहें तो हमारा एक ही मुख चार प्रकारका देख पड़ेगा। यहाँ विचार करनेसे यही बोध होता है कि यद्यपि हमारा मुख एक ही है तथापि भिन्न भिन्न पदार्थोंके योगसे उसमें भिन्नता देख पड़ती है। यदि मणिका रंग लाल, नीला या हरा होगा तो हमारा मुख भी उसी रंगका देख पड़ेगा। यदि दर्पणमें कुछ मलिनता होगी तो वही मलिनता मुखमें भी देख पड़ेगी। कभी कभी दर्पणमें मुखका विलक्षण आकार देख पड़ता है—कभी कभी तो उसमें बहुत ही कुरूपता देख पड़ती है। सब लोग जानते हैं कि यह कुछ मुखका दोष नहीं है, यह दर्पणका दोष है। इस उदाहरणसे यह बात सिद्ध होती है कि पदार्थोंकी भिन्नतासे एक ही मुख अनेक प्रकारका देख पड़ता है; इसी तरह जब एक ही आत्मा भिन्न भिन्न बुद्धिमें प्रतिबिंबित होता है तब वह अनेक रूपोंसे प्रगट होता है। सर्व-साधारण लोग भिन्न उपाधिमें व्यक्त होनेवाले आत्माको ही सत्य मान कर सदा भ्रमके फंदेमे फँसे रहते हैं! यह बात एक साधारण दृष्टान्तसे मालूम हो सकती है कि बुद्धि-भेदके कारण आत्माको अनेकत्व कैसे प्राप्त हो जाता है। यदि कुछ घड़े जलसे भर कर धूपमें रख दिये जायँ तो उन सब घड़ोंमें सूर्यका प्रतिबिंब देख पड़ेगा। अर्थात् एक सूर्यके अनेक सूर्य देख पड़ेंगे। परंतु विचारवान् और ज्ञानी पुरुष इस अनेकत्वको सत्य नहीं मानते। इसी तरह अनेक प्रकारकी बुद्धियोंमें प्रतिबिंबित होनेके कारण यद्यपि आत्मा-

के अनेक रूप देख पड़ते हैं तथापि आत्मज्ञानी पुरुषका यही विश्वास होता है कि आत्मा एक है।

अब यह देखना चाहिए कि उपाधिके कारण शुद्ध वस्तुमें मलिनता क्यों आ जाती है—स्वयं-प्रकाश वस्तु पर-प्रकाश क्यों हो जाती है:—

धूलिधूमांबुदैर्यद्वन्मालिनीक्रियते नभः ।
परामृष्टस्तथैवात्मा विशुद्धः प्राकृतैर्गुणैः ॥

—योगवासिष्ठ ।

यद्यपि आकाश स्वयं-शुद्ध और निर्मल है तथापि धूलसे उसका रंग धूसर हो जाता है। कभी कभी वह धुँएके कारण धूम्र-वर्णका देख पड़ता है और कभी कभी वह सफेद, काले या श्याम बादलोंका-सा हो जाता है। परंतु यथार्थमें आकाश स्वयं किसी रंगका नहीं है; वह न तो धूसर है, न धूम्र-वर्ण है और न मेघ-वर्ण है। केवल धूल, धुँआ और मेघके कारण वह मलिन देख पड़ता है। इसी तरह यद्यपि आत्मा स्वयं-शुद्ध और बुद्ध है तथापि प्रकृतिके तीन गुणोंके योगसे वह अशुद्ध और अबुद्ध देख पड़ता है। इन गुणोंको सत्व, रज और तम कहते हैं। इनके कारण निर्गुण और शुद्ध आत्मा त्रिविध गुणोंसे व्याप्त जान पड़ता है। जिस व्यक्तिमें सत्वगुणकी अधिकता होती है उसे सात्विक कहते हैं, जिसमें रजोगुणकी अधिकता होती है उसको राजसी कहते हैं; और जिसमें तमोगुणकी अधिकता होती है उसको तामसी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध और स्वयं-प्रकाश है तथापि उक्त तीन गुणोंके संगसे वह मलिन और पर-प्रकाश देख पड़ता है।

आत्मा स्वयं स्थिर है। परंतु केवल देह-संगसे उसमें चंचलता प्रतीत होने लगती है। इस विषयमें कहा है:—

आद्यंतवर्ति देहेऽसौ तथाभूत इवेक्ष्यते ।
वीचिवत्यंभसि स्तंभो यथाभासचलश्चलः ॥

—योगवासिष्ठ ।

विचार करनेवाले सब लोग जानते हैं कि यह शरीर क्षण-भंगुर और नश्वर है; क्योंकि यह आदि-अंत-युक्त है। परंतु अज्ञानताके वश होकर साधारण लोग इस बातको भूल जाते हैं और जन्म, मृत्यु आदि शारीरिक धर्म आत्मामें आरोपित करने लगते हैं। इस बातको समझानेके लिए यह दृष्टांत दिया गया है:—किसी विस्तृत जलाशयमें एक स्तंभ है। वस्तुतः वह अचल और स्थिर है। परंतु लहरोंके कारण वह हिलता हुआ देख पड़ता है। दूसरा उदाहरण चंद्रबिंबका लीजिए। जब आकाशमें बादल चंद्रबिंब परसे जाते हुए देख पड़ते हैं तब यह मालूम होता है कि चंद्रमा ही दौड़ रहा है। सारांश यह है कि वस्तुतः आत्मामें शरीरके कोई विकार नहीं हैं; परंतु केवल उपाधिके संगसे ये विकार उसमें स्थापित किये जाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब कि आत्मा अजड़ है और देहेन्द्रियादि उपाधियाँ जड़ हैं तब जड़ वस्तुके संगसे अजड़-वस्तुको तद्रूपता कैसे प्राप्त हो जाती है? अथवा अनात्माके धर्म आत्मा पर कैसे आरोपित होते हैं? किंवा सत्य वस्तुकी संगतिसे असत्य वस्तु सत्यके समान क्यों प्रतीत होती है? इस बातको समझानेके लिए अनेक दृष्टांत दिये जा सकते हैं। मृग-जलका उदाहरण लीजिए—सूर्यके किरण सत्य हैं। उनमें असत्य जलका भास होता है। इस लिए वस्तुतः जलका अभाव होने पर भी वहाँ एक बहुत बड़ा जलाशय प्रतीत होता है। इसीको असत्य वस्तुमें सत्यका आभास कहते हैं। अब यह जानना चाहिए कि जड़ वस्तुके संगसे अजड़ वस्तुमें जड-त्व कैसे आ जाता है:—

अग्निसंगाद्यथा लोहमाग्नित्वमुपगच्छति।
आत्मासंगात्तथा गच्छत्यात्मतामिंद्रियादिकम्॥

—योगवासिष्ठ।

लोहा जड़ और अप्रकाश वस्तु है। परंतु जब वह अग्निके संगसे तप्त हो जाता है तब वह अग्निमय, प्रकाशमान देख पड़ता है। इसी तरह देहेन्द्रियादि जड़ पदार्थ स्वयं अप्रकाश और मिथ्या-भूत हैं; परंतु आत्माके संगसे वे आत्मा हीके समान प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् असत्य वस्तु केवल सत्य वस्तुके संगसे सत्यके समान मालूम होती है। जब मूल-वस्तु—सत्य-वस्तु—के अधिष्ठानका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब यह मिथ्याभास आप-ही-आप नष्ट हो जाता है और केवल सत्य-वस्तु देख पड़ने लगती है। सारांश यह है कि मूल अधिष्ठान-रूप आत्माका सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही मिथ्या-भूत देहेन्द्रियादिका आभास नष्ट हो जाता है। इस पर यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि देहेन्द्रियादि सब जड़ और असत्य पदार्थ हैं तो उनके द्वारा उस आत्माका ज्ञान कैसे होगा जो स्वयं सत्य और अजड़ है? इस शंकाका समाधान "शाखा-चंद्रन्याय" से किया जा सकता है। जिस प्रकार सूक्ष्म चंद्रका अवलोकन करनेके लिए वृक्षकी शाखाओंका इशारा बस होता है उसी प्रकार स्थूल देहेन्द्रियादिके इशारेसे सूक्ष्म-दृष्टि-द्वारा आत्माका भी बोध किया जा सकता है।

जड़ पदार्थकी संगतिसे अजड़ पदार्थ जड़वत् कैसे हो जाता है और जड़ पदार्थ अजड़ पदार्थके समान कैसे प्रतीत होता है सो देखिए:—

आत्मनो जडसंगस्यादनात्मत्वं जडस्य तु।
स्यादात्मसंगादात्मत्वं जलाग्न्योः संगवन्मिथः॥

—योगवासिष्ठ।

जब जड़ शरीरकी संगतिसे अजड़ आत्मामें भी जड़त्व देख पड़ने लगता है तब ऐसा मालूम होता है कि शरीर ही आत्मा है। यह उन दोनोंकी परस्पर संगतिका परिणाम है। जल और अग्निकी समीपतासे

भी यही परिणाम प्रगट होता है। जब अग्नि और जलका संयोग होता है तब अग्निमें शीतलता आ जाती है और जल इतना उष्ण हो जाता है कि उसको स्पर्श करना मानो अग्निको स्पर्श करनेके समान कठिन और असंभव है। यह बात सब लोगोंको मालूम है कि पुष्पमालाके साथ धागा भी मनुष्यके मस्तक पर पहुँच जाता है—गुणवान्की संगतिसे नीच पदार्थको भी महत्त्व प्राप्त हो जाता है। इन उदाहरणों परसे यह बात सिद्ध है कि देहेन्द्रियादिकी निरंतर संगतिसे आत्मा तद्रूप ही देख पड़ता है। जड़ पदार्थोंसे भिन्न करके उसके शुद्ध स्वरूपको जानना बहुत कठिन और चातुर्यका काम है। जिन उपाधियोंकी संगतिसे आत्मा केवल उपाधि-रूप देख पड़ता है उनकी जब समुचित परिक्षा की जाती है—जब उनके यथार्थ रूपका सूक्ष्म विचार किया जाता है—तब आत्माका शुद्ध-स्वरूप व्यक्त होता है। यद्यपि आत्मा जड़ पदार्थोंके साथ अत्यंत संलग्न हो गया है—तन्मय या तद्रूप हो गया है तथापि विवेक-द्वारा उसका शुद्ध स्वरूप जानां जा सकता है। इसका वर्णन इस वचनमें किया गया है:—

> इक्षौ गुडस्तिले तैलं काष्टे वन्हिर्दृषद्ययः।
> धेनावाज्यं वपुष्यात्मा लभ्यते चैव यत्नतः॥
>
> —योगवासिष्ठ।

जैसे ईखसे गुड़ और तिलसे तैल निकालते हैं; काष्ठको मंथन करके जैसे उसमेंसे अग्नि उत्पन्न करते हैं; पाषाणके चूर्णका रस बना कर उसमेंसे जैसे लोहा बनाते हैं; गौका दूध दुह कर जैसे उसमेंसे घी निकाला जाता है; वैसे ही इस देहमें रहनेवाला आत्मा विवेक-रूप महा प्रयत्न करनेसे प्राप्त होता है। उक्त वचनमें ‘ चैव ’ शब्दसे यह बात सूचित होती है कि महा प्रयत्न किये बिना फलकी प्राप्ति असंभव है। यद्यपि भ्रमके कारण यह स्वयं-सिद्ध और सर्व-व्यापक आत्मा पदार्थ-रूप देख

पड़ता है तथापि विचार करने पर बोध हो जाता है कि वह सर्वत्र एक ही है। इस विषयमें यह दृष्टांत विचार करने योग्य है:—

स्फटिकात्मनि नीरंध्रे स्थितं संवीक्ष्यते यथा।
तथा सर्वपदार्थेषु चिद्रूपः परमेश्वरः॥

—योगवाशिष्ठ।

एक स्फटिक मणिको हाथमें लेकर देखिए। मालूम होगा कि उसमें कहीं छेद नहीं है; वह घन पदार्थ है। तथापि उसमें भी आकाश व्याप्त है। यदि उसमें आकाश न हो तो उसमें कभी छेद किया न जा सकेगा। परंतु यह सब लोग जानते हैं कि उस मणिमें छेद किया जा सकता है। इस परसे यह बात सिद्ध होती है कि उस घन-रूप मणिमें आकाश अत्यंत सूक्ष्म-रूपसे भरा है। यही कारण है कि जब हम उस मणिको हाथमें लेते हैं तब उसमें भरे हुए आकाशका ज्ञान हमको होता है। जैसे उक्त बात सत्य है वैसे ही यह बात भी सत्य है कि अत्यंत सूक्ष्म विचार करने पर सब पदार्थोंमें आत्माकी प्रतीति होती है। यह बात सूक्ष्म विचार और बहुत यत्न किये बिना कभी प्रतीत हो नहीं सकती कि इस जगत्के सारे पदार्थोंमें एक सच्चिदानंद परमात्मा ही निरंतर व्याप्त है।

यदि यह सिद्धान्त है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप और सर्व-व्यापी है तो उसकी चित्कलाका प्रकाश वृक्ष, पाषाण आदि जड़ पदार्थोंमें देख क्यों नहीं पड़ता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चित्स्वरूपका प्रकाश प्रकट होनेके लिए अनुकूल उपाधि या भूमिकाकी आवश्यकता है। इस अनुकूल भूमिकाको शुद्ध-बुद्धि कहते हैं। जो पदार्थ जड़ और मलिन हैं उनमें कुछ प्रकाश देख नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ यद्यपि सूर्य सब पदार्थों पर समान-रूपसे प्रकाशित होता है तथापि काँच और पत्थरमें

जो प्रकाश होता है उसमें बहुत भेद है । काँचमें ग्रहण-शक्ति बहुत होती है, सूर्यके किरणोंकी वृद्धिके लिए यह पदार्थ अनुकूल है, इस लिए काँचमें सूर्यका बहुत प्रकाश देख पड़ता है । परंतु पत्थरमें यह अनुकूल गुण नहीं है, इस लिए उसमें प्रकाश देख नहीं पड़ता । इस बातको समझानेके लिए और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि पदार्थोंके स्वाभाविक गुण-भेदके कारण सूर्यके प्रकाशमें भेद देख पड़ता है। जो बात सूर्य-प्रकाशके संबंधमें कही गई है वही आत्माके विषयमें कही जा सकती है । सब इंद्रियोंसे बुद्धि अधिक शुद्ध और सूक्ष्म है, इस लिए उसमें आत्माका तत्काल प्रकाश होता है । परंतु वृक्ष, पाषाण आदि अन्य पदार्थ बुद्धि-हीन अर्थात् अत्यंत जड़ हैं, इस लिए उनमें ज्ञान-प्रकाश देख नहीं पड़ता । इसमें संदेह नहीं कि आत्मा शुद्ध और अशुद्ध या सूक्ष्म और जड़ दोनों प्रकारके पदार्थोंमें समान-रूपसे व्याप्त है तथापि उसका प्रकाश प्रकट करनेके लिए शुद्ध वस्तु हीकी आवश्यकता है। जैसे मिट्टीका घड़ा सूर्य-किरणोंका प्रकाश प्रकट कर नहीं सकता, वैसे ही वृक्ष, पाषाण आदि जड़ पदार्थ आत्माके प्रकाशको प्रकट कर नहीं सकते ।

उक्त विवेचनसे यह बात मालूम हुई कि केवल शुद्ध और सूक्ष्म पदार्थमें—केवल बुद्धिमें—केवल अंतःप्रदेशमें आत्मा प्रकाशित होता है; परंतु इस परसे यह न समझना चाहिए कि आत्माका प्रकाश केवल बुद्धिके भीतर ही होता है और वह उसके बाहर प्रकट हो नहीं सकता । आत्माका विशेष धर्म यही है कि वह अंतर्बाह्य, भीतर बाहर, सर्वत्र प्रकाशित होता है। उदाहरणार्थ काँचका एक बरतन लीजिए और उसमें दीपक लगा कर रख दीजिए । उस दीपकका प्रकाश सिर्फ उस काँचके बरतनके भीतर ही रह न जायगा, किंतु वह उसके बाहर भी अपना प्रकाश प्रकट करेगा । इसी तरह जब बुद्धिमें आत्मा प्रकाशित होता है तब वह

प्रकाश वहीं रह नहीं जाता; किंतु उसके बाहर होकर अन्य सब पदार्थोंको भी वह प्रकाशित करता है ।

अब एक और शंका उत्पन्न होती है । हमको यह सारा विश्व दृष्टि-गोचर होता है और देहेन्द्रियादिका प्रत्यक्ष भास होता है; ऐसी अवस्थामें यह कैसे कहा जाय कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है और जो कुछ देख पड़ता है वह सब मिथ्याभास है? इस विषयमें यह वचन देखिए:—

तत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिमामात्ररूपिणी ।
रज्वां भुजंगवद्भाति स्वयमात्मा सदोदितः ॥

—योगवासिष्ठ ।

रज्जुके विषयमें जैसे सर्पका भास होता है, परंतु यथार्थमें वहाँ सर्प नहीं रहता; वैसे ही सदोदित और सर्व-व्यापी आत्मामें प्रतिमा-मात्र जगत्का रूप देख पड़ता है, परंतु वह सत्य नहीं है—केवल मिथ्याभ्रम है । आकाशकी ओर देखनेसे चारों ओर नील-वर्ण देख पड़ता है; परंतु यथार्थमें आकाश और नील-वर्णका कोई संबंध नहीं है । विज्ञान-शास्त्रमें इसको दृष्टि-दोष या नेत्र-भ्रम कहते हैं । इसी तरह यह विश्व भी मिथ्या-भ्रम है, केवल एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है । उस आत्मामें देहेन्द्रियादि दृश्य पदार्थोंका जो भास होता है उसको मिथ्याभास जानना चाहिए ।

अब इस बातका विचार किया जायगा कि ऐसे सर्व-व्यापी आत्माका लक्षण क्या है और अपरोक्ष-रीतिसे आत्मज्ञान तथा तद्रूपता होने पर संपूर्णता किस प्रकार सिद्ध होती है । पहले आत्माके लक्षणका वर्णन करेंगे ।

आद्यंतरहितः सत्यश्चिद्रूपो निर्विकल्पकः ।
आत्मसंपूरिताकाशो जीवस्याद्यः परात्परः ॥

—योगवासिष्ठ ।

जो आदि, अंत और मध्य रहित है; जो सत्य, चिद्रूप और संकल्प-विकल्प-रहित है; जो जीवात्माका मूल-कारण है; जो परात्पर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है; उसे आत्मा कहते हैं। यह आत्मा अविकारी है। विश्व आत्माका परिणाम नहीं है। जिन्होंने अध्यात्म-शास्त्रका श्रवण और मनन किया नहीं है और जिनको अत्मानुभव भी प्राप्त नहीं हुआ है वे भले ही कहें कि विश्व आत्माका परिणाम है। परन्तु जिन लोगोंको सद्गुरुकी कृपासे अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है वे उक्त बातको कदापि सत्य न मानेंगे। आत्माका ज्ञान केवल दृढ़ अनुभव हीसे प्राप्त होता है। इसके लिए यह वचन प्रमाण है:—

आत्माऽनुभवमात्रात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः।
प्रकाशानंदचैतन्याव्यतिरिक्तोऽनलौष्ण्यवत् ॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् आत्माका ज्ञान केवल अनुभव-जन्य है। आत्मा इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है, इस लिए न तो वह देनेकी वस्तु है और न लेनेकी। आत्मानुभव अवर्णनीय है। जब आत्माका अनुभव प्राप्त होता है तब किसी दृश्य पदार्थका यत्किंचित् स्फुरण नहीं होता। वृत्ति-रूप ज्ञान-स्वस्वरूपमें लीन हो जाता है; ग्राह्य-ग्राहक-भाव नष्ट हो जाता है; और ज्ञेय-ज्ञानकी त्रिपुटिका अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्थामें अज्ञानका नाम तक नहीं रहता—ब्रह्मके सिवाय अन्य किसी वस्तुका भान नहीं रहता। जो कुछ स्व-स्वरूपका ज्ञान है उसीका अनुभव होता है, इस लिए आत्मा केवल अनुभव-रूप है। इसके अतिरिक्त आत्माकी सर्व-व्यापकताके विषयमें पहले ही उल्लेख किया गया है। जैसे आकाश सर्व-व्यापी है—ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ आकाश न हो; वैसे ही आत्मा सब पदार्थोंका मूल आधार है—यह सारा विश्व उसीमें भरा हुआ है। इस आत्मामें प्रकाश, आनंद और चैतन्य तीनों अभिन्न-रूपसे रहते हैं। यह

बात अनेक दृष्टांतोंसे समझा दी जा सकती है। देखिए, अग्नि और उष्णता दोनों अभिन्न है—अग्निकी उष्णता भिन्न कभी की नहीं जा सकती; क्योंकि जिसे उष्णता कहते हैं वही अग्नि है और जिसे अग्नि कहते हैं वही उष्णता है। इसी तरह वायु और उसकी गति-में कुछ भेद नहीं है, आकाश और अवकाशमें कुछ भेद नहीं है, जल और आर्द्रतामें कुछ भेद नहीं है। इन उदाहरणोंसे यह बोध हो सकता है कि प्रकाश, आनंद और चैतन्यसे आत्मा भिन्न नहीं है। इन तीनोंसे केवल एक आत्मा हीका अनुभव होता है।

उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त आत्मामें नाना प्रकारके भेद-भाव हैं ही नहीं। इसी लिए कहा है—

न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः।
न मे धारणा ध्यानयोगादयोऽपि॥

—निर्वाणदशक।

"मेरा कोई वर्ण नहीं, मेरी कोई जाति नहीं, मेरा कोई आश्रम नहीं; ध्यान, धारणा आदि योगके किसी अंगमें भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं सब वस्तुओंसे अलिप्त हूँ"। यदि इस आत्माका वर्णन करना हो तो वह इस प्रकार किया जा सकता है:—

ब्रह्मांडे च यथा वायुः सर्वभूतगतस्तथा।
स एव भगवानात्मा तनुमुक्तो व्यवस्थितः॥

—योगवासिष्ठ।

जैसे वायु ब्रह्मांडमें सर्वत्र संचार करता रहता है, परंतु वह किसी वस्तुके संगसे लिप्त हो नहीं जाता; जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, परंतु वह किसी वस्तुमें लिप्त नहीं है; वैसे ही यह सर्व-व्यापक आत्मा निर्मल और असंग है। श्रुतिमें कहा है कि आत्मा षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न है। धर्म,

यश, श्री, लक्ष्मी, वैराग्य और ज्ञानको षड्गुणैश्वर्य कहते हैं। इसी ऐश्वर्यको भग भी कहते हैं, इस लिए जो भग-युक्त है उसको भगवान् कहते हैं। परमात्मा भी उन्हीं षड्गुणोंका अंगीकार करके परिपूर्णत्वसे रहता है। अर्थात् उन दोनोंका एक ही रूप है। इस प्रकार आत्मानुभव प्राप्त करके जो मनुष्य जीवन्मुक्त होता है उसीको आत्म-लाभ होता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि आत्माका अनुभव केवल जीवन्मुक्तावस्था हीमें होता है तो क्या वह अन्य स्थान या स्थितिमें नहीं है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा सर्वत्र, सब स्थानों और सब अवस्थाओंमें एक-रूप होकर व्याप्त है तथापि अज्ञान या भ्रमके कारण उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। देखिए, जागृति और स्वप्नावस्थामें भी आत्माका अस्तित्व है; परंतु वहाँ देहेन्द्रियोंके समुदायमें वह इतना निमग्न हो जाता है कि उसका स्मरण भी नहीं होता। उसके स्वरूपका बोध कुछ अंशमें सुषुप्तिके समय होता है। इससे भी अधिक आत्माका ज्ञान मुक्तावस्थामें प्रकट होता है। सारांश यह है कि प्रतिकूल उपाधिके कारण आत्माका ज्ञान होनेमें बाधा होती है। मुक्तावस्थामें प्रतिकूल उपाधिका बिलकुल नाश हो जाता है, इस लिए वहाँ आत्माके यथार्थ स्वरूपका पूर्ण अनुभव और ज्ञान होता है।

आत्माके लक्षण भली भाँति जान लेने पर अपरोक्ष रीतिसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति और तल्लीनताके अनुभवके लिए मुक्तावस्थाकी आवश्यकता है। जब मनुष्य इस अवस्थामें निरंतर रहने लगता है तब उसको ब्रह्मके सिवाय अन्य किसी पदार्थका भान नहीं होता, सब दृश्य उसको चैतन्यमय देख पड़ता है और वह सदा परमानंदमें निमग्न रहता है। इस अवस्थामें चित्कलाकी जो प्रतीति होती है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

> एवं चिद्गगनाभोगे भूषणे व्योम्नि भास्करे।
> धराविवरकोशस्था सैव चित्कीटकोदरे। —योगवासिष्ठ।

सब जगह चित् अर्थात् ज्ञान ही भरा है। स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, आकाश आदि सब जगह चिद्रूप ही व्याप्त है। कहाँ तक कहें, पृथ्वीके विवरमें और पशु, पक्षी, कीटक आदिके उदरमें भी वही चिद्रूप अर्थात् ज्ञान भरा हुआ है! इस प्रकारका चिद्रूप जिसके अंतःकरणमें प्रकट होता है उसको मुक्त-पुरुष कहते हैं। ऐसे सत्पुरुषके लिए बंध और मोक्ष कुछ नहीं है। जब कि उसके अंतःकरणमें एक ब्रह्म या आत्माके सिवाय अन्य किसी वस्तुकी भावना ही उत्पन्न नहीं होती तब बंध और मोक्षका भेद-भाव कौन करेगा? यदि यह कहा जाय कि उसका आत्मा अज्ञानसे बद्ध होता है तो यह बात संभवनीय नहीं है; क्योकि जिस अवस्थामें वह वहाँ स्थित है वहाँ अज्ञानका नाम निशान भी नहीं है। क्या वंध्या-पुत्रकी कोई जन्म-पत्रिका बनाता है? क्या स्वप्नमें देखे हुए शत्रुसे कोई जागृतावस्थामें डरता है? क्या मृग-जलमें डूब जानेका कोई खेद करता है? नहीं। इसी तरह मुक्तावस्थामें आत्मा अज्ञानसे कभी बद्ध हो नहीं सकता। अब यह देखना चाहिए कि ज्ञानके योगसे आत्माकी सर्व-व्यापकता कैसी देख पड़ती है। निम्न वचनमें इस विषयका वर्णन किया गया है:—

ब्रह्म चिद्ब्रह्मभुवनं ब्रह्मभूतपरंपरा।
ब्रह्माहं ब्रह्मम‌च्छत्रुर्ब्रह्म सन्मित्रबांधवाः॥ ——योगवासिष्ठ।

जो कुछ चित्स्वरूप है वही परब्रह्म है। स्वर्ग, मृत्यु, पाताल सब ब्रह्म है। पर्वतादि सब दृश्य-सृष्टि ब्रह्म है। मैं स्वयं ब्रह्म-रूप हूँ। मेरे शत्रु भी ब्रह्म-रूप हैं। इस प्रकारकी ब्रह्म-भावना तभी जागृत रहती है जब कि आत्म-ज्ञानकी पूर्णता और दृढ़ता निरंतर हो जाती है।

अब इस बातका विचार किया जायगा कि बंध और मोक्षका वास्तविक स्वरूप क्या है। यथार्थमें चैतन्यका जो स्वरूप है वह न तो बद्ध है और न मुक्त है। जब दृश्य पदार्थोंके साथ तादात्मता हो जाती है तब उसको बद्धावस्था प्राप्त होती है और जब चैतन्य दृश्य पदार्थोंसे

अलिप्त रहता है तब उसको मुक्त कहते हैं। जब चित्त और चैतन्यकी भेट होती है तब यह कल्पना उत्पन्न होती है कि मैं देह हूँ—इसीको चिद्चिद्-ग्रंथि कहते हैं। जब यथार्थ ज्ञान और विवेक-द्वारा इस चिद्-चिद्-ग्रंथिका छेदन—नाश—किया जाता है तब ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होती है, जिसको मुक्ति कहते हैं।

वेदान्त-शास्त्रका यही मथितार्थ है कि जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है। छांदोग्य-उपनिषद्में यही कहा है कि " सर्वं खल्विदं ब्रह्म "। ऐसी अवस्थामें मैं और तू, मेरा और तेरा आदि अनेक भेद-भाव कल्पित करना केवल अज्ञानता है। कहा भी है किः—

> यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं, यच्चान्यतो भाति न चान्यदस्ति ॥
> स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला, ग्राह्यं ग्रहीतेति मृषा विकल्पः ॥
>
> —योगवासिष्ठ।

अर्थात् जो जो पदार्थ हम देखते हैं या जो जो पदार्थ भासमान होता है वह सब चैतन्य ही है। आत्माके व्यतिरिक्त जो जो दृश्य भासमान होता है अर्थात् इस बातका जो ज्ञान होता है कि अमुक वस्तु नहीं है, वह सब आत्म-स्वरूप ही है। व्याप्य, व्यापकता और व्याप्यांश; ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता; ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य आदि जितने प्रकार-की त्रिपुटियाँ हैं वे सब चिदानंदमय हैं। इंद्रियाँ, देह, अहंकार, मन, बुद्धि आदि सब चिद्रूप हैं। ये सब पदार्थ केवल ज्ञान-रूप, कल्पित और प्रतीत होते हैं। इस विषयमें पहले अनेक दृष्टांत दिये गये हैं। यहाँ एक और दृष्टांत दिया जाता है। हलवाई शक्करके हाथी, घोड़े, उँट आदि अनेक जानवर और राजा, बजीर, सवार, प्यादा आदि अनेक मनुष्यों-की आकृतियाँ बनाता है। अज्ञानी बालक केवल भिन्न भिन्न आकार हीकी ओर देखते और भिन्न भिन्न नाम हीमें आसक्त रहते हैं; परन्तु विचारवान् पुरुष उन सब भिन्न आकृतियों और नामोंमें केवल शक्कर ही-का रूप देखते हैं। इसी तरह विश्वमें यद्यपि अनेक पदार्थ दृष्टि-गोचर

होते हैं तथापि उनमें एक चैतन्य समान-रूपसे व्याप्त है। इस विषयमें श्रुति भी कहती है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतांतरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् जो सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है (दिव् प्रकाशित करना, इस धातुसे देव शब्द बना है), जो सब भूतोंमें व्याप्त है, जो इंद्रियोंको अगम्य है, जो सब पदार्थोंके भीतर संचार करता है, जो बुद्धिको प्रेरित करता है, जो सब पदार्थोंमें चेतना या गति उत्पन्न करता है, जो सब भूतोंका निवास-स्थान है वही आत्मा है। यह आत्मा केवल साक्षि-रूप है। यद्यपि वह स्वयं कुछ भोग नहीं भोगता तथापि वह औरोंसे सब भोग भुगताता है। जैसे सूर्य आकाशमें अलिप्त रह कर पृथ्वी पर सब पदार्थोंमें चेतना उत्पन्न करता है वैसे ही यह आत्मा स्वयं अलिप्त रह कर सब व्यापार करता है। इतना होने पर भी आत्मा केवल और निर्गुण है। इस विषयमें श्रुतिके अनेक वचन हैं:—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।
नेह नानास्ति किंचन।
सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।

इत्यादि वचनोंसे ब्रह्मके विषयमें नानात्वका आरोप नष्ट हो जाता है और यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि आत्मा केवल एक है। ब्रह्मके सिवाय अणु मात्र भी अन्य पदार्थ नहीं है। जो इस प्रकारकी ब्रह्म-स्थिति-को जानता है और उसी स्थितिमें सदा निमग्न रहता है वह सारे जगत्में अपने सिवाय और कुछ नहीं देखता। देवनाथ कविने ठीक कहा है—
'आप-रूप नयनोंमें छाया, मेरा मैं जानूँ।'

यहाँ तक आत्माके स्वरूप लक्षणका निरूपण किया गया। उस आत्माका अनुभव प्राप्त करके जो तद्रूप स्थितिमें निरंतर रहता है उसीको जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्तिका वर्णन अगले प्रकरणमें किया जायगा

नौवाँ प्रकरण ।

जीवन्मुक्ति ।

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

—योगवासिष्ठ ।

पिछले प्रकरणमें जो आत्म-निरूपण किया गया है उसको पूर्ण रीतिसे ध्यानमें रख कर और यथार्थ आत्म-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके यदि उसी स्थितिमें रहनेका अभ्यास किया जाय तो इस बातका साक्षात् अनुभव होने लगेगा कि एक सच्चिदानंद परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है । इस स्थितिकी दृढ़ता, स्थिरता और पूर्णता हो जाने पर जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है । जीवन्मुक्तके लक्षण अनंत और अपार हैं। इस प्रकरणमें मुख्य मुख्य कुछ लक्षणों हीका वर्णन किया जायगा। प्रत्येक जिज्ञासु पुरुष तथा मुमुक्षु साधकका यह कर्तव्य है कि वह इन लक्षणोंका बार-बार चिंतन करे और अपनी मनोवृत्तियोंका सूक्ष्म निरीक्षण करके इस बातकी जाँच करता रहे कि जीवन्मुक्तके लक्षणोंमें और अपनी मनोवृत्तियोंमें कहाँ तक मेल है। इसमें संदेह नहीं कि जब तक साधुजनोंका साक्षात् समागम न होगा तब तक इस बातका पूर्ण बोध न हो सकेगा कि जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें रह कर किस प्रकार बर्ताव करता है और उसके लौकिक आचरणोंका रहस्य क्या है । यह बात सच है कि ग्रंथोंमें लिखा हुआ केवल शाब्दिक ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे विशेष लाभ न होगा । जैसे रासायनिक अथवा वैज्ञानिक प्रयोग (Experiment) जब तक प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर नहीं होते तब तक रसायन-शास्त्र या विज्ञानके तत्त्वोंका पूर्ण रीतिसे बोध नहीं होता; वैसे

ही साधु-समागमके बिना जीवनन्मुक्त पुरुषोंके लक्षणोंका यथार्थ रहस्य ध्यानमें नहीं आ सकता। तथापि ग्रंथों द्वारा जीवन्मुक्त साधु-पुरुषोंके लक्षणोंसे परिचित होनेकी भी बहुत आवश्यकता है। यदि भाग्य-वशात् कभी किसी साधु-पुरुषका दर्शन और समागम हो जायगा तो इन लक्षणोंके पूर्व परिचयसे जिज्ञासु मनुष्यको जीवन्मुक्तावस्थामें रहनेवाले साधु-पुरुषके आचरणका रहस्य भली भाँति समझ लेनेमें अवश्य सहायता मिलेगी।

अब जीवन्मुक्ति किसे कहते हैं, जीवन्मुक्तिके लक्षण क्या हैं, इस विषयका विवेचन करनेके पहले संक्षेपमें यह जान लेना आवश्यक है कि आत्म-बोध किसे कहते हैं।

तत्त्वावबोध एवैकः सर्वाशातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः।

—योगवासिष्ठ।

उक्त वचनमें 'तत्त्वावबोध' से अपरोक्ष ज्ञानका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जब यह ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब सब वासना-रूप आशाएँ तृणके समान जल कर भस्म हो जाती हैं। इसी प्रकारके आत्मबोधको समाधि कहते हैं। यों ही आँखें बंद करके चुपचाप बैठे रहना समाधिका लक्षण नहीं है। जिसके अंतःकरणमें आत्म-बोधका प्रकाश हुआ है वह अन्य जनोंके साथ व्यवहार करते समय भी सार्वत्रिक ब्रह्म-स्वरूपको भूलता नहीं। उसको सारा जगत् कैसा देख पड़ता है सो सुनिए:—

चिदाकारमिदं सर्वं जगदित्येव भावयन्।
यस्तिष्ठत्युपशांतात्मा स ब्रह्मकवचः सुखी॥

—योगवासिष्ठ।

जिसको आत्म-बोध प्राप्त हो गया है उसकी भावना यही होती है कि यह सारा जगत् और उसमेंके सब जन ब्रह्म-रूप ही हैं। उसका मन सदा शांत रहता है। ब्रह्म ही उसका कवच (जिरह, बख्तर) है। स्वयं

ब्रह्म-रूप होकर वह सारे विश्वको ब्रह्म-रूप देखता है। यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है कि ऐसा सत्पुरुष सदा सुखी रहता है—निरंतर पूर्णानंदमें निमग्न रहता है।

जीवन्मुक्तका पहला लक्षण यह है:—

सर्वातीतपदालंबी पूर्णेन्दुशिशिराशयः।
यस्तिष्ठति सदा योगी स एव परमेश्वरः॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है—जो सर्वातीत पदमें अर्थात् सबके परे रहनेवाली संत-वस्तु (ब्रह्म-पद) में अटल रहता है, जिसका अंतःकरण पूर्ण चंद्रके समान शांत और शीतल होता है, जिसके मनमें द्वैत-भावका यत्किंचित् भी संकल्प नहीं होता, जिसका चित्त भेद-बुद्धिसे क्षणभर भी मलिन नहीं होता वही पुरुष नित्य-मुक्त है। वह देहधारी होने पर भी प्रत्यक्ष परमेश्वर ही है। उसीको जीवन्मुक्त योगीश्वर कहना चाहिए।

जीवन्मुक्तका दूसरा लक्षण यह है:—

ब्रह्मोपनिषदां तत्त्वं भावयन्योऽन्तरात्मना।
नोद्वेगी न च हृष्टात्मा संसारे नावसीदति॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ—उपनिषद्-रूप समुद्रका मंथन करके तत्प्रतिपाद्य ब्रह्ममें जिसने अपनी बुद्धि निश्चल कर ली है वही जीवन्मुक्त है। उसका मन सदा स्व-स्वरूपानुसंधानमें लगा रहता है। उसको संसारमें न तो हर्ष होता है और न उद्वेग ही होता है। वह अकर्ता और अभोक्ता होनेके कारण कर्माकर्मोंसे अलिप्त रहता है। पुण्य और पाप दोनों अमंगलकारक दोष होनेके कारण उसकी ज्ञान-दृष्टिमें भेद-भाव उत्पन्न नहीं होता।

यहाँ कदाचित् यह शंका उत्पन्न होगी कि जो लोग इस प्रकारके ज्ञानी हैं उनमें भी कभी कभी कुछ दोष देख पड़ते हैं। और काम-क्रोधादि विकार उनके भी अंतःकरणमें उत्पन्न होते हैं, इसका कारण क्या है?

इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः ज्ञानी पुरुषके अंतःकरणमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार होते ही नहीं; परंतु लोगोंमें कभी कभी विपरीत भाव प्रकट हो जाता है—कभी कभी ज्ञानी पुरुष जान-बूझ कर अन्य लोगोंमें कुछ विकार उत्पन्न कर देते हैं । इसका कारण यह है कि वे स्वयं अपनी स्थितिकी जाँच और परिक्षा किया करते हैं—वे यह देखा करते हैं कि शांति, तितिक्षा, दया, क्षमा आदि इष्ट दैवी संपत्ति हमने कितनी संपादन की है । अत एव ज्ञानी पुरुषोंमें कभी कभी देख पड़नेवाले विकार केवल आत्म-परिक्षाके हेतु प्रकट होते हैं । यथार्थमें वे अपने लिए मान और अपमान दोनोंको समान ही मानते हैं । यदि कोई उनका सम्मान करे तो वे हर्षित नहीं होते; और यदि कोई उनकी निंदा या अपमान करे तो वे दुखित नहीं होते । परंतु यह नियम है कि—

असम्मानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तु तपःक्षयः ।
अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति ॥

—स्मृति ।

अर्थात् जब विप्रका अपमान होता है तब उसके तपकी वृद्धि होती है और जब उसका सम्मान किया जाता है तब उसके तपका क्षय होता है । जिस गायका दूध निकाल लिया जाता है वह क्षीण हो जाती है; इसी तरह विप्रकी पूजा-अर्चा ज्यों ज्यों अधिक होती है त्यों त्यों उसका तेज घटता जाता है । अत एव जब ज्ञानी पुरुष साधारण लोगोंकी नाईं बर्ताव करके क्रोधादि विकारोंको प्रकट करते हुए देख पड़ते हैं तब उक्त नियमके अनुसार यह समझना चाहिए कि वे स्वयं अपनी परिक्षा कर रहे हैं ।

उक्त प्रश्नका एक और उत्तर है कि पूर्व कर्म-संस्कारोंके कारण कभी कभी ज्ञानी पुरुषोंमें भी काम-क्रोधादि विकार देख पड़ते हैं । यद्यपि उनका अज्ञान नष्ट हो जाता है तथापि प्रारब्ध-रूप शेष कर्मके कारण उनमें भी राग, लोभ आदि दृष्टि-गोचर होते हैं ।

इस पर फिर प्रश्न उठता है कि सब प्रकारके मोहका कारण केवल अज्ञान ही है; जीवन्मुक्त पुरुषका यह अज्ञान आत्म-बोधसे नष्ट हो जाता है; फिर मोह क्यों देख पड़ता है? यह सिद्धान्त है कि कारणका नाश होनेसे कार्य भी नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि भ्रम या अज्ञानका जो परिणाम होगा उसीके अनुसार तज्जन्य संस्कारकी अवधि होती है। उदाहरणार्थ, जब अँधेरेमें डोरीके स्थान पर सर्पका भास होता है तब तुरंत ही भय उत्पन्न होता है। कुछ समयके बाद प्रकाशमें देखनेसे वह भ्रम नष्ट हो जाता है और यह विश्वास हो जाता है कि यह सर्प नहीं है, डोरी है। यद्यपि इस प्रकार भ्रमका नाश और यथार्थ ज्ञान हो जाता है तथापि भयसे उत्पन्न होनेवाले स्वेद और कंपादि विकार बहुत समय तक बने रहते हैं। ठीक यही हाल प्रारब्ध-कर्मका भी है। अनेक जन्मोंके अज्ञान-जन्य भ्रमका संस्कार इतना दृढ़ और प्रबल होता है कि ज्ञानी पुरुषको भी अपने प्रारब्ध-कर्मका फल देह-पातके समय तक भोगना ही पड़ता है। आघातका जितना वेग होता है उतना ही प्रत्याघातका भी हुआ करता है। वाणका वेग उतना ही होता है कि जितनी गति उसको दी जाती है। इस प्रकार विचार करनेसे यह बात सहज ध्यानमें आ जाती है कि यद्यपि मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाय तथापि अनेक पूर्व-जन्मोंके संस्कारोंके कारण कभी कभी उसमें राग-द्वेषादि विकार भी प्रकट हो जाते हैं।

जीवन्मुक्तका तीसरा लक्षण यह है:—

> अंतर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्।
> परिश्रांततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥
>
> —योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञानी पुरुषकी इंद्रियाँ कभी बहिर्मुख नहीं होतीं। वे सदा अंतर्मुख रहती हैं अर्थात् प्रत्यगात्माकी ओर उनकी दृष्टि लगी रहती है।

इस लिए यद्यपि ज्ञानी पुरुष किसी प्रकारका बाह्य व्यवहार करता रहे तथापि उसमें उसकी आसक्ति नहीं होती। उसका मन स्व-स्वरूपमें निमग्न रहता है, इस लिए वह सदा परमानंद हीका अनुभव लेता रहता है। गाढ़ निद्रामेंसे जागृत हुए मनुष्यके उदाहरणसे इस स्थितिका कुछ बोध हो सकता है। गहरी नींदसे जगा हुआ मनुष्य यद्यपि कुछ काम करता हुआ देख पड़ता है तथापि उसका सब चित्त निद्रा-सुख हीमें निमग्न रहता है; इस लिए बाह्य व्यवहार करते रहने पर भी उसके मनमें कर्तृत्वका अभिमान जागृत नहीं रहता। इसी तरह जीवन्मुक्त पुरुषके सब बाह्येन्द्रिय व्यापार होते रहते हैं; क्योंकि उसका मन सदा मूल अधिष्ठान (ब्रह्म) की ओर लगा रहता है। आत्म-सुखमें सदा संतुष्ट रहनेके कारण वह देहधारी होकर भी देहातीत है—सब प्रकारके लौकिक कर्म करने पर भी वह उन कर्मोंके फलसे अलिप्त रहता है— कर्तृत्वाभिमानसे वह बद्ध नहीं होता।

जीवन्मुक्तका चौथा लक्षण यह है:—

अद्वैते स्थैर्यमायाते चित्ते च प्रशमं गते।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति पश्यन्ति स्वप्नवज्जगत्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् योगीजन अपनी अद्वैत स्थितिमें सदा अटल बने रहते हैं। उनके अंतःकरणमें द्वैत-बुद्धि कभी जागृत नहीं होती। उनका चित्त सदा शांत और निर्मल रहता है। उनके मनमें किसी प्रकारका संशय नहीं रहता। जैसा कि मुंडकोपनिषद्में लिखा है—'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।' इस प्रकारकी स्थितिमें जीवन्मुक्त पुरुष सम्पूर्ण जगत्को स्वप्नवत् मिथ्या जान कर केवल पूर्व-संस्कारानुरूप सब कर्मोंका आचरण यथावत् करते रहते हैं। यद्यपि वे यथा-समय विहित कर्मोंका आचरण करते हैं और निषिद्ध कर्मोंका त्याग करते हैं तथापि उनके मनमें यह संकल्प नहीं होता कि विधि-युक्त कर्माचरणसे या निषिद्ध-कर्मोंके त्यागसे

पुण्य प्राप्त होगा। इसका कारण यह है कि वे अपने चित्तकी शुद्धिके लिए अनेक जन्मोंसे सत्कर्मका आचरण और निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही करते चले आये हैं; अत एव जब उनका चित्त पूर्ण-रीतिसे शुद्ध हो जाता है तभी उनको आत्म-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है—तभी उनके हृदयमें आत्म-बोधका प्रकाश होता है—और इस प्रकार ज्ञान-प्राप्तिके बाद भी उनका आचरण अनेक जन्मोंमें किये हुए सत्कर्मोंके संस्कारसे ज्योंका त्यों बना रहता है।

ज्ञानी पुरुषोंके कर्माचरणके विषयमें वर्तमान समयके बहुतेरे लोगोंके विचार भ्रम-मूलक देख पड़ते हैं। यह बात साधारण लोगोंकी समझमें नहीं आती कि ज्ञानी पुरुष कर्म-फलोंकी आसक्तिसे कर्माचरण नहीं करते; किंतु वे केवल लोक-संग्रहार्थ अर्थात् सर्व-साधारण लोगोंकी शिक्षाके लिए कर्माचरण करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उक्त सिद्धान्तका जितना अधिक विवेचन किया जायगा उतना ही अधिक लोगोंका कल्याण होगा। इस स्थानमें केवल सूचनाके तौर पर कुछ बातोंका उल्लेख कर देना हम आवश्यक समझते हैं। सबसे पहले लोगोंको यह सोचना चाहिए कि प्राचीन वैदिक-मतोंका त्याग करके इस देशमें जो अनेक धार्मिक समाज, सांप्रदायिक संस्था और नये नये पंथ निर्माण किये गये हैं और इस समय भी किये जा रहे हैं, उनके द्वारा लोगोंकी सामाजिक तथा धार्मिक दशा पर क्या परिणाम हुए हैं। सूक्ष्म-रीतिसे यदि अवलोकन किया जाय तो मालूम हो जायगा कि वर्तमान समयमें कर्माचरणका लोप हो रहा है, धार्मिक संस्कारोंका अभाव हो रहा है और स्वधर्मके विषयमें अश्रद्धा उत्पन्न हो रही है। जिन लोगोंने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की है वे अपने तईं बड़े विद्वान्, पंडित और ज्ञानी समझते हैं। उनकी दृष्टिमें प्राचीन सनातन-धर्म निरुपयोगी प्रतीत होता है, इस लिए धर्माचरणका त्याग करके वे केवल कर्म-हीन हो जाते हैं। यद्यपि यह मान लिया जाय कि

उन लोगोंको सत्य-धर्मके गहन तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त हो गया है, इस लिए कदाचित् कर्माचरणके त्यागका कोई अनर्थकारक परिणाम उनको भोगना न पड़ेगा; तथापि इस बातका विचार करना चाहिए कि भविष्यमें उन लोगोंकी संतति पर क्या परिणाम होगा। इधर प्रत्येक घरमें कर्माचरणका अभाव हो जानेसे अज्ञान बालक अपने प्राचीन सनातन धर्मके तत्त्वोंसे अपरिचित रह जाते हैं और उधर नूतन सत्य-धर्मके गहन तत्त्व जो शिक्षितोंको मान्य होते हैं, वे उनकी समझमें ही नहीं आते। इस प्रकार वे दोनों ओरसे धार्मिक संस्कार-विहीन हो जाते हैं और अंतमें इसका परिणाम यही होता है कि वे अधर्म तथा स्वेच्छाचारकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। इस समय हमारे देशमें ऐसे उदाहरण सर्वत्र देख पड़ते हैं। इन अनिष्ट परिणामोंको दूर करनेके लिए प्रत्येक स्त्री और पुरुषको (चाहे वह विद्वान् हो या अविद्वान्, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी) स्वधर्माचरण अवश्य करना चाहिए। यदि कोई अपनी विद्वत्ता और ज्ञानके घमंडमें आकर विहित कर्माचरणका त्याग कर दे तो उससे संपूर्ण लोक-समूह पर बहुत बुरा परिणाम होता है—देश-भरमें अधार्मिकता और अनवस्था फैल जाती है। इस अत्यंत महत्त्वकी बातकी ओर ध्यान देकर ही जीवन्मुक्त और ज्ञानी पुरुष भी नित्य तथा नैमित्तिक धार्मिक कर्मोंका यथावत् आचरण करते हैं। इसी लिए वे दुनियामें सबसे उत्तम आदर्श माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस विषयमें जो कहा है उसका भाव यह है—

“ हे अर्जुन, ऐसा नहीं है कि सत्कर्म करके मुझे कुछ प्राप्त करना है; तथापि सब लोगोंको अनुकरण करनेके लिए उदाहरण होना चाहिए। इसी कारण मैं सब कर्म यथायोग्य करता रहता हूँ। उन कर्मोंके करनेमें मेरा और कोई दूसरा उद्देश नहीं है।”

अब जीवन्मुक्त पुरुषोंके और लक्षण जाननेके लिए भिन्न भिन्न

ज्ञान-भूमिकाओंका बोध होना आवश्यक है; क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्थिति भूमिकाके भेदसे भिन्न भिन्न हो जाती है। वेदान्त-शास्त्रमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ लिखी हैं। इन भूमिकाओंका केवल शाब्दिक वर्णन पढ़ कर भी मनुष्यको अति आनंद प्राप्त होता है। इनमेंसे प्रथम तीन 'अज्ञान-भूमिका" कहलाती हैं; चौथी और पाँचवीं भूमिकाओंमें व्युत्थानके समय सुख-दुःखका अनुभव होता है, छठी और सातवीं भूमिकाओंमें ज्ञानी पुरुषको सुख-दुःख आदि सब प्रकारके द्वंद्व-भावोंका पूर्ण विस्मरण हो जाता है। सातवीं भूमिका ज्ञानका शिखर है। उस अवस्थामें मनुष्य विषय-सुखोंसे सुखी नहीं होता और दुःखोंसे दुखित नहीं होता। इन सातों भूमिकाओंके नाम ये हैं:—

१ शुभेच्छा; २ विचारणा; ३ तनुमानसा; ४ सत्त्वापत्ति, ५ असंसक्ति; ६ पदार्थाभाविनी और ७ तुर्यगा। प्रत्येक भूमिकाका यथाक्रम वर्णन करनेके पहले प्रवृत्त और निवृत्त पुरुषोंके लक्षण जान लेना आवश्यक है। प्रवृत्त-पुरुषका लक्षण यह है:—

किमेतन्नाम निर्वाणं वरं संसृतिरेव मे।
इति निर्णयकर्ता च स प्रवृत्त उदाहृतः॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—निर्वाण अर्थात् मोक्षकी क्या आवश्यकता है? संसार हीका मार्ग बहुत अच्छा है, इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके जो सदा प्रपंच हीमें निमग्न रहता है उसको प्रवृत्त-पुरुष कहते हैं। प्रवृत्त-मार्गका आश्रय करनेवाले लोग सकाम धर्मानुष्ठान करते हैं। वे कहते हैं कि निवृत्त-मार्गसे जानेवाले जो लोग अहेतुक धर्माचरण करते हैं वे व्यर्थ परिश्रम और कष्ट करते हैं, उनको विषयोंका कोई सुख प्राप्त नहीं होता। जिस काममें सुख ही नहीं है उसके आचरणसे लाभ ही क्या होगा! ऐसे सुख-रहित कर्मोंका उपयोग ही क्या है! अत एव

उनका यह मत है कि इह लोक तथा परलोक-संबंधी सुखोंकी प्राप्ति कर लेने हीके लिए अनेक प्रकारके धार्मिक कर्म करना चाहिए। इस प्रकार जिनका निश्चय दृढ़ होता है और जो सकाम-बुद्धिसे प्रेरित होकर काम्य-कर्मोंका आचरण करते हैं वही प्रवृत्त-जन हैं।

निवृत्त-पुरुषोंके ये लक्षण हैं:—

अनेकजन्मनामंते विवेकी जायते पुमान्।
इति निश्चयवान् योंतः स निवृत्त इति स्मृतः॥
कथं विरागवान् भूत्वा संसाराब्धिं तराम्यहम्॥
—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—अनेक जन्मोंके बाद मनुष्यको सारासार-विवेक-बुद्धि प्राप्त होती है। जब यह विवेक-बुद्धि प्राप्त होती है तब मनुष्य इसी चिंतामें निमग्न रहता है कि मैं विरक्त कैसे होऊँगा और इस संसार-सागरसे मेरा उद्धार कैसे होगा। ऐसे मनुष्यको निवृत्त कहते हैं। उसको सांसारिक दुःखोंका सदा स्मरण बना रहता है। वह कहता है कि यह संसार मानो दावानलसे प्रदीप्त एक अरण्य ही है। कल्पना करो कि किसी मनुष्यके पीछे बाघ लगा है और सामने एक महा-समुद्र है; इस दशामें उसके मनकी जो स्थिति होगी वही निवृत्त-पुरुषकी सदा रहती है। वह जानता है कि इस संसारमें नाना प्रकारके पुण्यदायक कर्म करनेसे उत्तम जन्म प्राप्त होता है; परंतु उन कर्मोंका फल भोगने पर फिर दुःख बना ही है। इस लिए वह संसारसे विरक्त होकर केवल आत्म-विचारमें निमग्न होनेका निश्चय करता है। सारे विषयोंसे अपने मनको हटा कर वह साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होता है और सिर्फ इसी एक बातका चिंतन करता रहता है कि अब मैं किस उपायसे मुक्त होऊँगा। इस प्रकारके मुमुक्षु जन हीको निवृत्त कहते हैं।

उक्त दो प्रकारके लक्षणोंमेंसे प्रवृत्तिके लक्षण जिस पुरुषमें नहीं हैं

और जो निवृत्ति-लक्षणोंसे पूर्ण सम्पन्न है, उसीको **शुभेच्छावान्** कहते हैं। अर्थात् शुभेच्छा नामक प्रथम ज्ञान-भूमिकाका वही स्वरूप है जो निवृत्त-पुरुषके विषयमें वर्णन किया गया है। अब यह देखना चाहिए कि इस भूमिकाकी सिद्धिके लिए किन किन साधनोंका अवलंबन करना आवश्यक है। जिसको शुभेच्छा प्राप्त होती है वह किसी विषयमें आसक्त नहीं होता—वह विषयोंके संबंधमें विरक्त रहता है। कोई काम करनेके पहले अंतःकरणमें जो एक प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होती है उसको अंतर्वासना कहते हैं। शुभेच्छावान् पुरुषकी यह अंतर्वासना लीन हो जाती है। इस प्रकार ज्यों ज्यों वह प्रवृत्ति-मार्गके कर्मोंका त्याग करता जाता है त्यों त्यों उसके हृदयमें सच्चे सुखका उदय होने लगता है। जिसकी इच्छा शुभ होती है वह कदापि नीच भाषण नहीं करता—वह सब प्रकारकी नीच क्रियाका त्याग कर देता है। इतना ही नहीं; किंतु वह अपने मनमें नीच विचारोंको आने भी नहीं देता। वह सदा सद्विचारों हीमें निमग्न रहता है। उसका यह दृढ़ विश्वास होता है कि संसारमें ईश्वर-निष्ठाके सिवाय अन्य बातोंकी ओर ध्यान देना व्यर्थ है। शुभेच्छा-संपन्न पुरुष कभी किसीकी निंदा नहीं करता। उसका आचरण सदा गर्व-रहित और सत्यानुकूल होता है। वह कभी वस्तु-स्थितिका विपर्यास नहीं करता—जिस समय जैसी यथार्थ दशा होती है उस समय वह वैसा ही बोलता और करता है। वह अपनी विद्वत्ता या पंडिताईका घमंड नहीं रखता। वह अत्यंत पाप-भीरु होता है। वह सब लोगोंके विषयमें आदर और नम्रता प्रकट करता है। सारांश यह है कि शुभेच्छावान् पुरुष सत्वगुणकी संपत्ति प्राप्त करनेका सदा यत्न करता रहता है। वह काया, वाचा और मनसे साधु तथा ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करता है; वह सद्गुरुको शरणागत होकर अपने शुद्ध-भावको दृढ़ करता है और सदा साधु-समागममें रह कर परमात्म तत्त्वको भली भाँति समझ लेनेका यत्न

करता है। अध्यात्म-शास्त्रका यथार्थ विचार करके वह इसी बातकी निरंतर चिंता करता रहता है कि मैं इस भव-सागरसे कैसे पार होऊँगा। साधु-समागम, सच्छास्त्र-श्रवण और अध्यात्म-विचारसे उसके मनमें पूर्ण वैराग्य छा जाता है।

विचारणा नामक दूसरी ज्ञान-भूमिकाका लक्षण यह है:—

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारे प्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जो मनुष्य साधन-चतुष्टय-संपन्न, वैराग्यवान्, और अनन्य भावसे सद्गुरुको शरणागत होता है वह ज्ञानकी दूसरी भूमिकाका अधिकारी होता है। सद्गुरुकी शरणमें किस तरह जाना चाहिए सो सुनिए:—

तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

—मुंडकोपनिषद्।

अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिकी जिसकी इच्छा है उस शिष्यको अपने हाथमें समिधा लेकर ब्रह्म-निष्ठ तथा श्रोत्रिय गुरुकी शरणमें जाना चाहिए। और भी लिखा है:—

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मपरे च समाश्रयम् (?)॥

—श्रीमद्भागवत।

जिसको अपने उत्तम कल्याणके प्राप्तिकी जिज्ञासा है उसको गुरु-चरणोंका आश्रय करना चाहिए। वह गुरु अध्यातम-शास्त्रमें निष्णात हो और उस परब्रह्म-स्थितिका अनुभवी हो, जो शाब्दिक ज्ञानके भी परे है। जब तक सद्गुरु-चरणोंका आश्रय नहीं मिलता तब तक मनुष्यको अध्यात्म-शास्त्रके ज्ञानके विषयमें अंध समझना चाहिए। यथार्थमें गुरुके सिवाय और कोई भी उपासना करनेके योग्य नहीं है। जो सद्भावसे सद्गुरुकी सेवा करते हैं वही परम कल्याणकारक पदके अधिकारी होते हैं।

सज्जनोंका सहवास और गुरु-भजन करके गुरुके मुखसे महा-वाक्यका निरूपण सुनना चाहिए और असंभावनादि दोषोंका नाश करनेके लिए वेदान्त-शास्त्रके सिद्धान्तोंका चिंतन और मनन करना चाहिए। इस प्रकार विचार करते करते अंतःकरण विषयोंसे विरक्त हो जाता है और सदाचारकी प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है।

जो सत्पुरुष दूसरी भूमिकामें रहता है उसकी वृत्तिमें उक्त सब लक्षण देख पड़ते हैं। अद्वैत ब्रह्म-निरूपणका तात्पर्यार्थ ग्रहण करनेके लिए वह सदा उत्सुक रहता है। केवल इसी विषयकी चर्चा सुनने और उसी विषयका मनन करनेमें उसको आनंद प्राप्त होता है। इस लिए सब बाह्य वस्तुओंका संग त्याग करके वह एक सद्गुरुकी संगतिको दृढ़तासे धरे रहता है। उसके हृदयमें नित्यानित्य-विवेक-बुद्धि सदा जागृत रहती है। इस जागृतिका लक्षण भगवद्गीतामें इस प्रकार कहा है—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अर्थात् जब सब लोग सोते रहते हैं तब ज्ञानी पुरुष जागृत रहता है और जब सब लोग जागृत रहते हैं तब वह निद्रिस्त रहता है। यहाँ निद्रिस्त शब्दका साधारण अर्थ निद्रा-वश होना नहीं है। इसका अर्थ बहुत गूढ़ है। सांसारिक जन जिन प्रापंचिक विषयोंमें आसक्त होते हैं (अर्थात् जिन विषयोंके संबंधमें वे निद्रिस्त या अज्ञानी होते हैं) उनके संबंधमें ज्ञानी पुरुष अनासक्त रहता है (अर्थात् जागृत रहता है); और जिन बातोंको अज्ञानी संसारी लोग क्षुद्र मानते हैं उन्ही बातों पर ज्ञानी पुरुषका विशेष प्रेम होता है। ज्ञानी पुरुषकी जागृतिका यही लक्षण है। जिसमें यह लक्षण पूर्ण-रीतिसे पाया जाता है उसको विचारणा नामक दूसरी भूमिकाका सिद्ध या ज्ञानी समझना चाहिए।

तनुमानसा—नामक तृतीय ज्ञान-भूमिकाका लक्षण यह है:—

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिंद्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है:—शुभेच्छा और विचारणाके दृढ़ अभ्याससे इंद्रिय-संबंधी सब विषयोंमें विरक्तता प्राप्त हो जाती है। इस दशामें मन अत्यंत सूक्ष्म हो जाता है, इस लिए उसको तनुमानसा कहते हैं। प्रथम दो भूमिकाओंमें श्रवण और मननका अभ्यास किया जाता है। जब यह अभ्यास पूरा हो जाय तब सच्छिष्यको निदिध्यासन करना चाहिए। निदिध्यासनसे मन क्षीण होता है—विषयोंसे विरक्त होकर आत्मानु-संधान करनेके योग्य हो जाता है। अध्यात्म-शास्त्रके निश्चित महा-वाक्यों (तत्त्वमसि इत्यादि) का ब्रह्मात्म पर तथा स्वयं-ज्योति पर अर्थ लगानेमें जिनकी विमल बुद्धि सदा तत्पर रहती है उन्हें तनुमानसा-भूमिकामें जानना चाहिए।

प्रथस दो भूमिकाओंका उपयोग केवल बुद्धिकी शुद्धताके लिए होता है। जीवन्मुक्त पुरुष देहादिक विजातीय प्रपंचसे विरक्त होकर अपनी बुद्धिको सावधानता-पूर्वक परब्रह्मके स्वरूपमें सदा लीन करता है। उस अवस्थामें उसको इस बातका भी स्मरण नहीं रहता कि मैं ध्याता हूँ और परब्रह्म मेरा ध्येय है—परब्रह्म-स्वरूपमें उसकी ऐक्यता हो जाती है और वह आत्म-सुखमें निमग्न हो जाता है। इसी अभ्यासका नाम **निदिध्यासन** है। जब इस प्रकार अभ्यास करते करते द्वैतका पूर्ण अभाव हो जाता है और मन तथा बुद्धि-सहित अहंकार परमात्म-स्वरूपमें पूर्ण-रीतिसे लीन हो जाता है तभी साक्षात्कारका अनुभव होता है। इस भूमिका (तनुसानसा) में न्यूनता केवल इतनी ही है कि बुद्धि कुछ समय तक आत्म-स्वरूपमें लीन रहती है; परंतु जब वहाँसे उसका उत्थान होता है तब देहादिक विजातीय प्रपंचका फिर पूर्ववत् स्फुरण होने लगता है। जब ऐसा होने लगता है तब ज्ञानी-पुरुष सावधान होकर देहादि विजातीय प्रपंचसे मनको हटा कर बुद्धिको बल-पूर्वक परब्रह्म-स्वरू-पमें लीन करनेका यत्न करता है। इस प्रकार बार-बार यत्न करनेकी

क्रियाको निदिध्यासन कहते हैं और इस निदिध्यासनावस्था हीका नाम तनुमानसा है । मनकी तनुता (क्षीणता) से प्रपंचका अनुसंधान नष्ट हो जाता है और बुद्धि ब्रह्म-रूप हो जाती है। प्रपंचके भिन्न भिन्न अनेक पदार्थोंमें निमग्न रहना ही मनकी पुष्टता कहाती है और जब उस प्रपंचका अनुसंधान छूट जाता है तब मनकी क्षीणता व्यक्त होती है । तीसरी ज्ञान-भूमिकामें रहनेवाले सत्पुरुषमें यही लक्षण देख पड़ता है ।

अब प्रश्न यह है कि शुभेच्छा और विचारणा पर आरूढ़ हो जाने पर भी असंभावना और विपरीत-भावना क्यों उत्पन्न होती है ? इन भावनाओंसे साक्षात्कारमें विघ्न उपस्थित होता है । तब शिष्यको श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंका फिरसे अभ्यास करना पड़ता है । इस प्रश्नका समाधान यह है कि यद्यपि सद्गुरु परब्रह्मके स्वरूपका बोध करा देता है तथापि साधकके अंतःकरणमें पूर्व-जन्म तथा इस जन्मके अनेक संस्कारोंके कारण उक्त भावनाओंको प्रवेश करनेका अवसर मिल ही जाता है । अत एव यह जानना आवश्यक है कि जिन संस्कारोंके कारण ये विघ्नकारक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं उनके लक्षण क्या हैं और किन किन उपायोंसे उनका नाश किया जा सकता है ।

साक्षात्कारमें विघ्न उपस्थित करनेवाली असंभावना और विपरीत-भावनाके चार लक्षण हैं:—(१) विषयासक्ति, (२) प्रज्ञा-मांद्य, (३) कुतर्क और (४) विपर्ययाग्रह । इन विघ्नोंका निवारण करनेके लिए शम, दम, श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही मुख्य उपाय हैं। देखिए,

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद् दृढीभवेत् ।
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥

—योगवासिष्ठ ।

जब विषयासक्तिके कारण साक्षात्कारमें विघ्न होने लगे तब शम-दमादि साधनोंका अवलंब करके बार-बार वही अभ्यास करना चाहिए ।

इस उपायसे विषयासक्तिका नाश हो जायगा । प्रज्ञा-मांद्यसे बहुत हानि होती है । इसीके कारण मन कभी निश्चल नहीं होता । इससे प्रमाणा-संभावना उत्पन्न होती है । सब पदार्थोंमें वेद और सद्गुरु प्रमाण-भूत माने जाते हैं; परंतु प्रज्ञा-मांद्यके कारण इनके संबंधमें भी असंभावना अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है । तब वह कहने लगता है कि वेद या सद्गुरुको सत्य माननेके लिए क्या प्रमाण है ? वह सद्गुरुको केवल मनुष्य-रूप और वेदको केवल शब्द-रूप देखने लगता है । इस प्रकार प्रज्ञाकी मंदताका नाश करनेके लिए सच्छास्त्र-श्रवण करना चाहिए और श्रवण किये हुए तत्त्वोंके विषयोंमें मनन करना चाहिए । इस उपा-यसे प्रज्ञा-मांद्यका लय हो जायगा । तीसरा विघ्न कुतर्क है । इससे प्रमे-यासंभावना उत्पन्न होती है, जो सर्वस्वका नाश कर सकती है । जिस महा-वाक्यको प्रमाण मान कर सब प्रमेयोंकी पूरी तरह जाँच की जाती है वही आदि प्रमेय ब्रह्म है । प्रमेय शब्दका अर्थ यह है—यत् प्रमीयते तत् प्रमेयं; अर्थात् जिसका यथार्थ ज्ञान होता है उसे प्रमेय कहते हैं; ब्रह्म इसी प्रकारका है । अब यदि यह शंका की जाय कि इसके लिए प्रमाण क्या है, तो उसे कुतर्क कहेंगे । अनेक साधनोंका अभ्यास करने पर भी जो ब्रह्म-पद किसीको प्राप्त नहीं होता वह मुझे क्यों कर प्राप्त हो जायगा । इस प्रकारके कुतर्कसे साक्षात्कारमें विघ्न उत्पन्न होता है । इस विघ्नका नाश करनेके लिए यही उपाय है कि भाँति भाँतिकी युक्ति-योंसे रात-दिन ब्रह्म-स्वरूप हीका चिंतन करना चाहिए । यद्यपि सूक्ष्म दृष्टिसे युक्तियोंका अवलंब किया जाय तो निस्सन्देह पूर्णावस्थाकी प्राप्ति हो जायगी । इस उपायसे स्व-स्वरूपका बोध होने लगेगा । इसीसे यह भी अनुभव होगा कि मेरी और ब्रह्मकी एक-रूपता है । जब यह अनुभव दृढ़ हो जायगा कि स्वयं मैं ब्रह्म हूँ तब अन्य प्रकारके सब अनुभव व्यर्थ प्रतीत होंगे । इसके बाद चौथा विघ्न विपर्ययाग्रह है ।

देहादि विजातीय प्रपंचका सर्वथा भास होना ही विपर्ययाग्रहका मुख्य लक्षण है। जब इस प्रकारकी प्रापंचिक भावना होने लगती है कि यह देह ही आत्मा है और धन, दारा, सुत आदि सब मेरे हैं अर्थात् जब चित्त प्रपंचाकार हो जाता है, तब आत्म-साक्षात्कार होना असंभव है। ऐसी दशामें निदिध्यासन हीका बार-बार अभ्यास करना चाहिए। विपरीत-भासका त्याग करके अंतःकरणको आत्म-स्वरूपमें लीन करना ही निदिध्यासनका मुख्य हेतु है इस उपायका अवलंब करनेसे विपरीत-भावना नष्ट हो जाती है, आत्म-स्वरूप प्रकट होता है और साक्षात्कारका परमानंद प्राप्त होता है।

जो सत्पुरुष सदा निदिध्यासनमें लगा रहता है उसको ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें स्थित जानना चाहिए। अब इस बातका विचार करेंगे कि वह सत्पुरुष अपना समय किस प्रकार व्यतीत करता है और उसका बर्ताव किस प्रकार होता है। उसको साधु-समागम और अध्यात्म-शास्त्रके श्रवण तथा मननके सिवाय और कोई वस्तु प्यारी नहीं लगती। वानप्रस्थ और तपस्वी जनोंके आश्रममें रह कर अनेक प्रकारकी तपश्चर्या करके जो लोग विश्राम-स्थान पर पहुँच गये हैं—जो लोग परब्रह्ममें लीन हो गये हैं—उन्हें अध्यात्म-निष्ठ ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। ऐसे साधु पुरुषोंके मुखसे अध्यात्म-शास्त्रका निरूपण सुननेसे निदिध्यासनकी सफलता होती है। अध्यात्म-शास्त्रमें इसी विषयकी चर्चा रहती है कि संसारसे निःशेष निवृत्ति कैसे होगी। इस लिए इसके श्रवण तथा मननसे अंतःकरणमें संसारके विषयमें विरक्ति उत्पन्न होती है; इंद्रियाँ अपने अपने विषयोंसे पराङ्मुख होने लगती हैं; और अंतमें ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। अत एव तीसरी भूमिकामें रहनेवाले सत्पुरुष सदा साधु-समागम करते और अध्यात्म-शास्त्रके श्रवणमें अपना समय व्यतीत करते हैं। इन लोगोंको एकांत-वास और अरण्य-वास बहुत प्रिय होता है।

तनुमानसा-भूमिका ज्ञान और विवेकके अभ्यासकी सीमा ही है। इस अवस्थामें असंगता पूर्ण-रीतिसे प्रकट हो जाती है। असंगता दो प्रकारकी है—पहली साधारण अंसगता और दूसरी श्रेष्ठ असंगता। जिस मनुष्यमें साधारण असंगता होती है वह यह विचार करता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ; क्योंकि क्रिया और कर्तृत्व दोनों अहंकारसे उत्पन्न होते हैं। जिसने अहंकारका नाश कर डाला है उसको कर्तव्यताकी बाधा हो नहीं सकती।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

—भगवद्गीता।

अर्थात् जिस क्रियाका आचरण अहंकार-रहित होता है उससे कर्तापनका भाव कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। अहंकारके बिना पाप या पुण्यका भाव जागृत नहीं होता। इसी तरह जिस पुरुषमें साधारण असंगता होती है वह यह समझता है कि मैं भोक्ता भी नहीं हूँ; क्योंकि भोग और भोक्तृत्व दोनों अहंकार हीके फल हैं। अहंकार-रहित स्थितिको ज्ञान कहते हैं। ऐसा मनुष्य सदा तृप्त रहता है—वह किसी विषयमें आसक्त नहीं होता। साधारण असंगताका यही लक्षण है। अब यह देखना चाहिए कि श्रेष्ठ असंगता किसे कहते हैं। पूर्वोक्त अभ्याससे खल-संगका त्याग और साधु-संगका स्वीकार करके जो पुरुष आत्म-विचारके प्रयोगकी सिद्धि प्राप्त करता है—जिसको मुख्य वस्तु अर्थात् ब्रह्मका साक्षात्कार होता है—वह यह समझता है कि सब कर्माकर्म देह-प्रारब्धके अधीन हैं, मैं स्वयं ब्रह्म-स्वरूप हूँ, इस लिए मैं किसी कर्मका कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। इस प्रकार शांत-वृत्तिसे सदा ब्रह्म-स्वरूपमें निमग्न रहना ही श्रेष्ठ असंगताका लक्षण है। इसीको स्वरूप-स्थिति भी कहते हैं।

जो पुरुष उक्त दोनों प्रकारकी असंगतासे युक्त होता है वही ज्ञानकी तीसरी भूमिकाका अधिकारी है। ऐसे सत्पुरुषका चित्त सदा शांत और

निर्मल होता है । उसे संतोषकी प्रतिमा ही समझिए । उसे किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती । वैराग्य-पुष्पोंसे लदा हुआ और विवेक-फलोंसे सुशोभित मानो वह ज्ञानका कल्पवृक्ष ही है ।

शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा नामक प्रथम तीन भूमिकाएँ जागृति-स्थानमें मानी जाती हैं। और सत्त्वापत्ति नामक चौथी भूमिकाको स्वप्न-स्थानमें समझते हैं । प्रथम तीन भूमिकाएँ साधन-क्रममें गिनी जाती हैं; चौथी भूमिकासे सिद्धावस्थाका आरंभ होता है ।

चौथी भूमिका (सत्त्वापत्ति) का लक्षण यह हैः—

तृतीयभूमिकाभ्यासाच्चित्तेर्थविरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनिस्थिते शुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता ॥

—योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थ यह हैः—तृतीय भूमिकाके दृढ़ अभ्याससे सम्पूर्ण अनात्म पदार्थोंके विषयमें चित्त उदासीन हो जाता है; और जब चित्त विषयोंसे पराङ्मुख हो जाता है तब वह अत्यंत प्रसन्न होकर परब्रह्ममें लीन हो जाता है । यह नियम है कि जब मन विषयोंसे विरक्त होने लगता है तब उसकी एकाग्रतासे अज्ञानका आप-ही-आप नाश होता जाता है और अंतमें उसकी विषयाकारता बिलकुल नष्ट हो जाती है । ऐसी अवस्थामें अर्थात् जब मनमें बाह्य पदार्थोंका स्मरण तक नहीं होता तब मन वृत्ति-सहित लीन हो जाता है और स्वसंवेद्य आत्म-सुखका अनुभव होने लगता है । उक्त श्लोकमें सत्व शब्दसे परब्रह्म ही उपलक्षित है । वहीं पर मन स्थिर होकर शांत हो जाता है । इस लिए इस अवस्थाको सत्त्वापत्ति कहते हैं । इस अवस्थामें रहनेवाले साधु पुरुषोंका वर्णन इस-प्रकार किया गया हैः—

सम्यग्ज्ञानोदये चित्ते पूर्णचंद्रोदयोपमे ।
निर्विभागमनाद्यन्ते योगिनो युक्तचेतसः ॥

समं सर्वं प्रपश्यंति चतुर्थी भूमिकां गताः ।
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ॥
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः ॥
—योगवाशिष्ठ ।

अर्थात् जब सम्यग्ज्ञानका उदय होता है तब चित्त बहुत प्रसन्न होता है । निर्विभाग और आदि-मध्यांत-विहीन स्वयं-ज्योतिमें रममाण होनेवाले योगीजन इस संसारके सब पदार्थोंको समभावसे देखते हैं । उनकी अद्वैत भावना स्थिर हो जाती है—द्वैत-भावका नाम निशान तक नहीं रहता । इस जगत्के सब व्यवहार उन्हें स्वप्नके समान प्रतीत होते हैं ।

सत्वापत्ति ज्ञानकी मुख्य भूमिका है । पाँचवींसे सातवीं भूमिका तक निर्विकल्पताका आभ्यास किया जाता है, इस लिए इन तीनों भूमिकाओंको सुषुप्तिके समान मानते हैं; क्योंकि इनमें विश्वका कुछ स्मरण ही नहीं होता ।

पाँचवीं भूमिकाका नाम **असंसक्ति** है । जब प्रथम चारों भूमिकाओंका अभ्यास दृढ़ हो जाता है तब इस भूमिकामें साधुजन ब्रह्मानंदका उपभोग करते हैं । उन्हें किसी प्रकारकी फलाशा नहीं रहती । किसीका भी संसर्ग न होना ही असंसक्ति है । इस अवस्थाका लक्षण यह है:—

गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽतः प्रतापवान् ।
सुषुप्तघन एवास्ते पंचमीभूमिकां गतः ॥
अंतर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रांततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥
—योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थ यह है—जब द्वैत-भावकी स्फूर्ति नहीं होती और केवल अद्वैत-भाव ही स्थिर हो जाता है तब योगीजनोंका हृदय स्वानु-

भवसे प्रफुल्लित होकर सुषुप्तिके समान ब्रह्मानंद-सागरमें लीन हो जाता है। बाहरसे यदि देखा जाय तो उनके सब लौकिक व्यवहार यथावत होते रहते हैं और वे परम शांतिमें निमग्न रहते हैं। जैसे किसी निद्रिस्त मनुष्यसे कुछ काम करानेके लिए उसको जगाना पड़ता है वैसी ही योगीजनोंकी स्थिति होती है। बाहरसे देखनेवालोंको वे अपने लौकिक कार्यों हीमें जागृत देख पड़ते हैं—ऐसा जान पड़ता है कि वे साधारण मनुष्योंकी तरह अपने बाह्य व्यवहारों हीमें निमग्न हैं—परंतु यथार्थमें उनकी इंद्रिय-वृत्तियाँ विषयोंसे पराङ्मुख होकर अंतर्मुख हो जाती हैं, इस लिए वे अंतस्थ रीतिसे अत्यंत शांत और केवल सुख-रूप रहते हैं। इस अवस्थामें वे सब पदार्थोंका निरास करके शेष सत्ता मात्र केवल निरंजन वस्तुके ध्यानमें निमग्न रहते हैं, इस लिए उन्हें प्रपंचका भान नहीं होता। इसीको असंसक्ति कहते हैं।

अब ज्ञानकी छठी भूमिकाका वर्णन करेंगे। इस भूमिकाको **पदार्थाभाविनी** कहते हैं। पूर्वोक्त पाँच भूमिकाओंके दृढ़ अभ्याससे केवल आत्म-स्वरूपमें रममाण होते होते योगीकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि उसको किसी अन्य पदार्थका भान ही नहीं रहता, इस लिए इस अवस्थाको पदार्थाभाविनी कहते हैं। मन और बुद्धि-सहित अहंकार उसी आत्म-स्वरूपमें लीन हो जाता है; काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर, दंभ आदि कोई विकार उसके शुद्ध अंतःकरणको स्पर्श तक कर नहीं सकते; और घट-पटादि किसी दृश्य पदार्थका उसको स्मरण भी नहीं होता। ऐसी अवस्था जब प्राप्त होती है तब योगी ब्रह्मानंदमें डूब जाता है। इस अवस्थाका वर्णन इस प्रकार किया गया हैः—

यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतैक्यमागतः॥
निर्ग्रंथिः शांतसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः॥

अंतः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे।
अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—जो योगी ज्ञानकी छठी भूमिका पर आरूढ़ होता है वह न तो असद्रूप होता है और न सद्रूप होता है। इसका कारण यह है कि जब हम उसको संसारके सब कार्य करता हुआ देखते हैं तब हम उसको असद्रूप कह नहीं सकते और जब कि उसका अंतःकरण सदा निर्मल तथा वासना-रहित रहता है और किसी प्रकारके व्यवहारमें उसका चित्त लिप्त नहीं होता तब हम उसको सद्रूप भी नहीं कह सकते। यद्यपि बाहरसे देखनेवालोंको वह देहधारी देख पड़ता है तथापि सचमुच वह विदेही अवस्थामें रहता है, इस लिए उसको अहंकार-रहित कहना चाहिए। परंतु हम देखते हैं कि वही देहेन्द्रियोंका प्रवर्तक भी है, इस लिए उसको अहंकार-रहित कह नहीं सकते। तब यह प्रश्न उठता है कि वह किस स्थितिमें रहता है? इसका उत्तर यही है कि उसका मन संकल्प-विकल्पातीत होकर परमात्मामें लीन हो जाता है—अद्वैत स्थितिमें उसकी पूर्ण ऐक्यता हो जाती है। उसकी चित्-आचित्-ग्रंथि छूट जाती है अर्थात् चित् और आचित्का भेद-भाव वह पूरी तरह जान लेता है और सब प्रकारके संदेहोंसे मुक्त हो जाता है। यथार्थमें इसी प्रकारके योगीको जीवन्मुक्त कहते हैं। उसकी अहंभावना बिलकुल नष्ट हो जाती है और वह सदा वासना-रहित रहता है, इस लिए देहधारी होने पर भी उसको मुक्त ही जानना चाहिए। यह बात समझानेके लिए उक्त श्लोकमें चित्रके दीपकका दृष्टान्त दिया गया है। यद्यपि किसी चित्रमें दीपकका आकार अन्य दीपकोंके समान ही देख पड़ता है तथापि उसकी ज्योति सदा स्थिर और निश्चल रहती है। इसी तरह यद्यपि योगी साधारण लोगोंकी नाईं देहेन्द्रियोंसे सब व्यावहारिक कार्य करता

हुआ देख पड़ता है तथापि उसका अंतःकरण आत्म-स्वरूपमें सदा स्थिर और निश्चल रहता है। इस प्रकारके जीवन्मुक्त पुरुषके विषयमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी कल्पना करना अज्ञ-जनोंका भ्रम है। वस्तुतः जीवन्मुक्त पुरुषका अंतःकरण वासना-राहित होता है और उसके बाह्य व्यवहार भी देहादि संबंधी अहंकारसे अलिप्त होते हैं, इस लिए शून्य आकाशमें रक्खे हुए रीते घड़ेके समान वह बाहर और भीतर शून्यवत् ही होता है। इसी तरह उसका चित्त सदा परब्रह्ममें निमग्न रहता है और सब बाह्य पदार्थोंमें उसको केवल परब्रह्म ही देख पड़ता है, इस लिए भरे समुद्रमें डुबाये हुए घड़ेके समान वह अंतर्बाह्य सर्वत्र परिपूर्ण रहता है। जिस महात्माकी इस प्रकारकी स्वरूप-स्थिति होती है उसको ज्ञानकी छठी भूमिका पर आरूढ़ जानना चाहिए।

तुर्यगा अथवा **तुर्यावस्था** सातवीं भूमिकाका नाम है। जब पदार्थाभाविनी अवस्थामें पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो जाती है तब उसीको तुर्या कहते हैं। इस अवस्थामें किसी प्रकारका कर्तव्य शेष नहीं रहता; इसमें साधु पुरुषको अखंड स्वरूपानंद प्राप्त होता है; इसमें द्वैत-भावनाका स्पर्श तक नहीं होता। इस अवस्थाको एक प्रकारकी सुषुप्ति ही कहना चाहिए। पाँचवीं और छठी भूमिकाओंको अर्धोन्मीलिका कहते हैं। तुर्यावस्था ही विदेह-मुक्ति कहलाती है। मृत्यु-लोकमें मनुष्यकी इति कर्तव्यता यही है। आर्य-माताके उज्ज्वल अलंकार-रूप वामदेव, शुक, सनक, जड़भरत, जनक, व्यास, वसिष्ठ आदि सब लोग इसी अंतिम अवस्थाको पहुँचे हुए हैं। इस अवस्थाको सहज-स्थिति भी कहते हैं। इस अवस्थामें योगी चाहे कोई कर्म करे या न करे, स्वरूप-स्थितिसे वह क्षणभर भी च्युत नहीं होता। वह कर्माकर्मके परे हो जाता है। जब तक देह है तभी तक जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है। देह-पात होते ही विदेह-मुक्ति प्राप्त होती है। इन दोनोंमें जीवनन्मुक्ति श्रेष्ठ मानी जाती

है । क्योंकि देह-संगके रहते हुए विदेही अवस्थाका अनुभव प्राप्त करना अधिक पूर्णताका लक्षण है । जीवन्मुक्त पुरुषको देह-त्यागके बाद और क्या अधिक मिलनेवाला है? देहके रहते हुए उसके ब्रह्मत्वमें क्या न्यूनता है? कुछ नहीं । जीवन्मुक्त पुरुष विदेहावस्थाकी आशामें बैठा नहीं रहता । देहके रहते हुए भी उसको कर्माकर्मोंकी बाधा नहीं होती; क्योंकि अपरोक्ष साक्षात्कारके कारण वह स्वयं निर्विकार और ब्रह्म-रूप हो जाता है । देखिए—

अद्यैव मरणं वाऽस्तु कल्पकोटिलयेऽथवा ।
तज्ज्ञः कलंकं नाप्नोति हेम पंकगतं यथा ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जीवन्मुक्तके शरीरका अंत चाहे इसी क्षण हो जाय या कोटि कल्पके बाद हो, उससे उसको न तो कोई लाभ है और न कुछ हानि है । वह निरंतर ब्रह्म-रूप ही है । यह बात तो है ही नहीं कि यदि उसका शरीर चिर काल बना रहेगा तो उसको पाप लगेगा या कर्तृत्वका भागी होना पड़ेगा और यदि उसका शरीर शीघ्र ही छूट जायगा तो उसको पाप न लगेगा या कर्तृत्वका भागी न होना पड़ेगा । सारांश यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष देहके रहते हुए या देहके छूट जाने पर—दोनों अवस्थाओंमें—केवल ब्रह्म-रूप ही है ।

उक्त विवेचनसे यह बात मालूम हुई कि ज्ञानकी सातवीं भूमिकामें पहुँचा हुआ योगी देहधारी होकर भी विदेही ही है । यद्यपि देह-रूपसे प्रपंचमें रह कर वह अनेक कर्म करता है तथापि साक्षि-रूपसे वह निःसंग बना रहता है । इसके लिए शुद्ध सुवर्णका दृष्टाँत दिया गया है । यदि शुद्ध सोना कीचड़में पड़ा रहे तो भी वह अशुद्ध नहीं होता । और भी दृष्टांत दिये जा सकते हैं । कमल-पत्र जलमें रह कर उससे अलिप्त रहता है । मेघ या धूम्रसे आच्छादित होने पर भी आकाश निर्मल बना रहता

है। इसी तरह जीवन्मुक्त पुरुष देहके रहते हुए और देह-संबंधी सब व्यवहार करते हुए देहातीत हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वे सदा आत्म-स्वरूपमें निमग्न रहते हैं। "तज्ज्ञः कलंकं नाप्नोति" इस वचनमें तत् शब्दसे पूर्ण-ब्रह्मका बोध होता है। जो पूर्ण-ब्रह्मके अनुभवमें सदा निमग्न रहता है उसीको तज्ज्ञ कहते हैं। ऐसे ब्रह्मज्ञ पुरुषको देहकी संगतिसे किसी प्रकारकी मलिनता नहीं आती—वह किसी प्रकार कलंकित नहीं होता। जीवन्मुक्त पुरुषके शरीर-द्वारा चाहे सत्कर्म हो या असत्कर्म हो, उसके शरीरका पतन चाहे तीर्थस्थानमें हो या किसी चांडालके घरमें हो, उसको किसी बातकी परवा नहीं होती। इस बातके लिए यह वचन प्रमाण है:—

तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेथवा।
ज्ञानसंप्राप्ति समये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् ज्ञानी पुरुषका शरीर चाहे काशीमें छूटे या चांडालके घरमें छूटे, उसको किसी बातकी बाधा नहीं होती। वह स्वयं-प्रकाश और अद्वैतानंद स्थितिमें निमग्न रहनेके कारण सदा मुक्त ही है। सत्संगति या सदाचरणसे उसमें कुछ बड़प्पन नहीं आ जाता और असत्संति या असदाचरणसे उसकी ब्रह्म-स्थितिमें कुछ हानि नहीं होती। वह तो सदा देहातीत और केवल साक्षि-रूपसे रहता है। शुभ और अशुभकी प्राप्ति केवल उसीको हो सकती है जो देह हीको आत्मा मानता है—जिसकी देह-बुद्धि जागृत है—जिसका द्वैत-भाव नष्ट नहीं हुआ है। जीवन्मुक्त पुरुष ज्ञानकी सातवीं भूमिकामें इन सब बातोंके परे हो जाता है।

जब तुर्यावस्थामें ज्ञानकी पूर्णता हो जाती है और साधक सब प्रकारसे मुक्त हो जाता है तब उसकी वासनाएँ शांत हो जाती हैं और उसका मन आत्म-स्वरूपमें लीन हो जाता है। मनका मनपना नष्ट होते

ही ज्ञानी पुरुष सब प्रकारकी आशाओंके पाशसे मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्थामें मनके रहते हुए भी वह मन-रहित होता है, कानोंके रहते हुए भी वह श्रवण-रहित होता है, नेत्रोंके रहते हुए भी वह नयन-हीन होता है और चरणोंके रहते हुए भी वह चरण-हीन होता है। तुर्यावस्थामें रहनेवाले जीवन्मुक्त पुरुषके लिए सब दृश्य पदार्थोंका अस्तित्व नास्तिके समान हो जाता है अर्थात् वह कर्ता होकर भी अकर्ता हो जाता है और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हो जाता है। वह सदा इसी भावनामें निमग्न रहता है कि "आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि" अर्थात् वह सर्वत्र आप-रूप हो जाता है। सारांश यह है, जब कि जीवन्मुक्त पुरुष देहके रहते हुए ही स्वयं ब्रह्म-रूप हो जाता है तब देहांत हो जाने पर वह और क्या अधिक होगा? कुछ नहीं। जिस प्रकार देह रहते हुए ही वह स्वयं ब्रह्म-रूप है उसी प्रकार देहान्त हो जाने पर भी वह ब्रह्म-रूप ही होता है। उसमें किसी प्रकारकी न्यूनाधिकता नहीं होती। अत एव देहके रहते हुए और विदेही अवस्थामें जीवन्मुक्त पुरुषका एक ही स्वरूप रहता है—वह कदापि भिन्न नहीं हो सकता।

जीवन्मुक्त पुरुषके संबंधमें जब हम कहते हैं कि देहके रहते हुए ही वह ब्रह्म-रूप हो जाता है और देह-संबंधी कोई विकार उसमें उत्पन्न नहीं होते, तब स्मरण रहना चाहिए कि "हो जाता है" पदका उपयोग केवल औपचारिक रीतिसे किया गया है। इसका कारण यह है कि जो ब्रह्म स्वयं-सिद्ध है उसके विषयमें "हो जाता है" कैसे कहा जाय? श्रुतिका भी यही वचन है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। विमुक्तः सन् विमुच्यते'। अर्थात् वह पहले हीसे ब्रह्म-रूप होकर फिर ब्रह्म हो जाता है, पहले हीसे मुक्त होकर फिर मुक्त हो जाता है। अत एव जीवन्मुक्तके विषयमें यह कहना केवल औपचारिक है कि वह ब्रह्म-रूप "हो जाता

है।" ब्रह्म सदा ज्योंका त्यों बना रहता है। उसके विषयमें होना, जाना आदि क्रिया असंभव है। अत एव जीवन्मुक्त पुरुषकी ब्रह्म-स्थिति स्वयं-सिद्ध होती है।

इस प्रकारके जीवन्मुक्त पुरुषमें यह लक्षण पाया जाता है:—

गोष्पदं पृथिवी मेरुः स्थाणुराकाशमुद्रिका।
तृणं त्रिभुवनं राम नैराश्यालंकृताकृतेः ॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् वह सब विषयोंके संबंधमें विरक्त होनेके कारण पृथ्वीको गोष्पदके समान, मेरु पर्वतको स्तंभके समान, आकाशको मुद्रिकाके समान और त्रिभुवनको तृणके समान मानता है। जीवन्मुक्त पुरुषके और भी लक्षण कहे गये हैं—

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यांतर्वस्तुदृष्टिषु।
चरेत्सुषुप्त इव यः स मुक्त इति कथ्यते ॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् संसारमें सब साधारण लोगोंकी बाह्य दृष्टि होती है; परंतु जीवन्मुक्त पुरुषकी अंतर्दृष्टि होती है। वह निरंतर आत्म-विलास हीमें निमग्न रहता है। उसके लिए न तो कोई पदार्थ इष्ट है और न कोई अनिष्ट है। जब कोई वस्तु अपनेसे भिन्न मालूम होती है तभी उसकी इष्टता प्रतीत होती है और उसके विषयमें आदर-बुद्धि उत्पन्न होती है; और जब उस इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली कोई वस्तु भिन्न मालूम होती है तब उसकी अनिष्टता प्रतीत होती है तथा उसके संबंधमें द्वेष-बुद्धि जागृत होती है। परंतु जीवन्मुक्त पुरुषको सारे ब्रह्माण्डमें, अंतर्बाह्य और सर्वत्र, आप-रूपके सिवाय और कुछ भी देख नहीं पड़ता—उसकी ज्ञान—दृष्टिसे सारा जगत् ब्रह्ममय ही देख पड़ता है। इस लिए वह सदा निरतिशय आनंदमें निमग्न रहता है। ऐसी अवस्थामें उसको इष्ट और अनिष्टका भेद-भाव प्रतीत होना केवल असंभव है।

तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष सदा इच्छा-रहित होकर निद्रिस्त मनुष्यके समान अपने सब व्यवहार करता रहता है। अज्ञानके कारण मनुष्य अपने मन, बुद्धि, चित्त और इंद्रियोंके व्यापारमें अहंभाव उत्पन्न करके कर्तृत्वकी जबाब-देही अपने ऊपर ले लेता है। इसीसे उसको सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि द्वंद्व-भावोंका परिणाम भोगना पड़ता है। यह अज्ञान आत्म-ज्ञानके बिना नष्ट नहीं हो सकता। जब अंतःकरणमें आत्मज्ञानका पूर्ण प्रकाश हो जाता है तब मनुष्य अज्ञान-जन्य अहंकारके बंधनसे मुक्त होकर केवल आत्म-स्वरूप हो जाता है। निरंतर आत्म-स्वरूप हीमें रममाण होनेवाला ज्ञानी पुरुष देहादि इंद्रियोंके व्यापारसे कदापि बन्द्ध नहीं हो सकता।

जीवन्मुक्त पुरुषका एक और लक्षण है:—

> अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः।
> तिष्ठति ध्येयसंत्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
>
> —योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—जो मनुष्य अहंकारमय सब वासनाओंका त्याग करके अंतमें ध्येय, ध्याता और ध्यानकी त्रिपुटिका स्फुरण तक अपने अंतःकरणमें नहीं होने देता वही जीवन्मुक्त है। इस बातको सब लोग जानते हैं कि जब मनमें कोई संकल्प उत्पन्न होता है तब वह अहंकारसे वेष्टित रहता है। अहंकारके बिना कोई भी वासना उत्पन्न नहीं हो सकती। अज्ञानके कारण स्वरूप-स्थित ज्ञानमें जो 'अहं' भावना उत्पन्न होती है उसीको अहंकार कहते हैं। इस अहंकार हीसे मनमें संकल्प उत्पन्न होते हैं और फिर इन संकल्पोंको पूर्ण करनेकी इच्छा होती है। उसीको काम-रूप वासना कहते हैं। जिन संकल्पोंके कारण संसार-रूप वृक्षकी वृद्धि होती है वे सब अंतमें अहंकार हीके पेटमें समा जाते हैं और जैसी वासना होगी उसीके अनुसार वे फिर उत्पन्न हुआ करते हैं।

जागृतिमें दिन भर मनुष्य अनेक प्रकारके संकल्प करता रहता है। वे सब अहंकारमें संचित हो जाते हैं और स्वप्नावस्थामें वासना-रूपसे प्रकट होते हैं। जगने पर यह अहंकार और भी प्रबल हो जाता है और पूर्व-कृत संस्कारके कारण वासनाएँ भी अत्यंत तीव्र हो जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य अहंकार-युक्त वासनाओंके अधीन होकर सदा चौरासीके चक्करमें पड़ा रहता है। इस लिए जो मनुष्य अहंकार-सहित सब वासनाओंका क्षय कर डालता है वही जीवन्मुक्त होता है।

इस बातका उल्लेख पहले किया जा चुका है कि ज्ञान-प्राप्तिका प्रथम साधन श्रवण है। श्रवण करनेसे सर्व-संग-परित्याग और स्वरूप-स्थिति होती है। जो मनुष्य आदर-पूर्वक श्रवण करता है वही मनन और निधिध्यासन भी यथोचित रीतिसे कर सकता है। श्रवण शब्दका अत्यंत महत्त्व-पूर्ण अर्थ इस वचनमें कहा गया है:—"षड्विधलिंगैः सर्वेषां वेदान्त-वाक्यानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणम्"। अर्थात् वेदान्त-वाक्योंका जो अंतिम हेतु और तात्पर्यार्थ है उसको भली भाँति समझ लेना ही यथार्थमें श्रवण करना है। प्रत्यक्ष आदि छः प्रकारके प्रमाणोंसे सब वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्यावधारण अद्वैत ब्रह्ममें होता है। यही ज्ञान सच्चा श्रवण है। इस प्रकारका श्रवण करनेके लिए एकाग्रताकी आवश्यकता है। यदि एकाग्रता न होगी तो समय व्यर्थ नष्ट होगा और श्रवणसे कोई लाभ न होगा। यथार्थमें श्रवण करनेके लिए जो आदर-बुद्धि और एकाग्रता आवश्यक है उसका स्वरूप निम्न वचनोंसे ध्यानमें आ जायगा:—

> दूरे मुंचति वधुमधमिव यः सगाद्भुजंगादिव (?)।
> त्रासं यो विदधाति वेत्ति सदृशं भोगं च रोगं च यः॥
> स्त्रैणे यस्तृणवत् घृणां प्रकुरुते मित्रेष्वमित्रेष्वपि।
> स्वान्तं यस्य समं समंगलमिहामुत्रापि मर्त्योऽश्नुते॥
>
> —योगवासिष्ठ।

भावार्थः—जो मनुष्य अपने वैराग्य-बलसे स्त्री, पुत्र, स्रक्, वित्त, बंधु, मित्र आदिका संग सर्प-संगके समान मान कर तथा स्रक-चंदनादि सब प्रकारके भोग रोग-तुल्य जान कर छोड़ देता है वही सुख पाता है। ऐसे विरक्त मनुष्यके हृदयमें विषय-भोगके संबंधमें रत्तीभर उत्कण्ठा नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही है कि वह केवल आत्म-लाभसे सदा संतुष्ट रहता है। जो मनुष्य अमृत-पानसे तृप्त हो गया है वह अन्य क्षुद्र पदार्थकी इच्छा क्यों करेगा? इसी तरह जो सत्पुरुष निरंतर परमानंदमें निमग्न रहता है वह किसी विषय-भोगकी अपेक्षा क्यों करेगा! जब कि साधन-अवस्था हीमें मुमुक्षुको विषय-भोगका त्याग करना पड़ता है तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि ज्ञान-प्राप्तिके बाद भी वह विषय-भोगोंसे विरक्त रहता है। शत्रु अथवा मित्र दोनोंको वह समान दृष्टिसे देखता है। उसके हृदयमें भेद-भावके लिए स्थान ही नहीं रहता। यही एकाग्रताका लक्षण है। जब ऐसी एकाग्रता होती है तभी श्रवण करनेकी शक्ति सफल होती है और मनन तथा निदिध्यासनका कार्य उचित रीतिसे किया जा सकता है।

जीवन्मुक्ति ही आर्यतत्त्व-ज्ञानका शिखर है। इसका जो वर्णन यहाँ तक किया गया है उस परसे यह बात ध्यानमें आ सकती है कि भरत-खंडके योगीजन ज्ञानकी किस ऊँची श्रेणी तक पहुँचे हुए थे। ऐहिक विषय-सम्पत्ति चाहे जितनी मिल जाय, परंतु उससे शाश्वत सुखकी प्राप्ति कभी हो नहीं सकती; यह सिद्धान्त आर्य लोगोंको जैसा मालूम था वैसा किसी अन्य देशके लोगोंको मालूम न था। विषय-सुखसे पराङ्मुख होकर आत्म-सुखकी ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए, यही आर्यतत्त्व-ज्ञानका उद्देश है। जब तक यह बात पूरी तरह समझमें न आ जायगी कि आत्म-सुख कुछ देहेन्द्रियोंके समाधान करनेमें नहीं है, तब तक आत्म-विद्याका महत्त्व जानना असंभव है।

जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षणोंका उपसंहार इस प्रकार किया गया है:—

अनात्मन्यात्मधीर्बंधस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
बंधमोक्षौ न विद्येते नित्यमुक्तस्य चात्मनः॥
—योगवासिष्ठ।

अर्थात् देह, इंद्रियाँ, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सब दृश्य पदार्थोंको अनात्मा कहते हैं। आत्मा स्वयं निर्विकार केवल साक्षि-रूप है। अनात्म पदार्थोंके विषयमें जो आत्म-बुद्धि उत्पन्न होती है उसीको बंधन कहते हैं। देहात्म-बुद्धिके सिवाय और कोई बंधन ही नहीं है। इसी लिए कहा है कि देहात्म-बुद्धि ही सब पापोंकी जड़ है—इससे बढ़कर और कोई पाप नहीं है; जैसे "देहात्मबुद्धिजं पापं तद्गोवधकोटिभिः" देह (अनात्मा) को आत्मा माननेसे जो पाप लगता है वैसा कोटिशः गोवध करनेसे भी नहीं लगता। इस देहात्म-बुद्धिके नाशको मोक्ष कहते हैं; और जिस स्थितिमें न तो देहात्म-बुद्धिका बंधन और न मोक्ष है वही ज्ञानकी चरम सीमा है। केवल आत्म-वस्तुके विषयमें आत्म-बुद्धिकी स्थितिको ही जीवन्मुक्तावस्था या नित्य-मुक्तावस्था कहते हैं। यही नर-देहकी सार्थकता है, यही हमारे जीवनकी सफलता है। मनुष्यके लिए इसके सिवाय और कोई इति-कर्तव्यता नहीं है।

जीवन्मुक्त पुरुषको वैराग्य, बोध और उपरमकी आवश्यकता है। ज्यों ज्यों इन तीनों गुणोंकी वृद्धि और पूर्णता होती जायगी त्यों त्यों जीवन्मुक्त स्थितिकी भी पूर्णता होती जायगी। ब्रह्मलोककी प्राप्ति होने पर भी उसको तृणके समान मानना यही वैराग्यकी परमावधि है। केवल आत्माके संबंधमें आत्म-बुद्धिकी स्थिरता होना, यही बोधकी परमावधि है। जिस प्रकार सुषुप्तिमें प्रपंचका पूर्ण विस्मरण हो जाता है उसी प्रकार अन्य अवस्थाओं (जागृति और स्वप्न) में निरंतर रहना, यही उपरमकी परमावधि है। अत एव इन तीनों गुणोंका सम्मेलन जीवन्मु-

क्तिके लिए अत्यंत आवश्यक है। इन तीनों गुणोंमें परस्पर एकता है—इनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है—ये सदा एकत्र रह सकते हैं। जब विषयोंके संबंधमें दोष-दृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब समझना चाहिए कि वैराग्यका फल प्राप्त हुआ। जब बुद्धिमें यह निश्चय स्थिर हो जाता है कि ब्रह्म सत्य और नित्य है तथा प्रपंच मिथ्या और अनित्य है, तब समझना चाहिए कि बोधका फल प्राप्त हुआ। यह बोध श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधनोंके द्वारा प्राप्त होता है। जब मनुष्य केवल आत्म-स्वरूपमें निमग्न हो जाता है और उसको किसी प्रापंचिक व्यवहारका स्मरण नहीं होता तब समझना चाहिए कि उपरमका फल प्राप्त हुआ। जब इन तीनोंकी एकता हो जाती है तब समझना चाहिए कि जीवन्मुक्तकी अवस्था प्राप्त हुई। जिस अवस्था या स्थितिको मोक्ष कहते हैं वह न तो ऊपर कहीं स्वर्ग-लोकमें है और न नीचे कहीं पाताल-लोकमें है। बाहरसे यदि त्रिभुवन ढूँढ़ लिये जायँ तो भी उसका पता नहीं लगता। परंतु सद्गुरुके मुखसे महा-वाक्यका बोध होते ही सब प्रापंचिक आशाओंका क्षय हो जाता है; वासनाओंका क्षय होते ही मनका मनपना नष्ट हो जाता है और अंतमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि वैराग्य, बोध और उपरमकी एकता हीमें मोक्ष है। इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि इन तीनों गुणोंका परिणाम एक ही समान हो। यदि इनमेंसे कोई एक गुण अधिक हो और शेष गुण कुछ न्यून हों तो भी कोई हानि नहीं; परंतु यह कदापि हो नहीं सकता कि किसी एक गुणका बिलकुल अभाव हो और शेष गुण बने रहें। जैसे सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रत्येक मनुष्यमें न्यूनाधिक परिमाणसे रहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं होता कि इनमेंसे किसी एकका अत्यंत अभाव हो जाय; वैसे ही वैराग्य, बोध और उपरमके योगका नियम है। यदि दृढ़ वैराग्य बिलकुल न हो तो बोध कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता और यदि बोध

बिलकुल न हो तो उपरमकी उत्पत्ति हो नहीं सकती; अत एव इन तीनों-की परस्पर एकताका लक्षण यह है कि यदि केवल बोध अत्यंत प्रबल होगा तो वैराग्य और उपरमका अभाव कभी हो ही नहीं सकता। इन तीनों गुणोंसे युक्त होकर जीवन्मुक्त पुरुष नित्य-मुक्त परमात्मामें लीन हो जाता है—वह स्वयं आत्माराम होकर स्व-स्वरूप हीमें रममाण होने लगता है। जीवन्मुक्त पुरुषकी इस स्थितिके विषयमें मुंडकोपनिषद्में लिखा है—"आत्मक्रीड आत्मरतिः।" इसका अर्थ श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीने उपनिषद्व्याख्यामें यह कहा है—साधक श्रुति-वचनों द्वारा आत्माके अद्वितीयत्व और स्व-प्रकाशत्वकी प्रबलता स्थापित करना और बाधक श्रुति-वचनोंसे उनकी दुर्बलता स्थापित करना। इस प्रकार जब जीवन्मुक्त पुरुष केवल आत्माराम हो जाता है तब देहात्म-बुद्धिका उसको स्मरण भी नहीं होता। उस अवस्थामें उसको बंधन और मोक्ष किसीका भी ज्ञान नहीं होता। जो महात्मा बंध और मोक्ष दोनोंके परे हो जाता है उसीको नित्य-मुक्त कहते हैं।

इस प्रकरणके उपसंहारमें यह वचन भी ध्यानमें रखने योग्य है:—

> दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
> संपन्ना चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥
>
> —योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थः—यह ज्ञान हो जाने पर कि जितना दृश्य है सब मिथ्या है, जब मन दृश्य-हीन हो जाता है तब परम सुखकी प्राप्ति और अखंडित मोक्ष-स्थिति होती है। उक्त वचनमें निर्वृत्ति शब्दसे निरतिशय सुखका अर्थ सूचित होता है; और 'मनमेंसे दृश्य पदार्थोंको निकाल डालना या मनको दृश्य-हीन करना' इस अर्थमें दृश्य-मार्जन शब्दका उपयोग किया गया है। दृश्य शब्द भी बहुत व्यापक है। इस शब्दसे सिर्फ उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञानका ग्रहण न करना चाहिए जो नेत्रे-

न्द्रिय-द्वारा प्राप्त होता है; परंतु उसमें उस सब ज्ञानका समावेश होता है जो किसी भी इन्द्रिय या मनसे प्राप्त होता है। अर्थात् स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारके दृश्य मिथ्या-भूत और दुःख-रूप हैं, अत एव यदि वे मन-मेंसे निकाल दिये जायँ तो परमानंदकी प्राप्ति होगी। इसी परमानंद-अवस्थाको निर्वाण कहते हैं, जिसका विशेष निरूपण अगले प्रकरणमें किया जायगा। दृश्य-मात्रका मनसे नाश करनेके लिए महावाक्य-विचार ही मुख्य साधन है। जब तत्पद और त्वं-पदका संशोधन गुरु-मुखसे किया जाता है और तर्कशास्त्रके आधार पर सब पदार्थोंका परिज्ञान हो जाता है तब दृश्यकी कोई बाधा नहीं होती—सब दृश्य आप-ही-आप नष्ट हो जाता है। जब साधक निर्वाण-स्थितिमें रहनेका अभ्यास करता है तब इस दृश्यसे बाधा उत्पन्न होती है, इस लिए उसका क्षय करना पड़ता है।

इस संसारमें जिसे सुख कहते हैं वह केवल आत्म-सुख ही है। यद्यपि यह सुख संसारी लोगोंको विषय-भोगसे प्राप्त होता है तथापि वह सचमुच आत्म-सुख ही है; क्योंकि सुख या आनंद केवल आत्माका धर्म है। परंतु विषय-भोगसे प्राप्त हुए सुख और शुद्ध आत्म-सुखमें भेद यही है कि विषय-भोगमें सुख दृश्य विषयोंसे संयुक्त रहता है और इसी लिए वह अत्यंत मर्यादित होता है। जब दृश्यका नाश हो जाता है तब अपरिमित सुख प्राप्त होता है। जिस स्थितिमें दृश्यका स्फुरण तक नहीं होता वहीं द्वैत-भाव गलित हो जाता है और अद्वैत सुख तथा परमानंदकी प्राप्ति होती है। उसीको शुद्ध आत्म-सुख कहते हैं। उसीको निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। यही ज्ञानकी सातवीं भूमिका है। यही निर्वाण-अवस्था है। उससे बढ़कर और कोई उत्तम अवस्था नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुष सदा उसी अवस्थामें रहता है।

जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके लिए देह-पातकी आवश्यकता नहीं है। इस

अद्भुत अवस्थाका अनुपम अनुभव इसी देहमें किया जा सकता है। योगवासिष्ठमें कहा है—" सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इहेष्यते।" अर्थात् जब सब आशाओंका नाश हो जाता है तब चित्तका भी क्षय हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो लोग वायु-निरोधसे मनका निरोध करते हैं वे कुछ समय तक सुषुप्तिके समान मूर्छनावस्थामें पड़े रहते हैं। वहाँ विवेकका नाम तक नहीं रहता। जब वह मूर्छनावस्था नष्ट हो जाती है तब मन फिरसे पहलेकी नाईं संकल्प-विकल्प करने लगता है और चित्तमें दृश्य विषयोंके तरंग फिरसे उत्पन्न होने लगते हैं। छोटे और अज्ञान बालक खेल-खेलमें दिनको रात कह कर कुछ समय तक सो जाते हैं और फिर उठ बैठते हैं। इसमें संदेह नहीं कि जब वे दिनको रात मान कर आँखें बंद कर लेते और सो जाते हैं तब क्षणभर उन्हें दृश्यकी बाधा नहीं होती—क्षणभर उनके लिए दिनका अभाव ही हो जाता है। परंतु इससे उनका क्या लाभ होता है? क्या दिनके बदले रात हो सकती है? क्या मिथ्या संकल्प करके आँखें बंद कर लेनेसे यथार्थ वस्तु प्राप्त हो सकती है? कदापि नहीं। इसी तरह इसमें संदेह नहीं कि वायु-निरोधसे कुछ समय तक मनका निरोध किया जा सकता है; परंतु उससे कुछ लाभ नहीं होता। सुषुप्तिके समय अर्थात् गहरी नींदमें मनोनिग्रह और वासनाओंका लय हर दिन आप-ही-आप हो जाया करता है; परंतु क्या इससे मुक्ति प्राप्त हो सकती है? यदि इससे मुक्ति प्राप्त हो जाती तो सब लोग रात-दिन सुषुप्तिमें ही पड़े रहते। तात्पर्य यह है कि मुक्तिकी प्राप्तिके लिए वायु-निरोध-द्वारा चित्तका निग्रह करना व्यर्थ है। विवेक द्वारा जब पदार्थ-ज्ञान संपादन करके वासनाओंका क्षय किया जाता है तब मनका क्षय आप-ही-आप हो जाता है। मनके क्षय हीको मोक्ष कहते हैं, जिसका अनुभव इसी जन्ममें और इसी देहमें हो सकता है। यही बात अन्य

शब्दोंमें इस प्रकार कही जा सकती है:—संसारी जन देहादि अनात्म पदार्थोंके विषयमें आत्म-बुद्धि या आत्म-भाव रखते हैं, इस लिए वे उन अनुकूल पदार्थोंका स्वीकार करते हैं जिनके द्वारा उन्हें सुख मिलता है और वे उन प्रतिकूल पदार्थोंका त्याग करते हैं, जिनके द्वारा उन्हें दुःख होता है। परंतु यह कुछ सुख-प्राप्तिका सच्चा मार्ग नहीं है। जो आत्म-भाव अनात्म पदार्थोंके विषयमें रक्खा जाता है वह यदि केवल आत्मा हीके विषयमें दृढ़ किया जाय तो अनुकूलता और प्रतिकूलता-का भेद-भाव नष्ट हो जायगा—यह जीव सुख और दुःख दोनोंके परे हो जायगा। यही सच्चा सुख है। इसीको मोक्ष कहते हैं। इसकी प्रतीति इसी प्रकार संसारमें, इसी जन्ममें, इसी देहमें होती है। परंतु स्मरण रहे कि देहात्म-बुद्धिके त्याग और आत्म-भावके ग्रहण करनेकी जो कुंजी है (अर्थात् जीवन्मुक्तिका जो रहस्य है) वह गुरु-कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकती।

दसवाँ प्रकरण।

निर्वाण।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

—कठोपनिषद्।

जीवन्मुक्ति प्रकरणके बाद यथार्थमें अब निरूपण करनेके लिए कोई विषय नहीं है। ग्रंथके इस भागकी समाप्ति हो चुकी और अब आगे रचना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ तक ग्रंथके इस भागकी रचना ही इस प्रकार की गई है कि जिससे संपूर्ण ज्ञान क्रमशः प्राप्त हो जाता है। सबसे पहले वैराग्यका निरूपण किया गया है; क्योंकि वही आत्म-ज्ञानकी मूल भूमिका है। परंतु यदि क्षणिक वैराग्यसे सब बाह्य विषय त्याज्य मालूम हों और देहादि प्रपंचमें आसक्ति बनी रहे तो समझना चाहिए कि सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ। इस लिए दूसरे प्रकरणमें जगन्मिथ्यात्वका निरूपण किया गया है। जगन्मिथ्यात्व-पूर्वक वैराग्य-स्थिति प्राप्त करनेके लिए मनोनाश और वासना-क्षयकी आवश्यकता है। इन अंतरंग साधनोंका उपयोग करनेसे स्वयं-प्रकाश आत्माका परोक्ष-ज्ञान हो जाता है। इस लिए तीसरे प्रकरणमें मनोलय और चौथेमें वासनोपशमनका निरूपण किया गया है। यह सब श्रवण-सम्पत्ति है। इस पर मनन करना चाहिए। मननके बाद निदिध्यासनकी आवश्यकता है। इस लिए पाँचवें, छठे और सातवें प्रकरणमें आत्म-मनन, शुद्ध निरूपण और आत्मार्चनका यथाक्रम वर्णन किया गया। अनंतर आत्माका लक्षण जाननेके लिए आत्म-निरूपण नामक आठवाँ प्रकरण सिद्ध हुआ। इस प्रकार साधन-सम्पत्ति सिद्ध हो जाने पर जीवन्मुक्तावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है। इस अव-

स्थाके लक्षणोंका विस्तृत वर्णन पिछले प्रकरणमें किया गया है। इसका सम्यग्ज्ञान और अनुभव होनेसे परमानंद प्राप्त होता है।

इस प्रकार यद्यपि परम सुखका मार्ग समझमें आ गया तथापि सद्गुरु-कृपाके बिना ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। "काँखमें लड़का और गाँवमें गुहार"—इस कहावतका अर्थ सब लोगोंको मालूम है। ठीक ऐसी ही दशा उस साधककी होती है जिस पर सद्गुरु-कृपा नहीं होती। स्वयं-प्रकाश आत्माका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण बहुतेरे लोग घबड़ा जाते हैं और भ्रम-वश होकर अनेक पर्वत-गुहाओंमें ईश्वरकी खोजमें भटका करते हैं। ये लोग ईश्वरकी प्राप्तिके लिए चारों ओर भ्रमण करते करते यद्यपि सारा जन्म बिता देते हैं तथापि उनको ईश्वरका दर्शन नहीं होता। इसका मुख्य कारण उनका अज्ञान है—वे इस बातको नहीं जानते कि ईश्वर हमारे हृदय हीमें है। जिस परमात्माकी प्रेरणासे उनके मनमें बन बन घूमने और पर्वत-गुहाओंमें निवास करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है उसके सत्य-स्वरूपको वे जानते नहीं। इस अज्ञानका नाश केवल सद्गुरु-कृपासे होता है। शास्त्र-ग्रंथोंमें निरूपित कुछ साधनोंका अभ्यास कर लेनेसे परोक्ष-ज्ञान हो जाता है; परंतु अपरोक्ष साक्षात्कार केवल सद्गुरुकी कृपासे होता है। जब साधक सद्गुरुके बोधामृतका प्राशन करता है तभी उसको अपरोक्षानुभव होता है और सारे संसारमें आनंद देख पड़ता है।

इस आनंदमय और सुखकारक स्थितिकी प्राप्तिके लिए गत प्रकरणोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं। उन उपायोंके अनुसार अभ्यास करनेके लिए मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु मनका निग्रह करना बहुत कठिन है। भगवद्गीतामें कहा है:—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् मन इतना चंचल है कि उसका निग्रह करना वायुके निग्रहके समान अत्यंत कठिन है। इसी मनोनिग्रहके लिए सब लोग जन्मसे मृत्यु तक सदा यत्न करते रहते हैं; परंतु बहुत कम लोग सफल होते हैं। अब प्रश्न यह है कि यदि यह उपाय इतना कठिन और कष्ट-साध्य है तो उसके बिना जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होगी या नहीं—अथवा अपरोक्ष साक्षात्कार होगा या नहीं? प्रस्तुत निर्वाण प्रकरणमें इसी विषयका विवेचन किया गया है। इस प्रकरणमें जो सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं वे बहुत मनोरंजक हैं। यदि उनका यथोचित आकलन किया जाय तो संसारका बहुत लाभ होगा। बहुतेरे लोक योगाभ्यासको अत्यंत कठिन समझ कर पारमार्थिक मार्गका त्याग कर देते हैं। उन लोगोंको इस विषयकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए; क्योंकि इसमें सहजावस्थाका मनोवेधक निरूपण किया गया है। सहजावस्था किसे कहते हैं, जब वह प्राप्त होती है तब कौनसे लक्षण प्रकट होते हैं, सहजावस्थामें रहनेवाला मनुष्य संसारमें किस प्रकार व्यवहार करता है इत्यादि अनेक उपयुक्त बातोंका वर्णन इस प्रकरणमें पाया जायगा।

सहज-स्थितिके लिए प्राणायाम, आसन, मनोलय, वासना-क्षय आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं है। यदि इन साधनोंका अभ्यास ज्ञान-पूर्वक किया जायगा तो जीवन्मुक्तावस्था सहज ही प्राप्त होगी। परंतु जब बिना ज्ञानकी सहायताके मन और वासनाका क्षय किया जाता है तब यद्यपि प्रपंचका कुछ समयके लिए लय हो जाता है तथापि मुख्य अनुभवकी प्राप्ति नहीं होती। बहुरूपिया लोग केवल अभ्याससे मनका लय करके बहुत देर तक तटस्थ रह सकते हैं; परंतु ज्यों ही उनकी 'समाधि' का व्युत्थान होता है त्यों ही वे अपने पेटके लिए प्रेक्षकोंसे इनाम माँगने लगते हैं! सच बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य केवल अभ्याससे अपने मन और प्राणका

आकर्षण करके तटस्थ हो सकता है; परंतु प्रश्न यह है कि क्या इस उपायसे अज्ञानका नाश होता है ? नहीं; जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक सिर्फ मन और प्राणका आकर्षण करके अज्ञानका क्षय होना असंभव है । केवल वायु-निरोधसे मनोलय करनेकी योग्यता उस स्थितिसे किसी प्रकार अधिक नहीं है जो सुषुप्ति, मूर्छा, लय आदि अवस्थाओंमें प्राप्त होती है । तात्पर्य यह है कि अज्ञानके नाशका मुख्य साधन आत्म-ज्ञान ही है । सविलासी अविद्याका नाश आत्म-ज्ञानके सिवाय और कौन कर सकता है ? इस लिए मुक्तिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति कर लेना ही अत्यंत आवश्यक है । साधकोंको उचित है कि वे अपने सद्गुरुसे महा-वाक्यका विवरण सुनें । उसके विषयमें मनन, निदिध्यासन आदि करनेसे निस्सन्देह आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होगी । स्वयं-प्रकाश आत्माका ज्ञान होते ही प्रपंचका लय हो जाता है और मुक्तावस्था प्रगट होती है । यही बात **श्वेताश्वतर** उपनिषद्में इस प्रकार कही है:—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति । नान्यः पंथा अयनाय विद्यते ।

इस वचनमें ‘ अतिमृत्यु ’ शब्दका अर्थ मुक्ति है । आत्म-ज्ञानके सिवाय मोक्ष-प्राप्तिका अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

सहज-स्थिति प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको ब्रह्मवेत्ता होना चाहिए । शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अन्य साधनोंका अवलंब करना वृथा क्लेश है । **तैत्तिरीयारण्यक**में कहा है:—

“ ब्रह्मविदाप्नोति परम् । ” अर्थात् जो ब्रह्मवेत्ता है उसीको मोक्षकी प्राप्ति होती है । **बृहदारण्यक**में लिखा है “ ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति । ” अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म-रूप हो जाता है । ये दोनों वचन अत्यंत महत्त्वके हैं । जो ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म हो गया है उसको ज्ञान-धारणाकी कोई आवश्यकता नहीं—जिसको आत्माका अपरोक्ष-ज्ञान प्राप्त हो गया

है उसको मनोजयार्थ निरंतर यत्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सच है; शास्त्रोक्त-विधिसे यज्ञोपवीत आदि संस्कारों द्वारा जो मनुष्य ब्राह्मण हुआ उसको फिर रात-दिन यह अनुसंधान करनेकी क्या आवश्यकता है कि "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ।" एक-बार उसका संस्कार हो जाने पर उसको अपने ब्राह्मणत्वका विस्मरण कदापि नहीं होता। इसी प्रकार आत्माका सम्यग्ज्ञान हो जाने पर मनुष्यकी ब्रह्म-स्थिति सहज ही हो जाती है; फिर उसको यत्न करना नहीं पड़ता। श्वेताश्वतर उपनिषद्के "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" इस वचनमें 'एव' पद-से जैसे अन्य साधनोंका निषेध किया गया है वैसे ही ज्ञानधाराका भी समझना चाहिए।

अपरोक्ष साक्षात्कारको सहज-स्थिति कहते हैं। इस साक्षात्कारके लिए जिस ज्ञानकी आवश्यकता है उसमें असंभावना और विपरीत-भावना न होनी चाहिए। जब एक-बार यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि यह रज्जू है तब उसके विषयमें सर्पका आभास नष्ट हो जाता है। रज्जूके विषयमें असंदिग्ध ज्ञान (अर्थात् असंभावना तथा विपरीत-भावना-रहित ज्ञान) हो जानेसे भय-कंपादि विकारोंका सर्वथा नाश हो जाता है। यही हाल अपरोक्ष साक्षात्कार या सहज-स्थितिका है। साक्षात्कार होते ही यह विश्व-रूप स्वप्न कदापि सत्य प्रतीत न होगा। स्वप्नावस्थासे जागृत होने पर जैसे मनुष्य अपने स्वप्नकी बातोंको सत्य नहीं मानता वैसे ही मनुष्य आत्म-साक्षात्कार होने पर विश्व-प्रतीतिको असत्य मानता है। आत्म-साक्षात्कारका अर्थ ही यह है कि आत्माका पूर्ण-ज्ञान हो गया है। इसीको जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं। इसकी प्राप्तिके लिए सदा तटस्थ वृत्तिका अवलंब करना नहीं पड़ता। किसी भी वर्ण या आश्रममें रहते हुए इस स्थितिका अनुभव किया जा सकता है। राजा जनक ब्रह्मवेत्ता थे तो भी उन्होंने राज्य-संपत्तिका उपभोग किया। वसिष्ठ

ऋषिने गृहस्थाश्रमका स्वीकार किया था। तुलाधार तो वणिक् था। तात्पर्य यह है कि योगीजन सहज-स्थितिमें रहते हुए संसारके सब व्यवहार करते रहते हैं। स्मरण रहे कि यद्यपि वे बाह्य-दृष्टिसे अनेक सांसारिक कामोंमें लगे हुए देख पड़ते हैं तथापि वे कर्तृत्व और भोक्तृत्वके परे होते हैं।

अब यह बात सिद्ध हो गई कि सहज-स्थिति प्राप्त होने पर न तो अष्टांग-योग-साधनकी आवश्यकता रहती है और न मनोनाश तथा वासना-क्षयका यत्न करना पड़ता है। सहज-स्थितिमें समाधिका सुख सहज और निरंतर प्राप्त होता है। जब साधु पुरुषका मन सारे विश्व-को ब्रह्म-भावसे देखने लगता है तब उस अवस्थामें अन्य प्रकारके संकल्प उठते ही नहीं। उसको अपने शरीर तकका भान नहीं रहता। जिस मनके कारण संकल्प या विकल्प किये जाते हैं वही मन ब्रह्ममय हो जाता है। इसीको **निर्विकल्प स्थिति** कहते हैं। योगीजन सदा इसी स्थितिमें निमग्न रहते हैं। वे लोग इंद्रियोंका दमन करें या न करें उनके लिए दोनों बातें समान हैं; क्योंकि उनकी ब्रह्म-स्थिति सदा ज्यों-की त्यों बनी रहती है। जब दहीको मथ कर उसमेंसे मक्खन निकाल लिया जाता है तब वह (मक्खन) दहीमें डालने पर भी उससे अलग रहता है। इसी तरह जिसका मन एक-बार प्रापंचिक बंधनोंसे मुक्त हो कर ब्रह्म-स्थितिमें निमग्न हो जाता है उसको फिर प्रपंचके किसी कार्य-में आसक्ति रह नहीं सकती। ज्ञानी पुरुषको प्रपंच और समाधि दोनों बराबर हैं। प्रपंचमें रहनेसे उसे कोई हानि नहीं और समाधिमें रहनेसे उसे कोई लाभ नहीं। जैसे यदि हीरेको संदूकमें बंद रक्खें तो कुछ उसका हीरापन बढ़ न जायगा और यदि उसको मिट्टीमें डाल दें तो उसका हीरापन कुछ घट न जायगा; वैसे ही योगी चाहे निर्विकल्प समाधिमें रहे चाहे सविकल्प समाधिमें रहे, दोनों अवस्थाएँ उसके लिए समान हैं—उनमें कोई विशेष लाभ या हानि नहीं है।

योगीजनोंकी स्थितिके विषयमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं:—

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिर्गुणोभवेन्मत्सु विविक्तधाम्नः।
विक्षिप्यमाणैरुत किंनु दूषणं घनैरुपेतैर्विगतैरवेः किम्॥

अर्थात् जिसको ईश्वर-स्वरूपका अपरोक्ष साक्षात्कार हुआ है और जिसका अंतःकरण असंभावना, विपरीत-भावना आदि संस्कारोंसे कदापि मलिन नहीं होता, वह चाहे इंद्रियोंका दमन करे या न करे, उसको दोनों बातें समान हैं। यद्यपि त्रिगुणात्मक इंद्रियाँ अपना अपना व्यवहार करती रहें तो भी सत्पुरुष अपने ब्रह्म-पदसे च्युत नहीं होता। यद्यपि सत्पुरुषके अंतःकरणमें काम, क्रोधकी लहरें क्षणभर देख पड़ें तो भी वे ब्रह्म-स्फूर्तिसे तुरंत ही शांत हो जाती हैं। इस बातको समझानेके लिए मेघसे आच्छादित सूर्यका बहुत अच्छा दृष्टांत दिया गया है। जब सूर्य मेघसे आच्छादित हो जाता है तब क्या उसका सूर्यपन नष्ट हो जाता है या उसका प्रकाश घट जाता है? नहीं। मेघके आवरणसे सिर्फ लोगोंकी दृष्टिमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। सूर्यमें कुछ बदल नहीं होता, वह ज्योंका त्यों प्रकाशमान बना रहता है। मेघ कुछ समय तक रह कर चले जाते हैं; परन्तु सूर्य ज्योंका त्यों तेजोमय बना रहता है। यही हाल आत्मज्ञानी पुरुषका जानो। वह केवल साक्षि-स्वरूपका अनुभव लेता है, इस लिए गुण और वृत्तियोंके कारण उसके सत्स्वरूपमें कुछ बदल नहीं होता।

सहज-स्थितिका मूल तत्त्व यही है कि शरीरके रहते हुए भी उसके संबंधमें आसक्ति न रहे। शरीर-संबंधी आसक्तिको देहाभिमान या अहंकार कहते हैं। शरीर-संबंधी आसक्ति या देहाभिमानके नष्ट हो जानेसे अहंकारका नाश हो जाता है। यह अभिमान दो प्रकारका होता है:—पहला साधारण अभिमान और दूसरा विशेष अभिमान। सब

जीवोंमें " मैं मैं" कहनेवाला, "मैं ऐसा करूँगा, मैं वैसा करूँगा, मैंने यह किया, मैंने यह नहीं किया" इत्यादि भाव प्रकट करनेवाला जो तत्त्व है उसीको साधारण अभिमान कहते हैं। यह अभिमान त्रिगुण वृत्तियों द्वारा प्रकट होता है। इसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार किया है:—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान्सुखी॥

अर्थात् यह वस्तु मैंने आज प्राप्त की, कल अमुक इच्छा सफल करूँगा, आज मेरे पास इतना धन है, कुछ समयमें यही धन इतना अधिक हो जायगा, आज मैंने इस शत्रुका नाश किया, कल किसी दूसरेका नाश करूँगा, मैं ईश्वर हूँ— मेरे समान श्रीमान् कौन है? मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि भाव केवल अहंकारके अनेक रूप हैं। आसुर-स्वभावके लोगोंम अहंकार अत्यंत प्रबल रहता है। इस लिए व्यतिरेक न्यायसे यह बात सिद्ध होती है कि ज्यों ज्यों आसुर-स्वभावका नाश होगा त्यों त्यों अहंकार-की प्रबलता भी नष्ट होती जायगी।

" मैं ब्राह्मण हूँ, मै क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं यति हूँ, मैं भिक्षु हूँ, मैं सन्यासी हूँ मैं वानप्रस्थ हूँ" इत्यादि प्रकारके भाव विशेष अभिमानके दर्शक हैं। दोनों प्रकारके आभिमानोंका स्वरूप भली भाँति जान लेना अत्यंत आवश्यक है; क्योंकि संपूर्ण विश्व किसी-न-किसी प्रकारके आभिमानसे लिप्त है। यह बात सब लोगोंको विदित है कि संसारमें सब कार्य अहंकार हीकी प्रेरणासे हुआ करते हैं। जो साधु पुरुष उक्त दोनों प्रकारके आभिमानोंका नाश कर डालता है उसके अंतःकरणमें

कर्तृत्वका लेश तक नहीं रहता। वह पाप पुण्यके परे हो जाता है। सच है, जो मनुष्य किसी कर्मका कर्ता होगा—जिस मनुष्यके अंतःकरणमें किसी कर्मके कर्तृत्वका अभिमान होगा—वही पाप और पुण्यका भोक्ता हो सकता है। परंतु जो मनुष्य ब्रह्म-निष्ठ है उसके अंतःकरणमें कर्तृत्व या भोक्तृत्वकी भावना ही नहीं रहती—उसका अभिमान नष्ट हो जाता है, इस लिए चाहे वह कोई कर्म करे या न करे। दोनों अस्थाओंमें उसकी ब्रह्म-निष्ठा समान ही बनी रहती है। इस विषयमें श्रुतिका वचन है:—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य ।
न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् ॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ।

अर्थात् ब्राह्मणकी ज्ञान-महिमा बड़ी अद्भुत है। यदि वह कर्म करे तो भी उसकी महिमा कुछ घटती नहीं; और यदि वह कर्म न करे तो भी उसकी महिमा कुछ बढ़ती नहीं। कर्म करनेसे उसके ब्राह्मणत्वमें क्या अधिकता होगी और कर्म न करनेसे क्या न्यूनता होगी? कुछ नहीं। दोनों अवस्थाओंमें उसकी ब्रह्म-स्थिति समान रहती है। इसका कारण यही है कि उसके अंतःकरणमें अहंभाव बिलकुल नहीं रहता। उक्त वचनमें 'ब्राह्मण' शब्दका अर्थ ब्राह्मण जाति नहीं है। ब्राह्मण जातिके अनुसार कर्म करनेवाले केवल साधारण ब्राह्मण हैं। जिन लोगोंको आजकल हम ब्राह्मण नामसे संबोधन करते हैं वे उक्त श्रुति-वचनमें निर्दिष्ट ब्राह्मण नहीं हैं। उस वचनमें जो ब्राह्मण शब्द है उसका अर्थ सुरेश्वराचार्यने इस प्रकार किया है:—

यस्त्वक्षरपरिज्ञानान्मृत्योर्मृत्युः प्रमीयते ।
स एव ब्राह्मणो नान्यो जगत्यध्यवसीयताम् ॥

—वार्तिक ।

अर्थात् जिसने शाश्वत, नित्य और निर्विकार परमात्माके ज्ञानसे

संसारका नाश कर डाला है और जो जन्म तथा मृत्युके चक्रसे छूट गया है उसीको ब्राह्मण कहना उचित है—अन्य सब लोगोंको केवल नामधारी या वेषधारी ब्राह्मण समझना चाहिए। मृत्युका मृत्यु अर्थात् मृत्युका भी नाश करनेवाला केवल एक चैतन्य है; परमात्माके अपरोक्ष ज्ञानसे जिसने उस चैतन्यका साक्षात् अनुभव किया है वही सच्चा ब्राह्मण है। केवल सत्कर्माचरणसे ब्राह्मण-पद प्राप्त नहीं होता। इस लिए जो सच्चा ब्राह्मण है वह सदा ब्रह्म-रूप ही रहता है; चाहे वह सत्कर्म करे या न करे, चाहे वह समाधिस्थ रहे या राज्यका शासन करे, चाहे वह गृहस्थाश्रममें रह कर सांसारिक सब व्यवहार करे या संसारका परित्याग करके संन्यास ग्रहण करे, उसका ब्रह्मानुभव ज्योंका त्यों बना रहता है। इस विषयमें यह वचन अत्यंत महत्त्वका है:—

योगरतो वा भोगरतो वा। संगरतो वा संगविहीनः॥
किंचिद् ब्रह्मणि योजितचित्तो। नंदति योगी नंदति धीरः॥

—योगवासिष्ठ।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्यने अपना चित्त परमात्मामें लगा दिया है वह सदा परमानंदमें निमग्न रहता है और उसको यह विश्व ब्रह्म-रूप ही देख पड़ता है। वह मनुष्य किसी प्रकारका व्यवहार करे, चाहे वह योगाभ्यास करे या अनेक प्रकारके भोग और विलासमें रत रहे, वह स्त्री-पुत्रादिकोंका संग करे या निःसंग होकर वनमें रहे, सब अवस्थाओंमें वह ब्रह्म-रूप ही रहता है। वह किसी अवस्थामें अपने ब्रह्म-पदसे च्युत नहीं होता। वह देही होकर देहातीत रहता है, कर्ता होकर अकर्ता रहता है और भोक्ता होकर अभोक्ता रहता है। जब किसी प्रकारके संग या असंगकी बाधा नहीं होती तब मनोनिग्रहकी क्या आवश्यकता है? यही सहज-स्थितिका लक्षण है। चलते-बोलते, बैठते-उठते, सब काम करते हुए ब्रह्म-रूप रहना ही सहज-स्थितिका रहस्य है।

सहज-स्थितिका सम्यक् बोध होनेके लिए स्व-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। जब स्व-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब मनुष्यको अपने प्रत्येक कार्यमें परमात्माका भान होता रहता है, इस प्रकार ब्रह्म-स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य सद्रूप, चिद्रूप और आनंद-रूप परमात्माका अनुभव करता हुआ सर्वत्र ब्रह्म हीका दर्शन पाता है। स्व-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेके लिए बुद्धि बहुत प्रगल्भ होनी चाहिए। आर्य-तत्त्वज्ञानमें यह विषय अत्यंत महत्त्वका माना गया है। अब उसका कुछ वर्णन किया जायगा।

जब स्व-स्वरूपका ज्ञान हो जाता है तब बोलते, चलते, उठते, बैठते, कोई काम करते हुए आत्मानुभव होने लगता है। आत्माका यह लक्षण निम्न वचनमें स्पष्ट कहा गया है:—

> दृश्यदर्शनसंबंधादुद्भवेत्परमं सुखम्।
> तदेवैकांतसंवित्या मनोनाशः परम् पदम्॥
>
> —योगवासिष्ट।

अर्थात् जब दृश्य और दर्शनका संबंध होता है तब यथार्थमें दो चैतन्योंकी परस्पर भेंट होती है। इससे जो परम सुख प्राप्त होता है उसका निर्वाह यदि दृश्य और दर्शनका त्याग करके किया जाय तो मनका नाश हो जायगा और परम-पदकी प्राप्ति होगी। इस बातका अनुभव सब लोगोंको है कि जब प्रिय दृश्यका दर्शन होता है तब अंतःकरणमें सुख उत्पन्न होता है। यह सुख क्यों उत्पन्न होता है, इसका विचार करनेसे यह बात मालूम होगी कि सब पदार्थोंमे रहनेवाला चैतन्य एक ही है। दृश्य पदार्थोंमें यह चैतन्य स्वयं-सिद्ध रहता है और चित्त-वृत्ति-रूप दर्शनमें भी वही चैतन्य है। ऐसी अवस्थामें दृश्य और दर्शनका संबंध होते ही इन दोनों चैतन्योंकी भेंट होती है और परमानंद प्रगट होता है। यह अनुभव जैसे प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त होता

है वैसे ही एकांत-संवित् * को भी होता है। दृश्य और दर्शनका संबंध होने पर जो परम आनंदकी अवस्था उत्पन्न होती है उसमें मन और वासनाका आप-ही-आप नाश हो जाता है। यह अनुभव जैसे एकांत-संवितिमें होता है वैसे ही अन्य समयमें भी होता है। दोनों प्रकारके अनुभवोंमें भेद सिर्फ यही है कि एकांत-संवितिमें वृत्ति-रूप ज्ञान होता है और अन्य समयमें केवल स्थूल या लौकिक ज्ञान होता है। एकांत-संवितिका लक्षण यह है कि दृश्य और दर्शनके संबंधसे जो ज्ञान और सुख उत्पन्न होता है उसका निर्वाह दृश्य और दर्शनके अभावमें किया जाता है। विषय-रूप उपाधिका त्याग करनेसे एकांत-ज्ञान उत्पन्न होता है, परम सुखकी प्राप्ति होती है और मनोनाश आप-ही-आप हो जाता है। ज्यों ही मनका नाश हुआ त्यों ही यह समझना चाहिए कि परमानंद-स्वरूप प्राप्त हुआ और आत्म-स्वरूप प्रकट हुआ। सब प्रकारके दृश्य और दर्शनके योग-संबंधमें यह अंतर्दृष्टि स्थिर करनेसे स्व-स्वरूपका लाभ होता है।

विषयोंके योगसे जो सुख उत्पन्न होता है उसका निर्वाह यदि विषय-त्यागसे किया जाय तो आत्म-सुखका कोई पारावार नहीं। इस संसारमें जो कुछ सुख है वह वस्तुतः आत्म-सुख ही है। विषयोंमें जो सुख देख पड़ता है वह अत्यंत अल्प है; परंतु इसका परिणाम यह हुआ है कि सब लोग इस अल्प सुख हीके पीछे लगे हैं, वे समझते हैं कि सब सुखोंका भंडार विषयों हीमें भरा है और अंतमें सब लोगोंकी निराशा होती है। इसमें संदेह नहीं कि विषयोंके योगसे कुछ सुख प्राप्त

*जब अंतःकरणकी वृत्ति ब्रह्माकार होती है तब उसको एकांत-संविति कहते हैं और जब वृत्ति अनेकाकार होती है तब उसको लौकिक ज्ञान कहते हैं। घट-पटादिके विषयमें जो स्थूल ज्ञान होता है वह लौकिक ज्ञान है; स्थिर और सूक्ष्म ज्ञानको एकांत-ज्ञान कहते हैं।

होता है; परंतु विचार करनेसे यह मालूम हो जायगा कि वह सुख मर्यादित है, अस्थिर है और अपूर्ण है। विषय-सुखोंकी मर्यादितता, अस्थिरता और अपूर्णता पर उचित ध्यान न देनेके कारण ही इस संसारमें सब लोग विषय-मग्न होकर आत्म-सुखसे वंचित रहते हैं। जो ज्ञानी हैं वे स्व-स्वरूपमें स्थिर रह कर आत्म-सुखानुभवी होते हैं। तात्पर्य यह है कि दृश्य और दर्शनके संबंध योगसे जो सुख उत्पन्न होता है उसका अनुभव दृश्य और दर्शनके अभावमें करना ही आत्म-सुखका लक्षण है।

आत्म-सुखका एक और लक्षण है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:——

शुद्धं सदसतोर्मध्ये पदं लब्ध्वाऽचलं च तत्।
सबाह्याभ्यन्तरं विश्वं मा गृहाण विमुञ्च माम्॥—योगवासिष्ठ।

अर्थात् इस सृष्टिमें जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब संत अर्थात् सत्ता-रूप हैं। इन पदार्थोंमें जो सत्ता जो अस्तित्व है, वही ब्रह्म-रूप है। स्व-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होनेके लिए घट-पटादि पदार्थोंका त्याग करके केवल सत्ता-मात्रका अनुभव प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। इसी तरह आकाश-पुष्प, वंध्या-सुत आदि जितने असंत अर्थात् अभाव-रूप पदार्थ हैं उनमें देख पड़नेवाला अभाव ब्रह्म-स्वरूप है। सब पदार्थोंमें जो नास्तित्व है वही चैतन्य है। उपर्युक्त जितने संत और असंत पदार्थ हैं उनमें भीतर बाहर व्याप्त एक-रूप शुद्ध ज्ञान है, जो अचल और अटल है। संत पदार्थोंसे असंत पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर लेना या असंत पदार्थोंसे संत पदार्थोंका बोध कर लेना आत्म-स्वरूपका लक्षण है। इसका सम्यक् परिज्ञान होते ही पूर्ण ब्रह्मानंद प्रकट होता सहज-स्थितिका स्वरूप इस वचनमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है:—

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनं प्रथमाभासमात्मानं केवलं भज॥

—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है:—द्रष्टा, दृश्य और दर्शन तथा दृश्य पदार्थोंके संबंधमें उत्पन्न होनेवाली वासनाओंका त्याग करनेसे आत्म-स्वरूपकी पहचान होती है। पहले अहंकार चैतन्यसे संलग्न होता है, इससे मनोवृत्ति क्षुब्ध होती है, इसके बाद नेत्रादि इंद्रियाँ दृश्य पदार्थोंकी ओर आकृष्ट होती हैं—इसीको दर्शन कहते हैं। अहंकार और मनके संयोग-को द्रष्टापन कहते हैं; नेत्रादि इंद्रियोंका बाह्य पदार्थोंके साथ जो सम्मेलन होता है उसको दर्शन कहते हैं। जब सब वासनाओंका तथा द्रष्टा, दृश्य और दर्शनका त्याग किया जाता है तब ब्रह्म-स्वरूपका बोध होता है। द्रष्टाके दृश्याकार होनेके पहले ही अंतःकरणमें जो स्वयं-सिद्ध प्रकाश होता है वही ब्रह्मका स्वरूप है। नेत्रादि इंद्रिय-वृत्तियोंके दृश्य पदार्थोंकी ओर आकृष्ट होनेके पहले ही अंतःकरणमें जो प्रकाश-स्थिति होती है वही **चैतन्य** है। इसी स्वयं-सिद्ध प्रकाशको **आत्म-प्रकाश** कहते हैं। नेत्रेंद्रिय-रूपको प्रकाशित करनेके पहले जो स्व-प्रकाश उत्पन्न होता है वही परब्रह्मकी पहचान है। तात्पर्य यह है कि द्रष्टा, दृश्य और दर्शन तथा वासनाओंका त्याग करनेसे चैतन्य-स्वरूप प्रकट होता है।

उक्त वचनमें आत्म-भजनका उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ यह है कि आत्माके अतिरिक्त और किसी पदार्थका भास न हो—अंतःकरणमें आत्माके सिवाय अणु-मात्रका भी स्पर्श न हो। इसके लिए कर्पूर और अग्निका दृष्टांत बहुत अच्छा है। जब कर्पूर और अग्निका संयोग होता है तब दोनोंकी सम-रसता इतनी हो जाती है कि दोनोंमेंसे एक भी पदार्थ शेष नहीं रहता। इसी तरह जब आत्माकी संपूर्ण सृष्टिके साथ सम-रसता हो जाती है तभी सच्चा आत्म-भजन होता है। इस अवस्थामें वृत्ति सदा ब्रह्माकार रहती है, प्रपंच कदापि सत्य प्रतीत नहीं होता जब चैतन्य इस प्रकार प्रकट हो कि वृत्ति सदा ब्रह्म-रूप रहे और देहा

त्म-बुद्धिका स्पर्श तक न हो, तभी अभेद-बुद्धि द्वारा आत्माकी पहचान होती है ।

सहज-स्थितिकी एक ऐसी पहचान है कि जिसका अनुभव सब लोकोंको होता है; परंतु अज्ञानके कारण आत्माका स्मरण नहीं रहता । उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

> निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते ।
> तं भावं भावयन्साक्षादक्षय्यानंदमश्नुते ॥
>
> —योगवासिष्ठ ।

इसका भावार्थ यह है कि जागृति अवस्थाके अंतमें जब सुषुप्तिका प्रवेश होने लगता है तब दोनोंकी संधिसे जो सुख प्राप्त होता है वही ब्रह्म-रूप है । इसका कारण यह है कि उस संधिके समय निर्विकार अवस्था होती है । देहेंद्रियादि सब प्रपंच तथा सब प्रकारकी वृत्तियोंका उपसंहार जिस अवस्थामें होता है वह निर्विकल्प' समाधि हीका लक्षण है । सब प्रपंचका नाश हो जाने पर और लय, विक्षेप आदि दोषोंका नाश हो जाने पर जो शेष रहता है वही ब्रह्म है । यह स्थिति केवल आनंद-रूप है । इस स्थितिका पूर्ण अनुभव उन्हीं लोगोंको होता है जो आत्मानुभवी योगी हैं । जागृति अवस्थाके अंतमें और सुषुप्तिका प्रवेश होनेके पहले पुरीतति नामक नाड़ीमें मनका लोप होता है । पहले इंद्रियोंकी वृत्तियाँ अपनी अपनी इंद्रियोंमें प्रवेश करती हैं; इसके बाद इंद्रियोंका मनमें लय होता है और मन संकल्प-रहित हो जाता है । जैसे अस्तमानके समय सूर्यके किरण सूर्य-मंडलमें प्रवेश करते हैं और फिर वह मंडल सूर्यमें लुप्त हो जाता है वैसी ही अवस्था उक्त संधिके समय होती है । मन और इंद्रियोंके द्वारा ही जीवके सब व्यवहार होते हैं । जब इंद्रियोंको मनकी सहायता होती है तब उनके व्यापारके लिए त्रिभुवन भी छोटा मालूम होता है; परंतु जब इंद्रियोंको

मनकी सहायता नहीं होती तब उनका सब व्यापार आप-ही-आप बंद हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होनेके पहले ज्यों ही मन पुरीतति नाड़ीमें प्रविष्ट होता है त्यों ही इंद्रियोंकी सब वृत्तियोंका लय हो जाता है और इंद्रियाँ भी मनमें लीन हो जाती हैं। अर्थात् जब मन और इंद्रियोंका अभाव हो जाता है तब संकल्प और विकल्प सब आप-ही-आप छूट जाते हैं। इसी संकल्प-विकल्प-रहित अवस्थामें बुद्धिको स्व-स्वरूपकी प्राप्ति होती है और आत्म-सुखका अनुभव होता है। इस स्थितिका यथार्थ बोध गुरु-मुखसे श्रवण करना चाहिए।

स्व-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाने पर जो अपूर्व आनंद होता है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

जडतां वर्जयित्वैकां शिलायां हृदयं च यत्।
अमनस्कं महाबाहो तन्मयो भव सर्वदा ॥
प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् 'अमनस्क' अवस्थामें सब संकल्पोंका लय हो जाता है और अहंकार, मन तथा इंद्रियोंका कुछ भी भान नहीं रहता। घट-पटादि बाह्य पदार्थोंका या विश्व-परंपराका अंतःकरणमें स्फुरण तक नहीं होता। जैसे शिला निश्चेष्ट और संकल्प-शून्य पड़ी रहती है वैसे ही बाह्याभ्यंतर शुद्धता प्राप्त होने पर अमनस्क अवस्थाका अनुभव होता है। इस अवस्थामें ज्ञानी पुरुषका चित्त कभी पदार्थाकार नहीं होता। 'मुझे अमुक पदार्थ चाहिए, अमुक पदार्थ नहीं चाहिए' इत्यादि प्रकारके संकल्प उसके मनमें उठते ही नहीं—वह निर्विकल्प हो जाता है। साधारण लोगोंके मनमें सदा किसी-न-किसी प्रकारके संकल्प उठते ही रहते हैं; परंतु ज्ञानी पुरुषके सब संकल्पोंका अस्त हो जाता है—उसके

अंतःकरणमें ब्रह्मके सिवाय अन्य किसी विषयका स्फुरण नहीं होता। इस अवस्थामें जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिका भी अभाव हो जाता है। जब इंद्रियोंकी सब वृत्तियाँ बाह्य स्थूल पदार्थोंके साथ संलग्न रहती हैं तब जागृतावस्था प्राप्त होती है और इसीको **विक्षेप** कहते हैं। इंद्रियोंकी वृत्तियाँ लीन हो जाने पर भी जब केवल वासनाओंके वेगसे मन पदार्थाकार हो जाता है तब स्वप्नावस्था उत्पन्न होती है। जब इंद्रियोंकी वृत्तियोंका और मनका भी लय हो जाता है और स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थोंका ग्रहण करना केवल असंभव हो जाता है तब सुषुप्तावस्था प्राप्त होती है। स्वरूप-स्थिति उक्त तीनों अवस्थाओंसे भिन्न और श्रेष्ठ है। देखिए,

सर्वसंकल्पसंशांतौ प्रशांतघनवासनम्।
न किंचिद्भवनाकारं तद्ब्रह्म परमं विदुः॥

अर्थात् स्वरूप-स्थितिमें निःशेष संकल्पोंका भस्म हो जाता है, निविड़ वासनाओंका नाश हो जाता है और विपरीत-भावनाओंका अभाव हो जाता है। जब एक-बार विषयोंका ग्रहण किया जाता है तब मनमें संकल्प उत्पन्न होता है। इस संस्कारके कारण अंतःकरणमें पदार्थोंके विषयमें जो स्फुरण होता है उसीको **वासना** कहते हैं। हम लोग दिन भर अनेक प्रकारके व्यवहार करते रहते हैं; इन व्यवहारोंसे जो ज्ञान होता है वह यद्यपि सुषुप्तावस्थामें लीन हो जाता है तथापि वह संस्कार-रूपसे अंतःकरणमें बना रहता है। वही ज्ञान दूसरे दिन जागृतावस्थामें फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकारकी वासनाएँ अनंत और अमर्यादित हैं, इस लिए उनके विषयमें ‘ घन ’ अर्थात् निविड़ विशेषण लगाया गया है। जब ये निविड़ वासनाएँ निःशेष लीन हो जाती हैं तब विपरीत-भावना कदापि उत्पन्न नहीं होती। यही ब्रह्म-स्थितिका लक्षण है। यदि दृढ़ता-पूर्वक इसकी धारणा की जाय और यही एक-वृत्ति अखंडाकार बनी रहे तो आत्म-साक्षात्कार और स्व-स्वरूपानंदका अनुभव निस्सन्देह प्राप्त

होगा । सारांश यह है कि अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रथम ‘ जीवोऽहं ’ यह स्फुरण उत्पन्न होता है और इसके बाद ‘ मैं ब्राह्मण हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं बहिरा हूँ, मैं पंगु हूँ इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प उठते हैं । एक ही ब्रह्ममें स्त्री, पुरूष, अश्व, गज, रथ आदि अनेक प्रकारकी विपरीत-भावनाएँ उत्पन्न होती हैं । जब ये भावनाएँ दृढ़ हो जाती हैं तब उनके विषयमें वासनाओंकी अनेक लहरें उत्पन्न होने लगती हैं । इस प्रकार संसारमें सर्वत्र प्रपंच हीका भास होने लगता है । अत एव जब संकल्प-भावना और वासनाका पूर्ण क्षय हो जाता है तब ब्रह्म-स्थिति आप-ही-आप प्रकट होती है । इसीको निर्विकल्प समाधि कहते हैं । इस परमानंद दायक अवस्थासे अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ।

निर्विकल्प समाधिका अभ्यास करते समय साधकोंको अनेक विघ्नोंकी बाधा हुआ करती है । उनमेंसे मुख्य चार विघ्नोंका वर्णन वेदांत-शास्त्रमें किया गया है । साधकोंको उचित है कि इन विघ्नोंका स्वरूप भली भाँति समझ लें ।

अस्य निर्विकल्पस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः संभवति ।

——वेदान्तवाक्य ।

अर्थात् लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार विघ्न निर्विकल्प समाधिके साधनमें उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे प्रथम लयका लक्षण यह है— तत्र लयस्तावदखंडवस्त्वनवलंबनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा; अर्थात् इस अवस्थामें यद्यपि साधक बाह्य प्रपंचका अनुसंधान नहीं करता तथापि उसको स्व-स्वरूपका आधार नहीं रहता, इस लिए उसकी चित्त-वृत्ति अज्ञानमें डूब कर गाढ़ निद्राके वश हो जाती है । चित्तका यह स्वभाव ही है कि उसको किसी-न-किसी प्रकारका आधार चाहिए—वह किसीका आधार लिये बिना स्थिर रह नहीं सकता । इस लिए चित्तको जब ध्येय वस्तु (स्व-स्वरूप) का आधार नहीं मिलता तब वह मूढ़ सुषुप्तावस्थामें लीन

हो जाता है। यह दोष इतना भयानक और हानिकारक है कि बहुतेरे साधकोंको इसने अपने जालमें फँसा लिया है। ज्यों ही साधक स्वस्थ या ध्यानस्थ होनेका यत्न करने लगता है त्यों ही निद्रा उसे आ घेरती है! शम-दमादि अत्यंत कठिन मार्गका आक्रमण करने पर और काम क्रोधादि प्रबल शत्रुओंको जीत लेने पर भी साधक नींदके गड्ढेमें गोता खाने लगता है। यह विघ्न दो कारणोंसे उत्पन्न हुआ करता है:— पहला कारण अभ्यासकी शिथिलता और दूसरा कारण तमोगुणकी प्रबलता है। अत एव साधकको सदा अपने अभ्यास पर रूढ़ रहना चाहिए और चित्तका संबोधन करके तमोगुणका ऱ्हास करना चाहिए। इस उपायसे लय दोषका नाश होगा।

दूसरे विघ्नका नाम विक्षेप है। इसका लक्षण वेदान्त-वाक्यमें इस प्रकार लिखा है—अखंडवस्त्वनवलंबनेन चित्तवृत्तेरन्यावलंबनं विक्षेपः। अर्थात् अखंड वस्तु (परमात्मा) का अनुसंधान करते समय वृत्ति-रूप ज्ञान चित्तको आच्छादित कर लेता है। तब मन मुख्य वस्तुको छोड़ कर प्रपंचाकार होने लगता है। साधक जिन विषयोंका त्याग करके ध्यानस्थ होनेका यत्न करता है उन्हीं विषयोंके चिंतनमें वह मग्न हो जाता है। 'विषयोंका चिंतन दु:ख-जनक है' इस तत्त्वका पूरा अनुभव होने पर भी चित्त अपनी श्वान-स्थितिका त्याग नहीं करता। इस दोषको **विक्षेप** कहते हैं। पूर्ण वैराग्यके अभावके कारण यह दोष उत्पन्न होता है। जब विरक्ति सुदृढ़ हो जाती है तब यह दोष नष्ट हो जाता है।

तीसरा विघ्न कषाय है। इसका सच्चा स्वरूप समझमें न आनेके कारण बहुतेरे लोग भ्रम-वश होकर इसीको समाधि कहने लगते हैं।

लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृतेः।
रागादिवासनायाः स्तब्धीभावात्।
अखंडस्त्वनवलंबनं कषायः।

—वेदान्तवाक्यानि।

भावार्थः—जब साधक अपनी चित्त-वृत्तिको स्व-स्वरूपाकार करनेका यत्न करता है तब विषयोंके संबंधमें संस्कार-रूपसे रही हुई प्रीति चित्त-वृत्तिको स्तब्ध कर देती है। यद्यपि यह विषयानुराग अत्यंत सूक्ष्म होता है तथापि वह स्वरूपानुसंधान करनेमें बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित कर देता है। यद्यपि साधक अभ्यासके बलसे लय-दोषका नाश कर डालता है और वैराग्यके बलसे विक्षेप-दोषको हटा देता है तथापि उसके मनमें सूक्ष्म विषय-प्रीति बनी रहनेके कारण आत्मानुभव प्राप्त नहीं होता। चित्त-वृत्ति प्रपंचाकार नहीं होती, निद्रा भी नहीं आती और स्वरूपानुसंधान भी नहीं होता—इस प्रकारकी विलक्षण तटस्थता उत्पन्न हो जाती है। इसीको **कषाय** कहते हैं। इस दोषका मुख्य कारण प्रज्ञाकी मंदता ही है। इसीसे सूक्ष्म विषय-राग मनमें बना रहता है। स्वरूपानुसंधान करते समय साधक निश्चेष्ट हो जाता है, परंतु स्व-स्वरूपका प्रकाश नहीं होता। इस विघ्नको टालनेका यह उपाय है कि विषयोंके संबंधमें दोष-दर्शनकी दृष्टि तीव्र करके दीर्घ काल तक अभ्यास किया जाय।

चौथे विघ्नका नाम रसास्वाद है। इसका लक्षण यह हैः—

अखंडवस्त्वलवलंबनेन चित्तवृत्तेः।
सविकल्पकानंदास्वादो रसास्वादः॥

—वेदान्तवाक्यानि।

अर्थात् जब साधक अपनी चित्त-वृत्तिको स्व-स्वरूपाकार करनेका यत्न करता है और अखंड वस्तुका अवलंब होनेके कारण जब वह केवल सविकल्प आनंद हीका उपभोग करता है तब **रसास्वाद** दोष उत्पन्न होता है। यहाँ अखंड वस्तु और सखंड वस्तुका अर्थ समझ लेना चाहिए। जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय, अथवा ध्याता, ध्यान और ध्येय इत्यादि त्रिपुटिका स्फुरण तक नहीं होता जब साधक स्वयं अपनी एकात्मतामें मग्न हो जाता है, जब सारे भेद-भाव नष्ट हो जाते हैं तब अखंड वस्तु

सिद्ध होती है। जिस अवस्थामें आनंदके सिवाय और कुछ नहीं है, जिस अवस्थामें आनंदका उपभोग आनंद हीके द्वारा किया जाता है, जिस अवस्थामें भोक्ता, भोग्य और भोगका भान नहीं रहता, उस अवस्थामें अखंड वस्तु सिद्ध होती है। इस अवस्थामें चित्त निरालंब हो जाता है—सर्वत्र ब्रह्म हीका दर्शन होता है। परंतु जब यह विभाग-कल्पना उत्पन्न होती है कि मैं ज्ञाता हूँ, अमुक वस्तु ज्ञेय है और इन दोनोंका संयोग करनेवाली क्रिया ज्ञान है तब वही अखंड वस्तु सखंड हो जाती है। इस प्रकार अखंड वस्तुको त्रिखंड करनेसे अखंडका अनु-संधान छूट जाता है और तब उस अवस्थामें साधकको ज्ञातापनके सुख-का अनुभव होता है। इसीको रसास्वाद दोष कहते हैं। सच बात तो यही है कि अखंड वस्तुमें संकल्प-मात्रका भी उद्भव हो नहीं सकता और इसी अवस्थाको निर्विकल्प कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य स्थितिको सविकल्प समझना चाहिए। त्रिपुटि अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी स्फूर्ति भी सूक्ष्म संकल्प ही है; जब तक इस त्रिपुटिका लय नहीं होता तब तक निर्विकल्प स्थितिकी पूर्णता नहीं होती। त्रिपुटिका भान रहते हुए सविकल्प आनंदका जो अनुभव होता है वही रसास्वादका लक्षण है।

रसास्वाद नामक दोषका एक और लक्षण है। यह साधारण अनुभव-की बात है कि दुःख-निवृत्तिको आनंद कहते हैं। उदाहरणार्थ, जब तक किसी मनुष्यके सिर पर बोझा लदा रहता है तब तक उसको दुःख होता है; जब वह बोझा सिर परसे उतार कर नीचे रख दिया जाता है तब उसको सुख प्राप्त होता है। ठीक इसी तरह साधकको पहले पहल लय, विक्षेप आदि द्वारा बहुत दुःख होता है और जब उस दुःखसे निवृत्ति हो जाती है तब उसको आनंद होता है। दुःख-निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले इस आनंदानुभवको रसास्वाद कहते हैं। क्योंकि साधक उसी आनंदानुभवसे संतुष्ट हो जाता है और निरुपाधिक ब्रह्मानन्दके अनुभवसे वञ्चित रहता

है। तात्पर्य यह है कि सिर्फ दुःख-निवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला जो आनंद है उसे ब्रह्मानंद न समझना चाहिए—वह रसास्वाद नामका एक दोष है।

अब यदि उपर्युक्त चारों दोषोंकी तुलना करके देखें तो यह निर्णय करना पड़ता है कि रसास्वाद कोमल प्रकारका दोष है, इसके कारण आत्म-सुखमें बहुत-सा व्यभिचार नहीं हो सकता; क्योंकि इसमें सिर्फ त्रिपुटिका स्फुरण मात्र होता है। परंतु लय, विक्षेप और कषाय बड़े ही अनर्थकारक दोष हैं। रसास्वाद दोष यद्यपि कुछ समय तक बना रहे तथापि उससे कुछ विशेष हानि नहीं होती। सावधानताका अभ्यास करनेसे यह दोष शीघ्र ही निकल जाता है और निर्विकल्प स्थितिकी पूर्णता हो जाती है। परंतु यदि साधक लय, विक्षेप या कषायमें क्षण-भर भी फँस जाय तो उसका सब अभ्यास विफल हो जायगा—वह कदापि निर्विकल्प स्थितिका अनुभव न कर सकेगा। अत एव साधकको इन तीन दोषोंसे बचे रहनेका सदा यत्न करना चाहिए।

जो साधक उक्त प्रकारके चारों दोषोंसे अलिप्त रहता है उसीको निर्विकल्प ब्रह्म-स्थिति सहज प्राप्त होती है। इसी स्थितिको शिलाकी उपमा दी गई है। इस उपमासे केवल प्रपंच-शून्यताका भाव ग्रहण करना चाहिए। यथार्थमें शिला कठिन, जड़ और अप्रकाश है और आत्मा अजड़ तथा स्वयं-प्रकाश है। इस निर्विकल्प स्थिति हीको वेदांत-शास्त्रमें **अमनस्क** या **उन्मनी** कहा है; क्योंकि इसमें मनका पूर्ण लय हो जाता है। इस स्थितिमें किसी प्रकारके प्रपंचका भान नहीं रहता—केवल स्व-स्वरूपका अनुभव रहता है।

अब यह देखना चाहिए कि जो आत्मा इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है उसके लक्षण क्या हैं।

सत्यानंदचिदाकाशस्वरूपः परमेश्वरः।
मृद्भाजनेषु मृदिव सर्वत्रास्त्यपृथक् स्थितिः॥—योगवासिष्ठ।

इसका भावार्थ यह है कि सत्ता, आनंद और ज्ञान-रूप परमात्मा ही सबका नियंता है। ब्रह्माण्डमें आत्माके सिवाय और कुछ नहीं है। जैसे मिट्टीसे घड़े बनाये जाते हैं वैसे ही सब पदार्थ ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं। केवल ब्रह्म ही सबका आदि कारण है। छांदोग्योपनिषदमें कहा है:—वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। अर्थात् नाम और विकार केवल वाचाका विस्तार है। मूल मृत्तिका ही सत्य है, उसके सिवाय घटादि सब पदार्थ असत्य हैं। इसी तरह ब्रह्माण्डमें भीतर बाहर सर्वत्र एक ब्रह्म ही व्याप्त है, अन्य सब पदार्थ मिथ्या हैं। नाम-रूपात्मक जो कुछ देख पड़ता है वह केवल वाचारंभण है।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥
निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते।
बुद्धया ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् सत्ता, ज्ञान और सुख ये तीन अंश ब्रह्मके हैं और विश्व नाम-रूपात्मक है। नाम और रूप जन्म-मरण-युक्त अत एव मिथ्या हैं। जैसे समुद्रमें बुदबुद होते हैं वैसे ही सत्य ब्रह्ममें नाम और रूपको जानो।

भरिताशेषदिक्कुंभमनंताकाशनिर्भरम्।
एकं वस्तु जगत्सर्वं चिन्मात्रं वारि चांबुधिः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् त्रैलोक्यमें भीतर बाहर सर्वत्र आकाश ही भरा है। ऐसा एक भी स्थान खाली नहीं है कि जहाँ आकाश न हो। दिशा, विदिशा, गिरि, गुहा, कुंज, वन आदि सब स्थानोंमें आकाश व्याप्त है। इसी तरह सारा विश्व चिदंशसे व्याप्त है। जैसे समुद्रकी लहरें समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही कोई पदार्थ ब्रह्मसे अलग नहीं है।

निस्तरंगोऽतिगंभीरः सांद्रानंदसुधार्णवः ।
माधुर्यैकरसाधारः एक एवास्ति सर्वतः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् ब्रह्मानंद सब प्रकारके आनंदोंसे श्रेष्ठ है । विषय-रसमें नानाकारता है; परंतु ब्रह्म एक-रस और निर्विकार है । सब मधुर पदार्थोंसे ब्रह्मकी मधुरता अधिक है । ब्रह्मानंद निश्चल तथा गंभीर है, वह वाचासे व्यक्त किया जा नहीं सकता । उसका अनुभव केवल ब्रह्मवेत्ताओं हीको विदित है । इस विश्वमें ब्रह्मके सिवाय और कुछ नहीं है ।

यदेवं ब्रह्मणोरूपं ततं बुद्धमखंडितम् ।
तदा निस्तर्णिसंसारः परमेश्वरतां गतः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् इस प्रकार वर्णित अखंड, अनंत और सर्व-व्यापक परमात्माके स्वरूपको जो जानता है वह संसारसे मुक्त होकर परमेश्वरता प्राप्त करता है । स्व-स्वरूप ब्रह्ममें अज्ञानका लेश तक नहीं रहता; तब उस अज्ञानका कार्य अर्थात् प्रपंच वहाँ कैसे रह सकता है ?

समस्तमेव ब्रह्मेति भाविते ब्रह्म वै पुमान् ।
पीतेऽमृतेऽमृतमयः को नाम न भवेदिति ॥

—योगवासिष्ठ ।

इसका अर्थ यह है कि जो इस सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्म-रूप देखता है वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है । इसमें आश्चर्य कुछ नहीं; क्योंकि जो अमृत प्राशन करेगा वह अमृतमय अवश्य हो जायगा । यह सिद्धान्त है कि जो मनुष्य जिस वस्तुका ध्यान करता है वह तद्रूप हो जाता है । इस लिए जो मनुष्य यह भावना करता है कि मैं देह-रूप हूँ वह देह-रूप ही बना रहता है और जो यह भावना करता है कि मैं ब्रह्म रूप हूँ वह ब्रह्म-रूप हो जाता है ।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि परमात्म-स्वरूपका अनुभव ही नहीं है तो उसके संबंधमें भावना कैसे हो सकती है ? इस शंकाका समाधान पंचदशीमें इस प्रकार किया है:—

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥

—विद्यारण्य ।

अर्थात् यद्यपि अनुभव नहीं है तथापि सदा यही चिंतन करना चाहिए कि "मैं ब्रह्म हूँ"। इस प्रकार निरंतर चिंतन करनेसे ब्रह्म-प्राप्ति आप-ही-आप हो जाती है । इस विषयमें यह प्रमाण सिद्ध है कि भ्रमरके अध्याससे कीटकको भ्रमरका रूप प्राप्त हो जाता है—अर्थात् अविद्यमान वस्तुका लाभ होता है । यदि यह बात सत्य है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है कि जो ब्रह्म-स्वरूप नित्य हमारे अंतःकरणमें, भीतर बाहर, सर्वत्र व्याप्त है उसकी प्राप्ति केवल उसका ध्यान करनेसे हो जाती है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि सर्वत्र ब्रह्म-भावनाका अभ्यास करनेसे मनुष्य स्वयं ब्रह्म-रूप हो जाता है ।

अब यह देखना चाहिए कि सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होनेके लिए कौन कौन साधन आवश्यक हैं । श्रीवसिष्ठने श्रीरामचंद्रको यह उपदेश किया है कि ब्रह्माभ्यास किस प्रकार करना चाहिए । संक्षेपमें उसी विषयका निरूपण यहाँ किया जायगा ।

भव्योसि चेत्तदेतस्मात्सर्वमाप्नोषि निश्चयात् ।
नो चेद्ब्रह्वपि संप्रोक्तं त्वया भस्मनि हूयते ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् हे रामचंद्र, यदि तुम ऐसी भावना करोगे कि यह सारा जगत् परमात्मा-रूप ही है तो तुम परमात्म-रूप ही हो जाओगे । तुम 'भव्य' अर्थात् साधन-चतुष्टय-संपन्न हो, इस लिए सर्वत्र ब्रह्म-भावना

करने हीसे तुमको परमात्मता प्राप्त होगी। तुम तो स्वयं ब्रह्म ही हो; यह कहना केवल औपचारिक है कि तुमको 'परमात्मता प्राप्त होगी'। साधन-चतुष्टयसे चित्त-शुद्धि होती है। इसके बाद सर्वत्र ब्रह्म-भावना करनेसे ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होती है। यदि यह बात ध्यानमें न रक्खी जाय और सहस्रावधि अन्य उपाय किये जायँ तो सब परिश्रम भस्ममें होम करनेके समान व्यर्थ हो जाते हैं। यदि दर्पण स्वच्छ होगा तो उसमें प्रतिबिंब देख पड़ेगा; मलिन दर्पणमें प्रतिबिंब कभी देख नहीं पड़ता। अत एव सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन होनेके लिए चित्त-शुद्धि ही मुख्य कारण है। यदि साधन-चतुष्टय-द्वारा अंतःकरणकी शुद्धि न की जायगी तो अन्य सब उपाय निष्फल हो जायँगे। चित्त-शुद्धिके बिना गुरुमें गुरुत्व देख नहीं पड़ता और महा-वाक्यमें अर्थ देख नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि जब तक अंतःकरण निर्मल न होगा तब तक ब्रह्म-प्राप्तिकी इच्छा करना व्यर्थ है।

श्रीवसिष्ठ कहते हैं, हे रामचंद्र, तुमको यह ज्ञान हो गया है कि सर्वत्र ब्रह्म-भावना करनेसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है, इस लिए अब यह बताते हैं कि ब्रह्माभ्यास किस प्रकार करना चाहिए।

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

—लीलोपाख्यान।

अर्थात् जब तुम अकेले होगे तब एकांतमें ब्रह्म-स्वरूपका चिंतन करते रहो; जब तुम्हारे पास कोई शिष्य आवे तब उसको आत्म-स्वरूपका उपदेश करो; जब तुम्हारे समान कोई ज्ञानी पुरुष मिले तब परस्पर ब्रह्म-निरूपण करना चाहिए और इस बातका कभी विस्मरण होने न देना चाहिए कि सब पदार्थोंमें अधिष्ठान-रूप एक ही वस्तु है। इसी एक विचारमें सदा निमग्न रह कर ब्रह्माभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यासमें

प्रपंचके अनुसंधानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । यदि इस अभ्यासमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित हो तो मनोनाश, वासना-क्षय आदि पूर्व-निरूपित साधनोंका अवलंब करना चाहिए ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें इस बातका निरूपण किया गया है कि इस ब्रह्माभ्यासको दृढ़ और अखंड कैसे करना चाहिए । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥

—भगवद्गीता ।

अर्थात् जब साधक अकेला रहे तब उसको अपनी चित्त-वृत्ति मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट करनी चाहिए और ऐसी स्थितिमें रहनेका अभ्यास करना चाहिए कि फिर चित्त-वृत्ति विषयोंमें आसक्त होने न पावे । यदि प्राणावरोधसे मन स्थिर न हो सके तो मुझे प्राण ही समर्पण कर देना चाहिए । प्राण शब्दसे इंद्रियोंका अर्थ ग्रहण किया जाय तो तात्पर्य यह निकलता है कि मन-सहित सब इंद्रियोंका नियमन करके मेरे स्वरूपमें अर्पण कर देना चाहिए । मेरे स्वरूपमें मन-सहित इंद्रियोंको अर्थात् प्राणको अर्पण कर देनेसे सहज ही मद्रूपता प्राप्त हो जायगी । मद्रूपता प्राप्त होने पर जो आनंदानुभव होगा वह केवल अवर्णनीय है । उस परमानंदके सामने सारे विश्वके विषय-सुख क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इस आनंदका अनुभव करते समय विश्वकी स्फूर्ति ही नहीं होती। जब साधक एकांतमें नहीं रहता और किसी ज्ञानी या साधु-पुरुषका समागम होता है तब दोनोंको आपसमें मेरे ही स्वरूपका निरूपण करना चाहिए । इस उपायसे दोनों ब्रह्मानंदमें निमग्न हो जायँगे । जब साधु-पुरुष आपसमें मेरे स्वरूपका निरूपण करते हैं तब वे देहादि सब प्रापंचिक भान भूल जाते हैं, यहाँ तक कि अंतमें उनका बोलना बंद हो जाता है और केवल आनंद-रूप होकर वे स्तब्ध

हो जाते हैं। यदि कोई सच्छिष्य मिले तो अत्यंत प्रेम और उत्साहसे उसको मेरे स्वरूपका उपदेश करना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ शुद्ध भावसे मेरे स्वरूपका वर्णन किया जाता है वहाँ मैं स्वयं प्रकट होता हूँ। उक्त चार प्रकारका अभ्यास नित्य निरंतर करते रहनेसे साधकको मेरे सिवाय और कुछ देख ही नहीं पड़ता—उसको अन्य किसी विषयकी स्फूर्ति नहीं होती—वह मेरे स्वरूपमें निमग्न होकर मद्रूप ही हो जाता है। इस श्लोकमें 'नित्य' अर्थात् निरंतर शब्द बहुत महत्त्वका है। उसका यथार्थ भाव अंतःकरणमें सदा जागृत रहना चाहिए। जिस स्थितिमें अंतर या खंडता रत्तीभर भी न हो उसको **निरंतर** समझना चाहिए। उक्त प्रकारका ब्रह्माभ्यास करते समय चित्तमें एक क्षणका भी अंतर या खंड या अवकाश न होने देना चाहिए—मनको विषयोंकी ओर क्षणभरके लिए भी जाने न देना चाहिए। जब इस प्रकार निरंतर ब्रह्माभ्यास किया जायगा तब असंभावनादि सब दोष नष्ट हो जायँगे और शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान प्रकट होगा। इस ज्ञानके प्रकाशसे साधक ब्रह्मानंदमें निमग्न होकर केवल ब्रह्ममय हो जाता है। इस ब्रह्माभ्यासका फल भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा है:—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते॥

—भगवद्गीता।

इसका भावार्थ यह है कि जो अत्यंत प्रेमसे सतत अर्थात् निरंतर मुझे भजते हैं उन्हें मैं ऐसा ज्ञान देता हूँ कि जिसके योगसे वे मेरी प्राप्ति कर लेते हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि परब्रह्मका ज्ञान किस उपायसे होगा? प्रत्यक्ष देख पड़नेवाला देह और तत्संबंधी प्रपंच मिथ्या कैसे मानें? जब यह सारा संसार प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर हो रहा है तब

उसको मिथ्या मान कर परमात्माका दर्शन कैसे करें? इसका उत्तर यह है कि आत्मानुभवको दृढ़ और अखंड करनेके लिए निम्न तत्त्व सदा ध्यानमें रखना चाहिए:—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं तत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् 'नेति नेति' श्रुति-वचनोंसे दृश्य-मात्रका निषेध किया जाता है। जो कुछ हम देखते या सुनते हैं वह ब्रह्म नहीं है। जिस पदार्थको आकार प्राप्त हुआ है अथवा जिसकी उत्पत्ति होती और विनाश होता है वह नश्वर है—वह ब्रह्म नहीं है। श्रुतिमें कहा है कि स्थूल-देह, लिंग-देह आदि सब दृश्य पदार्थ नाशवान् हैं। पंच महाभूतोंके समुदायको **स्थूल-देह** कहते हैं। चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, जिव्हा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेंद्रियाँ; कर, चरण, जिव्हा, गुद और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण; तथा मन, बुद्धि, अहंकार आदिके सूक्ष्म-रूप मिल कर **लिंग-देह** बनता है। इस परसे यह बात प्रकट होती है कि स्थूल या लिंग-देह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म तो केवल साक्षि-स्वरूप है। जो किसी पदार्थका द्रष्टा है वह स्वयं दृश्य नहीं हो सकता। द्रष्टा और दृश्य दोनों भिन्न हैं। इस प्रकार नेति नेति श्रुति-वचनोंके आधार पर सब दृश्य पदार्थोंका निरास करके जो साक्षी शेष रहता है वही स्वयं-प्रकाश आत्मा है। जिसके अज्ञानसे विश्वका आभास होता है और जिसके ज्ञानसे सबका निरास हो जाता है उसीको परमानंददायक ब्रह्म-स्वरूप जानना चाहिए। श्रुतिसे भी जिसका निराकरण नहीं हो सकता, इंद्रियों द्वारा जो जाना नहीं जा सकता और सब दृश्यका निषेध करने पर जो साक्षि-रूप शेष रहता है वही परमात्मा है।

इस विषयके संबंधमें सुरेश्वराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद्के वार्तिकमें विस्तृत विवेचन किया है। उसका सारांश यह है:—

अध्यात्मादिपदार्थेभ्यो विरक्तं स्वात्मनि स्थितम्।
तन्न पश्यंत्यहो कष्टं दौर्भाग्यं दुष्टचेतसाम्॥
—वार्तिक।

अर्थात् आत्म-स्वरूप अध्यात्मादि पदार्थोंसे भिन्न, दृश्य-मात्रसे भिन्न और निर्मल है। यदि इस आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति करना हो तो किसी साधनका अवलंब न करते हुए केवल अपने हृदयमें उसको देखना चाहिए। विरक्त होकर यदि हम अपने हृदयमें आत्म-स्वरूपका ध्यान करें तो वह तुरंत ही प्रकट होता है। यद्यपि आत्मा इस प्रकार स्वयं-सिद्ध, प्रत्यक्ष और स्व-प्रकाश है तथापि भाग्य-हीन लोग उसे जानते नहीं। यह बड़े दुखकी बात है! अज्ञानी लोगोंका नसीब ही टेढ़ा होता है! वे अपने प्रत्यक्ष आत्म-स्वरूपका त्याग करके केवल नश्वर पदार्थोंमें आसक्त रहते हैं।

प्रत्यक्षगोचरं देवं लोकं चातिप्रमादितम्।
दृष्ट्वा श्रुतिः शिरस्ताडमनुक्रोशति दुःखिता॥
—वार्तिक।

प्रत्यक्ष-गोचर देवका त्याग करके लोग मोहमें कैसे फँसे पड़े हैं! आत्मा स्वयं-प्रकाश है। वही सब दृश्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है। जब लोग यह कहते हैं कि हमें ब्रह्मका ज्ञान नहीं है तब उनके अज्ञानमें भी आत्मा हीका प्रकाश रहता है। इस अज्ञानमें और सुषुप्तावस्थाके अज्ञानमें भेद है। सुषुप्तावस्थाके अज्ञानमें किसी प्रकारका भान ही नहीं रहता; परंतु उक्त अज्ञानमें भान सदा बना रहता है। जिसके योगसे यह भान जागृत रहता है वही परमात्माका रूप है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-गोचर आत्माका निवास निरंतर हमारे हृदयमें बना है; परंतु हम अपनी

मूर्खताके कारण उसको नहीं जानते। इस लिए श्रुति-माता अत्यंत विव्हल और दुखित होती है।

प्रत्यक्षतममप्येनं विनमस्कतया स्थितम्।
अहो कष्टं न पश्यंति कं याम शरणं वद॥

—वार्तिक।

पदार्थोंके तीन भेद हैं—पहला प्रत्यक्ष, जैसे घट, पट, देह आदि; दूसरा प्रत्यक्षतर, जैसे मन, बुद्धि आदि; और तीसरा प्रत्यक्षतम, जैसे आत्मा जो सबका साक्षी और स्वयं-प्रकाश है। घट-पटादि प्रत्यक्ष पदार्थ जड़ हैं; क्योंकि न तो वे स्वयं-प्रकाश हैं और न किसी अन्य पदार्थको प्रकाशित कर सकते हैं। आत्मा इस प्रकार जड़ नहीं है—वह स्वयं-प्रकाश है और अन्य सब पदार्थोंको वही प्रकाशित करता है। खेदकी बात है कि हम लोग अज्ञानी होनेके कारण उस परमात्माके स्वरूपको जानते नहीं। जैसे हाथमें पहरे हुए कंकनको दर्पणमें देखनेकी इच्छा करना मूर्खताका लक्षण है या जैसे अपने मुखसे लोगोंको यह पूछना व्यर्थ है कि हमारी जिव्हा है या नहीं, उसी तरह अपने हृदयमें परमात्माका निवास रहते हुए उसके विषयमें अज्ञानी बने रहना केवल दुर्भाग्यकी बात है। इस विवेचनका तात्पर्य यह है कि दृश्यका निरास करने पर जो शेष रह जाता है उसीको परमात्माका स्वरूप जानना चाहिए।

अब इस बातका विवेचन किया जायगा कि संप्रज्ञात समाधिमें त्रिपुटिका जो भान सदा बना रहता है उसका नाश कैसे किया जाय। ध्याता, ध्येय और ध्यान इस त्रिपुटिका त्याग करके जब यही एक भावना दृढ़ की जायगी कि 'मैं एक हूँ' तब ब्रह्म-रूपता पूर्ण होगी। बृहदारण्यकमें कहा है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' भावनाका अभ्यास करनेसे साधकको परमात्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। ब्रह्म एक और अखंडाकार

है; उसमें त्रिपुटिकी कल्पना करना बहुत बड़ा दोष है। जो लोग इस सृष्टिमें नानाविध विभाग-कल्पना करते हैं वे किस दोषके भागी होते हैं सो कहा नहीं जा सकता। अखंडाकार एक ब्रह्ममें ईश्वरत्वकी कल्पना करके उसको ध्येय मानना और अपने तंई जीव मान कर ध्याता होना ही अखंडितको खंडित करना है। इस विभाग-कल्पनाका त्याग कर देना चाहिए। यदि जीवात्माका संशोधंन किया जाय तो मालूम होगा कि वह परमात्मा ही है और उन दोनोंमें भिन्नता कुछ भी नहीं है। जीव और शिवकी अथवा जीवात्मा और ईश्वरकी अभिन्नता सिद्ध करनेके लिए प्रथम दोनोंके विशिष्ट गुणोंका त्याग करना चाहिए। अर्थात् परिच्छिन्नता, किंचिज्ञता, कर्तृता, भोक्तृता आदि जितने जीवके धर्म हैं उनको तथा सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वज्ञता आदि जितने ईश्वरके धर्म हैं उनको छोड़-देनेसे शुद्ध जीव और ईश्वरकी एकता प्रतीत होती है। जब यही एकताकी प्रतीति अभ्यास द्वारा दृढ़ और स्थायी हो जाती है तब त्रिपुटिका भेद आप-ही-आप नष्ट हो जाता है और यह अनुभव सदा जागृत रहता है कि मैं ही स्वयं परमात्म-स्वरूप हूँ। तात्पर्य यह है कि ध्याता, ध्येय और ध्यानकी त्रिपुटिका नाश जीवात्मा और परमात्माकी अभिन्न भावनासे करना चाहिए; और यदि ध्यान करना ही है तो इस प्रकार होना चाहिए:—

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिंतनं ध्यानमुच्यते।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते॥

—योगवासिष्ठ।

इसमें समाधि और ध्यानके लक्षण बताये गये हैं। त्वंपदका संशोधन करने पर जो निरुपाधिक और शुद्ध चिद्रूप शेष रहता है वही मैं हूँ, इस प्रकारके चिंतनको ध्यान कहते हैं। इस ध्यानका अभ्यास करते समय चित्त कुछ काल तक स्व-स्वरूपाकार हो जाता है; परंतु जब वह वहाँसे

निकल कर फिर प्रपंचाकार होने लगता है तब उसका निग्रह करके स्व-स्वरूपमें स्थिर करना चाहिए। जब इस ध्यानाभ्यासका पूर्ण विस्मरण हो जाता है और चित्त स्व-स्वरूपमें लीन होकर वहीं दृढ़ता पूर्वक स्थिर रहता है तब उस स्थितिको समाधि कहते हैं।

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्याद् ध्यानाभ्यासात्प्रकर्षतः॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब ध्यानका अभ्यास परिपूर्ण हो जाता है तब यह अनुसंधान आप-ही-आप छूट जाता है कि 'मैं जीव हूँ।' अहंकारका त्याग करने पर जब चित्त-वृत्तिका प्रवाह अखंड-रीतिसे ब्रह्माकार हो जाता है और जब उस अवस्थामें स्थिरता उत्पन्न हो जाती है तब संप्रज्ञात समाधिका अनुभव प्राप्त होता है। चित्तके स्व-स्वरूपाकार हो जाने पर प्रपंच या प्रकृतिका भान सर्वथा नष्ट हो जाता है। इसी स्थितिको **उन्मनी** कहते हैं। जब संकल्प और विकल्प छूट जाते हैं तब सहज ही चित्तका चित्तपन नष्ट हो जाता है और संसारादि भयका लोप हो जाता है। इस परसे यह बात सिद्ध है कि यदि चित्तमें चित्तपन होगा तो दृश्यका स्फुरण अवश्य होगा और शोक-मोहादि विकार भी उत्पन्न होंगे। बृहदारण्यकमें कहा है—कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव; अर्थात् काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, धैर्य, लज्जा, भय आदि सब मन हीके विकार हैं। जब मनका अभाव हो जाता है—जब चित्तका चित्तपन नष्ट हो जाता है—तभी इन सब विकारोंका नाश होता है, अन्यथा नहीं। वेदान्त-शास्त्रमें उन्मनी नामक जिस अद्भुत अवस्थाका वर्णन किया गया है वह यही है। योगीजन मुक्त होकर सदा इसी अवस्थामें निमग्न रहते हैं। इस विषयमें यह श्लोक स्मरण रखने योग्य है:—

कल्पान्तवायवो वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः ।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षितिः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् यदि कल्पान्त समयकी वायु एकत्र होकर जोरसे चलने लगे और त्रिभुवनको आकाशमें उड़ा ले जाय तो भी ब्रम्ह-निष्ठ पुरुष भयभीत नहीं होता । यदि सातों समुद्र एकत्र होकर सारे विश्वको डुबा दें तो भी अमनस्क योगीको उसकी कुछ परवाह नहीं होती । यदि द्वादश सूर्य एकत्र होकर अपने प्रचंड तेजसे ब्रह्माण्डको भस्म करने लगें तो भी आत्म-निष्ठ महात्माका चित्त विकार-वश नहीं होता । जिसका मन आत्म-स्वरूपमें लीन हो गया है उसको प्रकृति-जन्य किसी प्रकारके विकार बाधक नहीं हो सकते । दृश्य पदार्थोंकी प्रतीति केवल मन हीके कारण उत्पन्न होती है; चराचर सृष्टिकी सत्यता केवल मन हीसे प्रतीत होती है; सारा प्रपंच मन हीका उत्पन्न किया हुआ है और उसमें उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ आदि भिन्न भिन्न कल्पनाएँ भी मन हीने निर्माण की हैं । इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य, मनःकल्पित संसारमें फँस कर किसी एक पदार्थसे लज्जित होता है, किसी दूसरे पदार्थसे भयभीत होता है, किसी अन्य पदार्थके विषयमें शंकित होता है, किसीसे दुखित होता है और किसीसे सुखी होता है । परंतु जब वही मन आत्म-रूपमें स्थिर हो जाता है उस दशामें उसको महा-प्रलयका भी कुछ भय नहीं होता । जिस मनके कारण विविध भाँतिका भेद-भाव उत्पन्न होता है वही जब आत्म-स्वरूपमें लीन होकर नष्ट हो गया तो उस अवस्थामें प्रकृतिकी उत्पत्ति और प्रलयका स्मरण तथा चिंतन कैसे हो सकता है ? ज्यों ही मन आत्म-स्वरूपमें निमग्न होता है त्यों ही सच्चिदानंद परमात्माका ज्ञानमय प्रकाश अंतर्बाह्य सर्वत्र देख पड़ने लगता है । यही उन्मन-स्थितिका लक्षण है ।

आत्म-स्वरूप-ज्ञान-रविका उदय होने पर देहात्म-बुद्धि-रूप अज्ञानांधकार कैसे नष्ट हो जाता है सो निम्न श्लोकमें दृष्टांत-सहित बताया गया है:—

अहिनिर्बल्नीमहिरात्मतया जगृहे परिमोक्षणतस्तु पुरा ।
परिमुंचति तामुरगः स्वबिले न निरीक्षति चात्मतया नु पुनः ॥

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात् जब तक साँप अपने शरीर परकी काँचलीको अपना शरीर ही समझता है और उसकी रक्षा करता है तब तक उसके संगसे वह सुख-दुःखका भागी होता है; परंतु जब वह उस काँचलीका त्याग कर देता है तब उसके संबंधमें उसका ममत्व और स्वत्व सब नष्ट हो जाता है । इसके बाद यद्यपि अपने बिलमें आने-जानेके समय यह उस काँचलीको देखता है तथापि वह उसकी कुछ परवाह नहीं करता—उसके विषयमें ममत्व या स्वत्व-वृत्तिका स्वीकार नहीं करता । यही हाल ज्ञानी पुरुषका होता है । उसने अपनी अज्ञान-दशामें जिस देहको स्वकीय मान लिया था उसके संबंधमें आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होते ही वह विरक्त हो जाता है । आत्म-स्वरूप-चिद्भानुका प्रकाश होते ही क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जन्म मृत्यु आदि देह-संबंधी सब उर्मियाँ शांत हो जाती हैं । क्षुधा और तृषा प्राण-संबंधी धर्म हैं, शोक और मोह मन-संबंधी धर्म हैं, जन्म तथा मृत्यु देह-संबंधी धर्म हैं,—आत्माका इनसे कोई संबंध नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय करके ब्रह्म-निष्ठ पुरुष इस षडूर्मि-युक्त शरीरको अपना नहीं मानता, वह केवल साक्षि-रूपसे आत्मानंदमें निमग्न रहता है ।

अब संक्षेपमें इस बातका वर्णन किया जायगा कि सर्वत्र ब्रह्म-दर्शनके लिए क्या करना चाहिए—सहज-स्थितिका अनुभव निरंतर कैसे लेते रहना चाहिए । सबके पहले इस सिद्धान्त पर पूर्ण निष्ठा और दृढ़ विश्वास चाहिए कि सारा विश्व ब्रह्म-रूप है, इस संसारमें ब्रह्मके अतिरिक्त और कोई पदार्थ सत्य नहीं है, जो कुछ है या नहीं वह सब ब्रह्म

ही है। जैसे आकाशमें वायु सर्वत्र व्याप्त होती है, जैसे कपासमें वस्त्र होता है, जैसे सुवर्णमें अलंकार होते हैं, जैसे ऊखमें शक्कर होती है, जैसे दूधमें मक्खन होता है, जैसे तिलमें तेल होता है, वैसे ही एक ब्रह्ममें यह विश्व समाया है। संपूर्ण सृष्टिका अधिष्ठान केवल एक ब्रह्म ही है। इस लिए प्रथम सब प्रकारके भेद-भावोंका निरसन करना चाहिए, अनंतर एकात्म-भावसे स्व-स्वरूपकी सिद्धि करनी चाहिए, तब सर्वत्र ब्रह्म ही परिपूर्ण देख पड़ेगा।

सौम्यांभसि यथा वीचिर्न चास्ति न च नास्ति च।
तथा जगद्ब्रह्मणीदं शून्याशून्यपदं गतम्॥

—योगवासिष्ठ।

अर्थात् समुद्रका जल कभी तो शांत और गंभीर देख पड़ता है और कभी तरंगोंके कारण वह विविध भाँतिका देख पड़ता है। समुद्रमें तरंग चाहे रहें या न रहें; परंतु सब जल एक ही है। ठीक इसी तरह चाहे विश्व रहे या न रहे; परंतु ब्रह्म सदा सर्वत्र है ही। भेद-दृष्टिसे विश्व देख पड़ता है और ज्ञान-दृष्टिसे केवल एक ब्रह्म ही देख पड़ता है। दर्पणमें देखनेसे दूसरा मुख देख पड़ता है, यथार्थमें मुख तो एक ही है। दर्पणमें कुछ नया मुख उत्पन्न नहीं होता; अथवा यदि दर्पणमें न देखें तो मुख छिपता भी नहीं। इस परसे यह बोध होता है कि दर्पण-रूप उपाधिके कारण एक मुखके दो मुख देख पड़ते हैं। इसी तरह अज्ञान-रूप उपाधिके भेदसे एक अखंडाकार वस्तु (ब्रह्म) में द्वैत-बुद्धि उत्पन्न होती है और यह विश्व विविध प्रकारका देख पड़ता है। यदि इस उपाधिका त्याग कर दिया जाय तो भेद-बुद्धि न रहेगी और केवल एक निरूपाधिक ब्रह्मका दर्शन होगा। उपाधिके कारण यद्यपि अनेक अवयव, अनंत रूप, विविध आकार और भिन्न भिन्न नाम व्यक्त होते हैं तथापि अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे

ये सब भेद नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होगा कि मन, बुद्धि-प्राण, इंद्रिय, देह, इंद्रिय-व्यापार आदि सब ब्रह्म-रूप ही हैं। पाताल, मृत्यु-लोक, स्वर्ग, दिशा, विदिशा, नभो-मंडल आदि सब जगदाभास परमात्म-रूप ही हैं। छांदोग्योपनिषद्में कहा है—'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात् स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति'। तात्पर्य यह है कि स्त्री, पुत्र आदि सब नातेदार; देना, लेना, चलना, बोलना, निद्रा, भोजन करना आदि सब इंद्रिय-व्यापार परमात्म-स्वरूप ही हैं। श्रवण, श्रवणीय, श्रोता; भोग, भोग्य भोक्ता; ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान; ध्याता, ध्येय, ध्यान; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि सब प्रकारकी त्रिपुटियाँ ब्रह्म-रूप ही हैं। जितने पदार्थ हम देखते और सुनते हैं, जिन जिन पदार्थोंकी हम बास लेते हैं वे सब परमात्म-रूप हैं। हाथोंसे देना-लेना, पाँवसे आना-जाना, मनसे संकल्प-विकल्प करना, बुद्धिसे निश्चय करना आदि कोई व्यवहार ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यदि हम समुद्रमें जल डालना चाहें तो वह पहले हीसे जल-पूर्ण है; यही दशा हमारे सब व्यवहारोंकी है।

> किं करोमि क्व गच्छामि किं गृण्हामि त्यजामि किम्।
> आत्मना पूरितं सर्वं महाकल्पाम्बुना यथा ॥
>
> —योगवासिष्ठ।

अर्थात् जब शरीर, इंद्रियाँ, इंद्रियोंके व्यापार आदि सब पदार्थ ब्रह्म-रूप हो गये तब और क्या रह गया जो ब्रह्मसे भिन्न हो? कुछ नहीं। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कर्तव्य है या अमुक अकर्तव्य है। जिस तरह प्रलय-कालके जलसे सारा विश्व भर जाता है उसी तरह यह संसार केवल एक आत्मासे व्याप्त देख पड़ता है। सर्वत्र ब्रह्मके सिवाय और किसी वस्तुका दर्शन नहीं होता। इसलिए हम वस्तुतः जैसे हैं वैसे ही रहना चाहिए, इससे सदा सहज-स्थितिका अनुभव होता रहेगा।

तीसरा भाग ।

पहला प्रकरण ।

ईश्वर-प्रणीत धर्म-ग्रन्थ ।

सर्वेऽत्र सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

भारतखंडके निवासी आर्य-लोगोंके ईश्वर-प्रणीत धर्म-ग्रंथको **वेद** कहते हैं । वेद अनादि, अनंत और नित्य हैं । वैदिक-धर्मका मुख्य प्रमेय यह है कि वेद सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले निर्मित हुए । सब ज्ञान और विद्याओंका मूल वेदमें है । वहींसे सब विद्याएँ, साक्षात् अथवा परंपरासे, उत्पन्न हुईं और फिर उनकी वृद्धि हुई । इस दुनियाके सब ग्रंथोंमें सत्यका जो अंश है उसका संबंध परंपरा-रूपसे वेदों हीके साथ है ।

तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वर्णित भरद्वाज ऋषिकी कथासे यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि वेद अनंत है । उन वेदोंमेंसे जितने उपलब्ध हुए उनको एकत्र करके श्रीमद् व्यास मुनिने ऋक्, यजुस्, साम और अथर्व नामके चार भागोंमें विभक्त किया और उनके काण्ड, शाखोपशाखा आदि अनेक वर्ग बनाये । इनमें कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों काण्ड वेदके अत्यंत महत्त्वके अवयव हैं—यथार्थमें यही भारतीय आर्य-धर्मके प्राण हैं । इसी तरह सब उपनिषदोंकी सार-भूत श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही तीन विभाग हैं, जो अनुक्रम-पूर्वक त्वम्पदार्थ, तत्पदार्थ और उनके ऐक्यके ज्ञापक हैं ।

अब इस बातका विचार करना चाहिए कि वेदोंकी उत्पत्ति ईश्वरसे कैसी हुई । देखिए—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—पुरुषसूक्त ।

अर्थात् उस सर्वहुत (सर्व-पूर्ण) पुरुषसे ऋग्वेद, सामवेद, छंदांसि (अथर्ववेद) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए । उक्त मंत्रमें यज्ञ शब्द विष्णुका वाचक है । **शतपथ ब्राह्मणमें यह प्रमाण है कि** "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् सर्व-व्यापक भगवान् विष्णुको यज्ञ कहते हैं । तात्पर्य यह है कि उस सर्व-व्यापक परमेश्वरसे चराचर सृष्टि उत्पन्न हुई और मनुष्यकी सहायताके लिए, जो इस सृष्टिके विषयमें विचार करनेको समर्थ है, वेद भी उसी परमेश्वरसे उत्पन्न हुए । और देखिए—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ।
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः ॥

—शतपथ ब्राह्मण ।

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ।
यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः ॥

—बृहदारण्यक ।

शतपथ ब्राह्मणके मंत्रका अर्थ यह है—याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं "हे मैत्रेयि, उस महत् परमेश्वरसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद श्वासोच्छ्वासके समान सहज ही प्रकट हुए ।" जैसे मनुष्यका श्वास सहज ही भीतरसे बाहर निकलता है और फिर भीतर चला जाता है उसी तरह वेद, सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले, परमेश्वरसे सहज उत्पन्न होते और सृष्टिके अंतमें (प्रलयके समय) उसी परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं । 'वेद सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले उत्पन्न हुए' इस बातसे यह भी प्रकट होता है कि मनुष्य जाति पर परमेश्वरका कितना प्रेम है । मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति यह है—" मननात् मनुष्यः " अर्थात्

जो मनन कर सकता है उसको मनुष्य कहते हैं। यद्यपि मनुष्य विचार करनेको समर्थ है—यद्यपि वह इस सृष्टिके घटना-चातुर्यका भोक्ता और तन्नियामक शक्तियोंका ज्ञाता है—तथापि यदि उसको एक ऐसे निर्जन वनमें रख दिया कि जहाँ मृत्यु-पर्यंत वह किसीका एक शब्द भी सुनने-न पावे तो उसको कुछ भी ज्ञान प्राप्त न होगा। यदि सृष्टिके आरंभ-में वेदोंकी उत्पत्ति हुई न होती तो अब तक सब मनुष्य पशुके समान बने रहते। वर्तमान समयमें साहित्य-रूपसे या अन्य प्रकारसे जो ज्ञान देख पड़ता है सब वैदिक-ज्ञानके उपदेशका साक्षात् अथवा परंपरागत फल है। इसमें संदेह नहीं कि परमेश्वरने मनुष्यको मन और बुद्धि नामक दो सामर्थ्यवान् शक्तियाँ दी हैं; परंतु उनमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वेदकी सहायताके बिना वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चतुर्विध पुरु-षार्थका संपादन कर सकें। इस परसे वेदोंके महत्त्वके साथ यह बात भी ध्यानमें आ जाती है कि मनुष्य-जाति पर परमेश्वरका कितना प्रेम है।

मनुष्यका सब ज्ञान केवल परावलंबी है। जैसे बिना मनकी सहायताके न तो आँखें कुछ देख सकती हैं और कान कुछ सुन सकते हैं; वैसे ही मनुष्यका स्वाभाविक ज्ञान चतुर्विध पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए वैदिक-ज्ञानकी सहायताके बिना असमर्थ है। मनुष्यकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनकी सहायताके बिना विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ कैसी हो जाती हैं सो देखिए—

अन्यत्रमना अभूवं नादर्शनम्।
अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्॥

—बृहदारण्यक।

अर्थात् चक्षुरिन्द्रियको जो विषय ग्राह्य हैं उनके उपस्थित रहने पर भी वे मुझे देख नहीं पड़े; कर्णेन्द्रियको जो विषय ग्राह्य हैं उनके उप-

स्थित रहने पर भी वे मुझे सुन नहीं पड़े; क्योंकि मेरा मन अन्य कार्यमें लगा हुआ था। यदि मन स्थिर न हो या किसी उपाधिके कारण यदि व्यापार-विमुख हो जाय तो सारी ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित रहने पर भी न रहनेके समान ही हो जाती हैं—यह सिद्धान्त बड़े महत्त्वका है और यही कारण है कि आत्म-विद्यामें मनको ज्ञान-साधनी-भूत छठी इंद्रिय कहते हैं। सारांश यह है कि जैसे मनकी सहायताके सिवाय ज्ञानेन्द्रियाँ निरुपयोगी हो जाती हैं वैसे ही परमेश्वरीय ज्ञान (वेद) के सिवाय मन और बुद्धि चतुर्विध पुरुषार्थके संपादनमें असमर्थ हो जाती हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ है। उसके पास अनंत विद्याएँ हैं, जो मनुष्य जातिके लिए हितदायक हैं और स्वयं परमेश्वरके लिए भी उपयुक्त हैं। परमेश्वर अत्यंत दयाशील है। जैसे पिता सदय अंतःकरणसे अपने बालकोंको उपयुक्त ज्ञानकी शिक्षा देता है वैसे ही परमेश्वरने मनुष्य-मात्रके हितके लिए वेदोंका उपदेश किया है। यदि वेद न होते तो किसी मनुष्यको परमानंदकी प्राप्ति न होती। सारे विश्वके पदार्थोंसे जो आनंद या सुख प्राप्त होता है। वह ब्रह्म-विद्यासे होनेवाले आनंद या सुखकी रत्तीभर समता कर नहीं सकता। ऐसी परमानंददायक ब्रह्म-विद्या परमेश्वरने अत्यंत दयालुतासे वेद-द्वारा मनुष्यको दी है।

जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि वेदोंकी उत्पत्ति ईश्वरसे हुई है तब इसमें संदेह नहीं कि वेद नित्य हैं अर्थात् त्रिकालाबाधित हैं और उनके सिद्धान्त सर्व-व्यापक हैं; क्योंकि ईश्वरका सामर्थ्य नित्य है—ज्ञानमय ईश्वरीय वेदोंका कभी नाश नहीं होता। जिस पृष्ठ पर या जिन अक्षरोंसे वे लिखे गये होंगे उनका यद्यपि नाश हो जाय तथापि वेदान्तर्गत ज्ञान कदापि नष्ट नहीं होता। अथवा पठन-पाठन-परंपराका लोप हो जानेसे भी वह ईश्वरीय ज्ञान नष्ट नहीं होता। इसका कारण यह है कि ईश्वरके पास वेद-ज्ञान सदा विद्यमान रहता है—वह स्वयं वेद-रूप

अर्थात् ज्ञान-रूप है। ईश्वरीय ज्ञान नित्य और अव्यभिचारी है, इस लिए वेदोंका शब्दार्थ-संबंध जैसा वर्तमान समयमें देख पड़ता है वैसा ही वह पूर्व-कल्पोंमें था और वैसा ही भविष्यमें भी रहेगा। देखिए—

सूर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत।

—पुरुषसूक्त।

इसका अर्थ यह है—पूर्व-कल्पोंमें परमेश्वरने सूर्य, चंद्र आदि सब सृष्टिकी जैसी रचना की थी वैसी ही उसने इस सृष्टिकी भी की है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण है अर्थात् उसका कभी नाश नहीं होता और उसकी कभी वृद्धि भी नहीं होती। अत एव सृष्टि-रूप उसके कार्यमें निरंतर समानता बनी रहती है। वेदोंकी नित्यताके विषयमें यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है "शास्त्रयोनित्वात्।" इसका अर्थ यह है—ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं वे सब सत्य विद्याको प्रकाशित करते हैं, इस लिए सर्वज्ञ ईश्वरके सिवाय और कोई उनका कर्त्ता नहीं हो सकता। व्याकरणादि एकदेशीय शास्त्र पाणिनि जैसे मुनियोंके द्वारा निर्माण हो सकते हैं; क्योंकि कोई जीव विशिष्ट संस्कारोंके योगसे किसी शास्त्रमें पारंगत हो सकता है; परन्तु वेद अनन्त विद्या-युक्त हैं, इस लिए उनका कर्ता एक परमेश्वर ही है। उक्त सूत्र पर शंकराचार्यने जो भाष्य लिखा है उसका यही सारांश है। इस परसे यह बात सिद्ध होती है कि वेद सर्वज्ञ ईश्वर-प्रणीत हैं, इस लिए वे सर्वार्थ ज्ञान-युक्त और नित्य हैं। इसी विषय पर दूसरा ब्रह्मसूत्र यह है—" अत एव च नित्यत्वम्।" अर्थात् वेद ईश्वर प्रणीत होनेके कारण स्वयं-प्रमाण, सर्वविद्या-युक्त और सदैव नित्य हैं। जब किसी युगके अन्तमें या प्रलयके समय वेदोंका लोप हो जाता है तब उनका पुनरुज्जीवन कैसे होता है सो देखिए—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा॥

—वेदव्यास।

अर्थात् जब युगके अन्तमें नानार्थवाद-युक्त मंत्र, ब्राह्मण आदिका लोप हो जाता है तब ब्रह्मदेवकी आज्ञासे मंत्र-द्रष्टा ऋषियोंको तपके द्वारा फिर वेदोंकी प्राप्ति होती है। 'ऋषि' शब्दकी व्युत्पत्ति ही यह है कि 'ऋषति वेदं पश्यति।' अर्थात् जो वेदोंका अर्थ जानते हैं, जिन्होंने वेदोंके अर्थका साक्षात्कार किया है, वही ऋषि हैं। जब ये ऋषिगण समाधि-द्वारा ईश्वरका ध्यान करते हैं तब उनको मन्त्रानुग्रह प्राप्त होता है।

उक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि वेद अनादि, अनंत और नित्य हैं। वेदोंमें जो अनेक विद्याएँ मूल-रूपसे उपस्थित हैं उनमें **आत्म-विद्या** सबसे श्रेष्ठ और मुख्य है। इसके विषयमें यह सिद्धान्त ध्यानमें रखना चाहिए कि आत्मा केवल वेदैकमेय है। अर्थात् आत्मा केवल वेद-प्रमाण हीसे जाना जा सकता है—वह किसी अन्य प्रमाणसे सिद्ध किया नहीं जा सकता। आत्मा अतीन्द्रिय वस्तु है, इस लिए उसकी प्रमितिके लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण असंभव है। इसी तरह तर्कशास्त्रमें जिसको लिंग (हेतु) कहते हैं उसका भी आत्मामें अभाव है, इस लिए उसको जाननेके लिए अनुमान-प्रमाण भी निरुपयोगी है। लिंग उस हेतुको कहते हैं जो किसी प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिए उपयुक्त होता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्'—पर्वत पर अग्नि है—यह प्रतिज्ञा है; इसकी सिद्धिके लिए 'धूमवत्त्वात्'—क्योंकि वहाँ धुँआ देख पड़ता है—यह हेतु या लिंग है। आत्माकी सिद्धिके लिए इस प्रकारका कोई हेतु या लिंग नहीं मिलता, इस लिए अनुमान-प्रमाण अनावश्यक है। आत्माके सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं है, इस लिए उपमान प्रमाण भी असंभव है। तात्पर्य यह है कि आत्माकी सिद्धि न तो प्रत्यक्ष-प्रमाणसे होती है, न अनुमान प्रमाणसे होती है न उपमान प्रमाणसे होती है; अत एव आत्माकी सिद्धि केवल शाब्द-प्रमाणसे की जाती है। न्यायसंग्रहमें लिखा है कि—

रूपलिंगादिराहित्यान्नास्य मान्तरयोग्यता।
तंत्वौपनिषदेत्यादौ प्रोक्ता वेदैकमेयता॥

—वैयासिक न्यायमाला।

अर्थात् आत्मामें रूप-रसादि नहीं हैं, इस लिए प्रत्यक्ष-प्रमाण असंभव है, लिंग या हेतु नहीं है, इस लिए अनुमितिकी आवश्यकता नहीं है और सादृश नहीं है, इस लिए उपमाका उपयोग नहीं है। अत एव आत्मा केवल वेदैकमेय है अर्थात् वह सिर्फ वेदोंसे (शब्द-प्रमाण-द्वारा) जाना जा सकता है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है कि "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं" और बृहदारण्यकमें यही बात इस प्रकार लिखी है "तंत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।" अर्थात्, जो वेद नहीं जानता उसको उस बृहत् (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, परब्रह्मका ज्ञान केवल उपनिषदोंसे प्राप्त होता है।

अब यह सोचना चाहिए कि वेद किसको कहते हैं, वेदका कोई लक्षण है या नहीं और वेदोंमें किन किन बातोंका समावेश किया जाता है। इस विषयमें भट्ट यज्ञेश्वर-विरचित आर्यविद्यासुधाकर नामक ग्रंथमें यह लिखा है कि—

"वेदो नाम वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मार्थकाममोक्षा अनेनेति व्युत्पत्त्या चतुर्वर्गज्ञानसाधनभूतो ग्रंथविशेषः। स च किं लक्षण इति चेत् 'मंत्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेय'—मिति आगमोक्तं तल्लक्षणं वेदितव्यम्। यो हि अव्यभिचरितस्वरवर्णादिपठनपाठनक्रमागतः सन् सर्वकालं सर्वदेशेषु प्रतिशाखमविभागेन वर्तमानः स एको मंत्रराशिः। अपरस्तु विधिनिंदा-प्रशंसासंप्रश्नाख्यानभूतः वाक्यनिचयो ब्राह्मणराशिः। अनयोरेकसंग्रहो वेद इत्यभिधीयते। वेदनिबंधेषु मंत्रब्राह्मणभागौ परस्परमसंमिश्रावेव प्रायः पठ्येते। क्वचित्तु ब्राह्मणसंमिश्रितोऽपि मंत्रभागः पठितोऽस्ति। एवमुभयात्मको वेदराशिरेकमूल एककर्मफलो महावृक्षो वरीवर्ति।" इसका अर्थ

यह है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थोंका सम्यग्-ज्ञान होनेके लिए साधनी-भूत ग्रंथ विशेषको वेद कहते हैं। आगमोक्त वेदका लक्षण यह है कि मंत्र और ब्राह्मणको वेद कहना चाहिए। इन-मेंसे 'मंत्र' उस शब्द-समूहका नाम है जिसमें स्वर और वर्ण हैं और जो अखिल भरतखंडमें सदासे पठन-पाठन-क्रम-द्वारा सब शाखाओंमें अव्याहत प्रचलित है; और 'ब्राह्मण' उस शब्द-राशिका नाम है जिसमें विधि, निंदा, प्रशंसा, प्रश्न, कथा इत्यादि रूपसे यह बताया गया है कि उक्त मंत्रोंका विनियोग कैसे करना चाहिए अर्थात् जो प्रायः उपव्याख्यानात्मक है। इन दोनोंके अर्थात् मंत्र राशि और ब्राह्मण-राशिके संग्रहको वेद कहते हैं। वेद-निबंधमें मंत्र-भाग और ब्राह्मण-भाग पृथक् पृथक् कहनेकी बहुधा परिपाटी है, कहीं कहीं दोनों भाग मिश्रित करके भी पढ़े जाते हैं। इस प्रकार मंत्र-ब्राह्मण-संयुक्त यह वेद-राशि मानो एक महान् वृक्ष है, जिसकी जड़ एक ही है और जिससे एक ही कर्मफल प्राप्त होता है।

निरुक्तकारने वेद शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है—

विदन्ति जानन्ति। विद्यन्ते भवन्ति। विन्दन्ति लभन्ते। विन्दते विचारयन्ति। सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

इसका अर्थ यह है—जिनकी सहायतासे सब मनुष्य सब सत्य-विद्या प्राप्त करते हैं, जिनमें लोग विद्वान् हो सकते हैं और जिनके कारण सब मनुष्य सत्य-विद्याके विषयमें विचार करनेके लिए समर्थ हो सकते हैं उन्हें वेद कहते हैं।

श्रीमद् विद्यारण्य स्वामीने अपने वेद-भाष्यों तथा अन्य ग्रंथोंमें उक्त विषयकी चर्चा अनेक स्थानोंमें और अनेक प्रकारसे की है। सकल विद्या-युक्त और अति गंभीर वेदोंका यथार्थ भाव जाननेके लिए छंद,

कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षा आदि छह वेदांगों तथा अठारह पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि चार उपांगोंकी अत्यंत आवश्यकता है । छह वेदांग और चार उपांग वेदार्थोपकारी अर्थात् वेदार्थ-सहायक ग्रंथ हैं । वेदांगोंके उपकारत्वका वर्णन रूपकालङ्कार-द्वारा इस प्रकार किया गया है—

छंदः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पस्तु पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

—शिक्षा ।

याज्ञवल्क्य स्मृतिमें चौदह प्रकारके विद्या-स्थान बताये गये हैं, जैसे—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

यदि उक्त वेदांगों और उपांगोंका अध्ययन किये बिना कोई अल्पज्ञ मनुष्य वेदोंका अर्थ जानने या कहनेका यत्न करेगा तो वह सफल न होगा । इतना ही नहीं, किंतु जब कोई अल्पज्ञ मनुष्य इस प्रकार यत्न करने लगता है तब वेद भयभीत हो जाते हैं कि यह हमें मार डालेगा । कहा है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥

—स्मृति ।

तात्पर्य यह है कि वेदोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए शिक्षादि षडङ्गोंका बहुत उपयोग होता है । इसी लिए उन्हें मुंडकोपनिषद्में ‘ अपरा विद्या ’ कहा है, जैसे—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

अर्थात् विद्या दो प्रकारकी हैं—एकको 'परा विद्या' और दूसरीके 'अपरा विद्या' कहते हैं। ऋग्वेदादि चार वेद और शिक्षादि छः अंगोंको अपरा विद्या कहते हैं; क्योंकि सर्व-साधन-भूत धर्मका ज्ञान उन्हींके द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु ज्ञानकांडांतर्गत विद्याको 'परा विद्या' कहते हैं; क्योंकि परम पुरुषार्थ-रूप परब्रह्मका ज्ञान उपनिषदोंके द्वारा प्राप्त होता है।

भारतनिवासी आर्योंका यह महद्भाग्य है कि श्रीमद्विद्यारण्य स्वामीने उक्त वेदांगों और उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके वेदार्थ-निर्णायक भाष्योंकी रचना की है। यदि श्रीमत् शंकराचार्य और विद्यारण्य स्वामी जैसे प्रतिभाशाली महात्माओंने श्रुतियोंके अर्थ और तदन्तर्गत सिद्धान्तोंका समन्वय न किया होता तो जन-समुदायको श्रुतियोंका रहस्य कदापि विदित न होता। श्रीमत् शंकराचार्यने केवल प्रस्थानत्रयी पर भाष्योंकी रचना की है और विद्यारण्य स्वामीने उनके रहस्योंका यथार्थ ज्ञान संपादन करके सभी वेदों पर भाष्य रचे और प्रसंगानुसार अनेक गहन विषयों पर स्वतंत्र तथा सुबोध प्रबंध भी लिखे हैं। स्वामीजीने अपने भाष्योंमें केवल टीका ही नहीं लिखी, किंतु अनेक वैदिक सिद्धान्तोंकी इस प्रकार चर्चा की है कि साधारण लोगोंकी बुद्धिमें भी सत्य ज्ञान प्रकाशित हो सकता है। ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय आरण्यक आदिके भाष्योंके आरंभमें आपने विस्तृत तथा प्रगल्भ निबंध लिखे हैं। उत्तरकांडके भाष्यमें आपने इस बातका भली भाँति निर्णय कर दिया है कि जैमिनीय और वैयासिक अधिकरणमालामें प्रतिपादित सिद्धान्तोंका ब्रह्मसूत्र, धर्मसूत्र और उपनिषद्वाक्योंसे पूरा पूरा मेल है।

इस प्रकार स्वामीजीकी अधिकार-सम्पन्न प्रतिभासे वेदार्थका निर्णय करनेवाले जो ग्रंथ निर्माण हुए हैं उनके आधार पर अब संक्षेपमें इस बातका विवेचन किया जायगा कि वेद किसे कहते हैं, वेदके कोई लक्षण हैं या नहीं और वेदोंमें किन किन विषयोंका समावेश किया जाता है।

लक्षणके दो भेद हैं। एकको **यौगिक** (Connotative) और दूसरेको **स्वरूप** (Denotative) कहते हैं। वेदका यौगिक लक्षण स्वामीजीने इस प्रकार कहा है:—

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकं उपायं यो ग्रंथो वेदयति स वेदः।

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् जो ग्रंथ इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट वस्तुका त्याग करनेका अलौकिक उपाय सिखाता है उसको वेद कहते हैं। यहाँ 'अलौकिक' पदसे प्रत्यक्ष और अनुमिति प्रमाणोंकी व्यावृत्ति की गई है। जैसे—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे भी मालूम नहीं होता वह वेदोंसे जाना जाता है, इस लिए वेदका वेदत्व सिद्ध होता है। अब वेदका स्वरूप—लक्षण—देखिए—

मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामध्येयम्।

कात्यायन।

अर्थात् 'मंत्र' और 'ब्राह्मण' को वेद कहते हैं। मंत्र और ब्राह्मण वेदके दो भाग हैं। उनके लक्षणोंके विषयमें भगवान् जैमिनी कहते हैं—

तच्चोदकेषु मंत्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः।

—पूर्वमीमांसादर्शन।

अर्थात् वेदोंके जिन अभिधायक वाक्योंका समाख्यान सांप्रदायिकोंने मंत्र-शब्दसे किया है उन्हें 'मंत्र' कहते हैं; इनके अतिरिक्त वेदका जो शेष भाग है उसको 'ब्राह्मण' कहते हैं। इस प्रकार संक्षेपमें वेदके 'यौगिक' और 'स्वरूप' लक्षणोंका वर्णन किया गया। अब इस शंकाका निराकरण किया जायगा—

ऋक्सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शंकिते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसंकरः॥

—जैमिनीय न्यायमाला।

अर्थात् ऋक्, यजुस् और सामवेदोंके वाक्यों या मंत्रोंका मिश्रण या संकर देख पड़ता है—ऋग्वेदके मंत्र यजुर्वेद और सामवेदमें पाये जाते हैं और सामवेदके मंत्र यजुर्वेदमें पाये जाते हैं, इस लिए इन तीनों वेदोंके पृथक् पृथक् लक्षण हो ही नहीं सकते। इस शंकाका समाधान इस प्रकार किया गया है—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।
गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः॥

—पूर्वमीमांसादर्शन।

अर्थात् पाद, गीति और प्रश्लिष्ठ पाठके भिन्न भिन्न लक्षणों द्वारा तीनों वेदोंके भिन्न भिन्न लक्षण स्वयं-सिद्ध हैं। जो मंत्र, पाद और अर्धर्च वृत्तोंमें रचे गये हैं उनका समावेश ऋग्वेदमें किया जाता है; जो मंत्र गायनोचित हैं वे सामवेदांतर्गत समझे जाते हैं; और जो केवल गद्य-रूप मंत्र वृत्त-वद्ध नहीं हैं और न गायनोचित हैं उन्हें यजुर्वेदके जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि तीनों वेदोंके लक्षण पृथक् पृथक् हैं।

वेदोंका स्वाभाविक क्रम यह है—सबसे पहले ऋग्वेद, उसके बाद यजुर्वेद और सामवेद, और अंतमें अथर्ववेद। परंतु विद्यारण्य स्वामीने पहले यजुर्वेद ही पर भाष्य निर्माण किया और अंतमें ऋग्वेद पर भाष्यकी

रचना की। इसका कारण क्या है? इस विषयकी जो चर्चा स्वामीजीने ऋग्वेद-भाष्यके आरंभमेंकी है वह बहुत शिक्षादायक और मनोरंजक है, इस लिए संक्षेपमें उसका वर्णन यहाँ किया जाता है।

शंकाः—सब वेदोंमें प्रथम ऋग्वेद हीका उल्लेख किया जाता है और यह सर्वमान्य रूढ़ि भी है कि जो बात सबसे अधिक महत्त्वकी हो उसी-का प्रथम उल्लेख करना चाहिए। देखिए,

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—पुरुषसूक्त ।

इस मन्त्रमें ऋग्वेद हीको अग्रस्थान दिया गया है । इसके सिवाय यज्ञांग दृढ़ करनेके लिए ऋग्वेद हीका उपयोग किया जाता है। तैत्तिरीय ग्रंथमें लिखा है—

यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुसा क्रियते शिथिलम् ।
तदृचा तद्दृढम् ।

—यजुर्वेद ।

इसका अर्थ यह है कि सामवेद आथवा यजुर्वेदके आधार पर किये हुए कर्मोंमें जो कुछ शिथिलता या न्यूनता रह जाती है उसकी पूर्ति ऋग्वेदसे हो जाती है। इसके आतिरिक्त यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि किसी निरूपित विषय पर विश्वासकी दृढ़ता करानेके लिए सब वेदान्तर्गत 'ब्राह्मणों' में ऋग्वेद हीके वचन उद्धृत किये गये हैं। सामवेदमें तो प्रायः सब वचन ऋग्वेद हीसे लिये गये हैं और अथर्व संहितामें भी बहुतेरे वचन ऋग्वेद हीके पाये जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद्में भगवान् नारद सनत्कुमार ऋषिसे कहते हैं—" ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं च।" अर्थात् हे भगवान्, मैं प्रथम ऋग्वेदका अध्ययन करता हूँ, इसके बाद यजुस्, साम और अथर्व वेदोंका अध्ययन

करता हूँ। मुंडकोपनिषद्में यह प्रमाण मिलता है—"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः।" अस्तु। यदि ऋग्वेदके प्रथम स्थानमें होनेके संबंधमें इस प्रकार अनेक प्रमाण पाये जाते हैं तो उसी पर पहले भाष्यकी रचना होनी चाहिए। इस तरह पूर्व-पक्षका निरूपण करके स्वामीजीने उसका समाधान किया है।

समाधानः—यद्यपि सब वेदोंके अध्ययन और पारायण करनेमें तथा ब्रह्मयज्ञ, जप आदि बातोंमें ऋग्वेद हीको प्रथम स्थान दिया जाता है तथापि सबसे पहले यजुर्वेद ही पर भाष्य लिखा जाना चाहिए। इसका कारण यह है कि जिस यज्ञानुष्ठानके लिए वेदार्थ-ज्ञान अत्यंत आवश्यक है वह यज्ञानुष्ठान बिना यजुर्वेदके हो नहीं सकता। यजुर्वेदकी इस प्रधानताके विषयमें ऋग्वेद हीका वचन प्रमाण है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्।
गायत्रं त्वा गायेति शक्करीषु॥
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां।
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

इस ऋचाका अर्थ निरुक्तकार यास्क मुनिने इस प्रकार किया है:—"इस ऋचामें ऋत्विजोंके कर्मोंका विनियोग बताया है। होता ऋग्वेदकी ऋचाएँ कह कर सब विधियोंका नियमन करता है। उद्गता शक्करी नामक ऋचाओंका गायन करता है। तीनों वेदोंके कर्मोंको जाननेवाला ब्रह्मा प्रणयनादि सब कर्मोंके अनुष्ठानकी अनुज्ञा देता है। यज्ञका मुख्य नायक, जिसको अध्वर्यु कहते हैं, सब यज्ञांगोंकी सिद्धि करता है।" इस परसे यह प्रगट होता है कि यज्ञकी सिद्धिके लिए यजुर्वेदकी अत्यंत आवश्यकता है और इसी लिए यजुर्वेदको अध्वर्युवेद कहते हैं। यज्ञके नेताको अध्वर्यु कहते हैं। यजुस् (यज्ञ) शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें यास्क मुनिने कहा है—

मंत्रा मननात्। छंदांसि छादनात्। स्तोमः स्तवनात्। यजुर्यजतेः।
—निरुक्त।

अर्थात् यज् धातु (यज्ञ करना) से यजुस् शब्द बना है। यजुर्वेदसे यज्ञ-शरीरकी उत्पत्ति होती है और स्तोत्र तथा शस्त्र-रूप उसके अवयव सामवेद तथा ऋग्वेदसे उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो यजुर्वेद उपजीव्य है उसी पर प्रथम व्याख्यान किया गया। सामवेदके वचन ऋग्वेदमें पाये जाते हैं, इस लिए ऋग्वेदके बाद सामवेद पर भाष्य रचा गया।

ऊपर इस बातका उल्लेख किया गया है कि यज्ञ करनेके लिए वेदार्थ-ज्ञानकी आवश्यकता है। अब यह सोचना चाहिए कि उपयुक्तता (ntility) की दृष्टिसे यज्ञकी क्या आवश्यकता है। वेदका कर्मकांड क्रिया-प्रधान है। बिना कर्मके विद्याभ्यास और ज्ञान-प्राप्ति हो नहीं सकती। मन और बुद्धि बाह्याभ्यन्तर व्यवहारोंमें सदा निमग्न रहती है। अत एव कर्मकांड विशेष महत्त्वका है। कर्म दो प्रकारके होते हैं—(१) निष्काम-कर्म, (२) सकाम-कर्म। निष्काम-कर्मका फल ईश्वर-प्राप्ति है। इस प्रकारके कर्मानुष्ठानमें स्वभावतः अपूर्व आनंद है, इस लिए यही कर्म सबसे अधिक-श्रेष्ठ है। जो काम लौकिक व्यवहारके हेतु अर्थ या कामनाकी सिद्धिके लिए धर्मानुसार किया जाता है उसको सकाम-कर्म कहते हैं। इस प्रकारके कर्मका फल भोगनेके लिए मनुष्यको जन्म और मृत्युके चक्करमें बार-बार जाना पड़ता है, इस लिए वह निष्काम-कर्मसे निकृष्ट है। सकाम-कर्ममें अग्निहोत्रादि सब यज्ञोंका समावेश होता है। इन सब यज्ञोंमें सुगंधित, मिष्ट, पुष्टिकारक और रोग-नाशक तथा भिन्न भिन्न संस्कारोंसे शुद्ध और सुसंस्कृत किये हुए पदार्थोंका हवन किया जाता है, जिससे वायु और वृष्टि-जलकी शुद्धि होती है और सब संसारको सुख प्राप्त होता है।

इस सृष्टिमें ईश्वर-कृत यज्ञ सदासे हो ही रहा है। उसीके साथ मनुष्य-

कृत यज्ञ भी होते रहना चाहिए। जब इस रीतिसे दोनों प्रकारके यज्ञ सदासे होते रहेंगे तभी सब लोगोंको उत्तम परिस्थिति प्राप्त होगी। ईश्वरने तेजोमय सूर्यको उत्पन्न किया है, जिसके द्वारा पुष्प, वनस्पति आदिमेंसे सुगंध, रोग-नाशक रस और वायुका आकर्षण किया जाता है। इस महायज्ञसे सुगंधित रस और वायुका आकर्षण होकर दुर्गंध-युक्त रस और वायुकी शुद्धि होती है। जिस स्थानमें मनुष्योंकी बस्ती नहीं है या बहुत थोड़ी है वहाँके जल-वायुकी शुद्धि ईश्वर-कृत यज्ञसे आप-ही-आप हो जाती है; परन्तु जहाँ मनुष्योंकी बस्ती अधिक है वहाँ उस प्राकृतिक यज्ञसे विशेष लाभ नहीं होता। अत एव उन स्थानोंमें मनुष्य-कृत यज्ञोंकी बहुत आवश्यकता है। यज्ञमें पशु-हिंसा कदापि करनी न चाहिए।

अग्निमें जो द्रव्य (पदार्थ) हवन किये जाते हैं उनका पृथक्करण होकर सब परमाणु-रूपसे वायुमें मिल जाते हैं। इस लिए जब यज्ञमें दुर्गंधादि दोष-निवारक द्रव्योंका होम किया जाता है तब वायु और वृष्टि-जलकी शुद्धि होती है। जिस समय किसी एक स्थानमें हवन होता है उस समय उस स्थानकी सब अशुद्ध वायु अग्निके योगसे हलकी होकर ऊपरकी ओर आकाशमें चली जाती है और चहुँ ओरकी स्वच्छ वायु वहाँ आ जाती है। इससे वह स्थान आरोग्यदायक वायुसे भर जाता है। हवन किये हुए सुगंधादि द्रव्योंके संयोगसे जो वायु शुद्ध हो जाती है वह आकाशमें जाकर मेघादि द्रव्योंको शुद्ध करती है, जिससे जल-वृष्टिकी कभी न्यूनता नहीं होती। इस प्रकार शुद्ध और यथेच्छ जल-वृष्टिसे वनस्पतियोंकी वृद्धि होती है, जिसके कारण सब प्राणियोंको सुख प्राप्त होता है। सारांश यह है कि यज्ञके द्वारा मनुष्यों और अन्य सब प्राणियोंको शुद्ध वायु, स्वच्छ जल और पुष्टिकारक अन्नकी प्राप्ति होती है। प्राणियोंके जीवनके लिए वायु, जल और अन्न ही मुख्य

पदार्थ हैं। अत एव यज्ञकी उपयोगिताके विषयमें इससे अधिक और क्या कहा जाय कि वह सब प्राणियोंके जीवनका आधार है। तैत्तिरीयोपनिषद्में लिखा है—'अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।' अर्थात् अन्नसे रेत (वीर्य) और रेतसे पुरुष उत्पन्न होता है। इस लिए यह पुरुष अन्न-रसमय है। तात्पर्य यह है कि अन्न, जल और वायुकी शुद्धिके लिए यज्ञकी बहुत आवश्यकता है और इसी बातसे यजुर्वेदकी प्रधानता सिद्ध होती है।

ब्रह्मयज्ञ प्रकरणमें लिखा है कि वेदका नित्य पठन करना चाहिए। यहाँ पर यह शंका उठती है कि क्या वेदका सिर्फ पठन ही करना चाहिए या उसके ज्ञान प्राप्तिकी भी आवश्यकता है। इस विषयमें निम्न वचन ध्यानमें रखने योग्य है:—

तेनौभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद।
नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया
करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

—छांदोग्य।

इसका अर्थ यह है:—कर्म करनेके दो प्रकार हैं। कोई मनुष्य कर्मप्रतिपादक वचनोंका अर्थ जान कर कर्म करता है; कोई मनुष्य उन वचनोंका अर्थ न जान कर कर्माचरण करता है। ऐसी अवस्थामें कभी कभी उन दोनों मनुष्योंको (अर्थ जाननेवाले और अर्थ न जाननेवालेको) एक ही समान फल प्राप्त होता है। उदारणार्थ, 'हर्र खानेसे रेचन होता है' यह बात जान कर या न जान कर भी यदि कोई हर्र खावे तो परिणाम समान ही होगा। यद्यपि उक्त कथन सत्य है तथापि उससे कर्मका सामर्थ्य निश्चित-रूपसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि 'जानने' और 'न जानने' के अनेक प्रकार होते हैं। यह बात व्यवहारमें देखी जाती है कि यदि जवाहर किसी अज्ञानी मनुष्यके हाथ लग जाय तो

उसका कुछ उपयोग नहीं होता; और यदि वही जवाहर किसी अच्छे जौहरीको मिल जाय तो उसकी कीमत और कदर होती है। इस परसे यह बात सिद्ध होती है कि अर्थज्ञ, श्रद्धावान् और योग-युक्त पुरुषका किया हुआ कर्म अधिक फलदायक होता है।

शब्दार्थ-ज्ञान अत्यंत आवश्यक और महत्त्वका है। इसी लिए वेदार्थ-ज्ञानसे सब संसारका बहुत लाभ हुआ है। परंतु प्रथम यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि उपनयन संस्कार हो जाने पर एक वेदका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें लिखा है—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।' अर्थात् एकसे अधिक वेदोंका अथवा एक ही वेदका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। वेदाध्ययनको नित्य-कर्मके समान आवश्यक कर्तव्य समझना चाहिए—उससे किसी प्रकारके फलकी आकांक्षा न करना चाहिए। पुरुषार्थानुशासनमें लिखा है—'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात्।' अर्थात् वेदका अध्ययन नित्य करना चाहिए; यदि नित्य अध्ययन न किया जाय तो ब्राह्मणत्वकी हानि होती है। देखिए—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं।
न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति॥
यदीं शृणोति अलकं शृणोति।
न हि प्रवेद सुकृतस्य पंथाम्॥

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है:—जो अपने उपकार-कर्ता मित्रका त्याग करता है उसको वाणीसे कुछ भी लाभ नहीं होता। यदि वह कुछ भी सुने तो भी उसको यथार्थ बात सुन नहीं पड़ती। उसको पुण्यका मार्ग ही देख नहीं पड़ता। अत एव जिन वेदोंके अध्ययनसे सब देवताओंका, सब धर्म्मोंका और साक्षात् परब्रह्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त होता है उनका त्याग करके यदि आयु पर-निंदा, असत्य भाषण और कलह करनेमें

व्यतीत की जाय तो वाणी कदापि प्रसन्न नहीं होती । इस विषयमें श्रुति कहती है 'नानुध्यायान् बहूञ्शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ।' अर्थात् जो मनुष्य अनेक शब्द-युक्त ग्रंथोंको पढ़ता या सुनता है उसका यह परिश्रम निष्फल होता है; क्योंकि उससे पुण्य-प्राप्तिका मार्ग तो मिलता ही नहीं, किंतु वाणीको व्यर्थ परिश्रम होता है ।

जो लोग वेदोंका अर्थ जाने बिना सिर्फ शब्दों हीको रट लेते हैं उनकी बहुत निंदा की गई है । लोगोंकी प्रवृत्ति वेदार्थ-ज्ञान हीकी ओर झुकानेके विषयमें यास्क मुनिके प्रमाण-प्रचन देखिए ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम् ॥
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ —निरुक्त ।

अर्थात् जो मनुष्य वेदोंको रट कर कंठाग्र कर लेता है; परंतु उनके अर्थकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता—जो मनुष्य वेदोंका अर्थ जाने बिना सिर्फ शब्दों हीको घोखा करता है—उसको काठके खंभेके समान जानो । वह केवल भार-वाहक है । उसको वेद-विद्याके रसास्वादकी कुछ भी रुचि नहीं होती । परंतु जो वेदोंका अर्थ जानता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और उसे अनुपम सुख प्राप्त होता है । वह आनंदमय मोक्ष-स्थानका लाभ करता है । अत एव वेदोंका अर्थ अवश्य जान लेना चाहिए । और देखिए—

यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

—निरुक्त ।

अर्थात् यदि वेदोंका केवल पठन किया जाय और उनके अर्थकी ओर कुछ ध्यान न दिया जाय तो वेदोंका प्रकाश कभी प्रकट न होगा । जैसे सूखी लकड़ी राखमें पड़ी रहनेसे कदापि जल नहीं सकती वैसे ही

अर्थ जाने बिना वेदोंके पढ़नेसे कोई लाभ नहीं होता। वेदोंका वेदत्व केवल अर्थज्ञान ही पर अवलंबित है। देखिए—

अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेन इति वेदशब्दनिर्वचनम्।

—वेदार्थप्रकाश।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकारके पुरुषार्थ हैं। इनकी प्राप्तिके लिए जो अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। अत एव जब तक वेदोंका अर्थ जाना न जायगा तब तक उनका वेदत्व सिद्ध नहीं हो सकता। अब यह देखिए कि वेदार्थ-ज्ञानकी प्राप्तिके विषयमें स्वयं वेदोंका मत क्या है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है:—कोई मनुष्य वेदोंका सिर्फ पठन करता है; परंतु उनका अर्थ नहीं जानता। वह मनुष्य यद्यपि वेदवाणीको देखता है तथापि वह उसको देख नहीं पड़ती; वह मनुष्य यद्यपि वेदवाणीको सुनता है तथापि वह उसको सुन नहीं पड़ती। जैसे पतिके संबंधमें उत्सुक होनेवाली स्त्री ऋतुकालमें उत्तम वस्त्र पहन कर पतिकी इच्छा पूर्ण करती है, वैसे ही जो मनुष्य व्याकरणादि अंगों और पूर्वमीमांसादि उपांगोंका अध्ययन करके वेदोंका तात्पर्यार्थ जाननेका यत्न करता है उसको वेदोंका रहस्य-ज्ञान पूर्ण-रीतिसे प्राप्त हो जाता है। और देखिए—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥

—ऋग्वेद।

इसका अर्थ यह है:—जो मनुष्य चौदह विद्या-स्थानोंमें निपुण होता है वह वेद-रूप वाणीके साथ मित्रता करता है, इस लिए उसको स्थिरपाति-

वेदार्थ-ज्ञान-रूप अमृत-पान करनेमें स्थिरतासे निमग्न रहनेवाला—कहते हैं। ऐसे मनुष्यको बड़े बड़े विद्वान् लोग भी सभामें पराजित नहीं कर सकते। परंतु जो मनुष्य अर्थ जाने बिना ही वेदोंका पठन करता है वह फल-पुष्प-रहित वाणीका श्रवण करता है और इस संसारमें कपट-रूप तथा दूध न देनेवाली गायके साथ भ्रमण करता है।

उक्त विवेचनसे केवल यही बात सिद्ध नहीं होती कि वेदार्थ-ज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है; किंतु यह बात भी सिद्ध की गई है कि वेदोंका पूर्ण-ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वेद-विद्याका सांगोपांग अध्ययन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकारका अधिकार प्राप्त किये बिना केवल हठ या आग्रहसे वेदार्थ प्रकट करनेका यत्न करता है वह समाजमें अनर्थ उत्पन्न करनेका दोषी समझा जाता है। सनातन वैदिक-धर्मके संबंधमें इस समय जो अनेक अनर्थकारक परिणाम देख पड़ते हैं उनका कारण यही है कि कुछ अनधिकारी देशी और विदेशी पंडितोंने वेदोंका मनमाना अर्थ प्रकाशित किया है। वेदोंका अर्थ करते समय समन्वय-की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस नियमका यथोचित पालन न करके वेद-वाक्योंका मनमाना अर्थ ग्रहण करनेके कारण बहुतेरे लोगों-की धर्म-श्रद्धा नष्ट हो गई है और अनेक नये पंथ निर्माण हो गये हैं। जो कर्म-मार्ग, नीति और धर्मका मुख्य आधार है उसके विषयमें अश्रद्धा उत्पन्न हो जानेके कारण इस देशके युवक धर्म-हीन और धर्म-भ्रष्ट हो रहे हैं। यदि उचित समय पर उक्त दुष्परिणामोंको रोकनेका कोई प्रबंध न किया जायगा तो भविष्यमें इस देशकी धार्मिक अवनति अत्यंत भयानक हो जायगी।

अब इस बातका विचार किया जायगा कि वेद-विद्या ग्रहण करनेका अधिकार या योग्यता किसको है। यास्काचार्यने इस विषयका निरूपण जिन मंत्रोंमें किया है वे इस प्रकार हैं—

पहला मंत्र।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात् विद्यादेवी उपदेशक आचार्यके समीप जाकर कहती है—यदि तुम अनधिकारी और अयोग्य पुरुषको मेरा उपदेश न करोगे तो मेरी रक्षा होगी और फिर मैं चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति करा दूँगी। जो विद्यार्थी अपने गुरु पर और मुझ पर व्यर्थ दोषारोपण करता है और जिसके हृदयमें सरलता नहीं है उसको मेरी शिक्षा मत दो। जो विद्यार्थी स्नान-संध्यादि आचार-धर्मका पालन नहीं करता उसको मेरा उपदेश मत करो। हे आचार्य, यदि तुम इस प्रकार बर्ताव करोगे तो मैं तुम्हारे हृदयमें प्रवेश करके इच्छित फल दूँगी।

दूसरा मंत्र।

न आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्च नाह॥

जो गुरु सत्य-रूप वेद-वाणीसे शिष्यके कान भर देता है, जो गुरु शिष्यकी बुद्धिकी ग्रहण-शक्तिके अनुसार और उसको कष्ट न देते हुए वेदकी शिक्षा देता है और जो गुरु शिष्यको वेदार्थ भी समझा देता है तथा अमृतत्वकी दीक्षा देता है उसको माता-पिता ही जानना चाहिए। ऐसे गुरुका कभी द्रोह करना न चाहिए।

तीसरा मंत्र।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

जो अधम शिष्य अध्ययन पूरा हो जाने पर अपनी वाचा, मन और आचरणसे गुरुका आदर नहीं करते उन पर गुरुकी कृपा नहीं होती और गुरूपदिष्ट वेद-वाक्य भी उनको फलदायक नहीं होते।

चौथा मंत्र ।

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नं ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥

हे आचार्य, ऐसे शिष्यको विद्या-दान करना चाहिए जो सदा पवित्र, सावधान, बुद्धिवान् और ब्रह्मचारी हो तथा जो कभी गुरुकी निंदा न करता हो; क्योंकि वही शिष्य अपनी विद्याकी रक्षा निधिके समान करता है ।

उक्त मंत्रोंसे यही तात्पर्यार्थ प्रकट होता है कि वेद-विद्याकी शिक्षा केवल अधिकारी या योग्य पुरुषों हीको दी जानी चाहिए ।

अब संक्षेपमें यह जानना आवश्यक है कि शिक्षादि वेदांगों और मीमांसादि उपांगोंके अध्ययनसे वेदार्थ-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए किस प्रकार सहायता होती है । शिक्षा नामक वेदांगसे वर्ण, स्वर, मात्रा आदिका यथार्थ ज्ञान हो जाता है । यदि यह ज्ञान प्राप्त न किया जाय तो अर्थका अनर्थ हो जायगा । जैसे—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

जिस मंत्रमें वर्णकी भूल हो या उदात्तादि स्वरोंकी योजनामें भूल हो वह अनर्थकारक हो जाता है । ऐसे मंत्रको वाणी-रूप वज्र ही समझना चाहिए; क्योंकि वह यजमानका नाश करता है । उदाहरणार्थ 'इन्द्र-शत्रुर्वर्धस्व' इस मंत्रमें इन्द्र-शत्रु सामासिक पद है; यदि उसका इष्ट अर्थ 'इन्द्रका शत्रु अर्थात् इन्द्रको मारनेवाला' हो तो वह पद तत्पुरुष-समास होगा और उसके अंत्य-पदमें उदात्त स्वर होना चाहिए । परंतु यदि पूर्व-पदमें उदात्त स्वर होगा तो वह बहुव्रीहि-समास हो जायगा जिसका अर्थ 'इन्द्र जिसका शत्रु है वह अर्थात् इन्द्र जिसको मारेगा

वह ' होगा। इस प्रकार केवल स्वर-भेदके कारण इष्ट अर्थकी प्राप्तिके बदले अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जाती है। अत एव मंत्रोंके अर्थके अनुकूल स्वरोंका यथोचित उच्चारण करनेके लिए शिक्षा नामक वेदांगकी बहुत आवश्यकता है। व्याकरण नामक वेदांग वेद-पठनकी शुद्धता और शंका-रहित अर्थ-ज्ञानके लिए बहुत उपयोगी है। यदि मनुष्यको शब्द-भेद, लिंग, वचन, विभक्ति, काल, प्रत्यय आदिका ज्ञान न होगा तो वह वेदोंका यथार्थ भाव कभी ग्रहण न कर सकेगा। वररुचि ऋषिने व्याकरण-शास्त्रका प्रयोजन इस प्रकार कहा है—'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्।' अर्थात् व्याकरणके पाँच प्रयोजन हैं—(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु और (५) असंदेह। इन पाँच प्रयोजनोंका प्रतिपादन भगवान् पतंजलिके महाभाष्यमें इस प्रकार किया गया है:—

(१) रक्षाः—वेदोंकी रक्षा करनेके हेतु व्याकरणका अध्ययन करना चाहिए। वही मनुष्य वेदोंकी रक्षा कर सकता है और वेदोंका अर्थ जान सकता है जो यह जानता है कि वर्णोंका लोप कब होता है, आगमका उपयोग कब किया जाता है, वर्णोंमें विकार क्यों उत्पन्न होता है इत्यादि।

(२) ऊहः—वेद-मंत्रोंमें सब लिंग और विभक्तियाँ सदा लगी नहीं रहतीं। यज्ञके समय प्रसंगानुसार लिंग और विभक्तियोंका उपयोग मंत्रोंमें करना पड़ता है। इस लिए व्याकरणकी अत्यंत आवश्यकता है।

(३) आगमः—शास्त्रमें कहा है 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' अर्थात् ब्राह्मणको फलाशाका त्याग कर धर्माचरण करना चाहिए और षडंग-युक्त वेदोंका अध्ययन करके वेदार्थ-ज्ञान संपादन करना चाहिए। इस आज्ञाके अनुसार व्याकरण-शास्त्रका अध्ययन आवश्यक है।

(४) लघुः—भाषामें जितने शब्द हैं उन सबका ज्ञान, व्याकरणकी सहायतासे, अल्प समयमें और थोड़े प्रयाससे हो जाता है। इस लिए व्याकरणका अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

(५) असंदेहः—शंका या संदेहका निवारण करनेके लिए व्याकरणकी आवश्यकता है।

कल्प, निरुक्त, छंद और ज्योतिष नामक अन्य वेदांगोंकी उपयोगिताका वर्णन पहले किया जा चुका है। उनके पृथक् वर्णनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। अब मीमांसादि उपांगोंका विचार किया जायगा। वेदोंके चार उपांग हैं—अठारह पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। पुराणोंके द्वारा यह बात विदित होती है कि सृष्टिकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई। उनमें सृष्टि-रचनाके पहलेका भी वर्णन है। इस लिए उनके अध्ययनसे वेदार्थ-ज्ञानकी सहायता होती है। धर्मशास्त्र तो वेदोंका प्राण है। यदि धर्मशास्त्रकी सहायता न ली जाय तो मनुष्य-समाजको वेदोंसे क्या लाभ होगा? इस विषयमें अधिक लिखना व्यर्थ है। न्याय और मीमांसाके विषयमें लिखा है—

> न्यायो नाम गौतमेन कणादेन च मुनिना कृतं
> प्रमाणैरर्थपरीक्षणोपदेशकं शास्त्रम्।
>
> —आर्यविद्यासुधाकर।

गौतम और कणाद नामक ऋषियोंने प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणोंके द्वारा अर्थका निर्णय करनेके लिए जिस शास्त्रकी रचना की उसको न्याय कहते हैं। इस परसे यह बात सिद्ध है कि वेदोंके अर्थका निर्णय करनेमें न्याय-शास्त्रकी सहायता होती है। मीमांसा-शास्त्रके दो भाग हैं; एकको पूर्व-मीमांसा कहते हैं और दूसरेको उत्तर-मीमांसा। कर्म-साधक श्रुतियोंका विचार-रूप जो भाग वेदमें है उसका पूर्वापर विरोध नष्ट करने और वास्तवार्थकी चिकित्सा करनेके लिए भगवान् जैमिनीने बारह अध्या-

योंमें धर्म-मीमांसा की है उसीको पूर्व-मीमांसा कहते हैं। वेदमें उपासना-ज्ञान-साधक श्रुतियोंका विचार-रूप जो भाग है उसका पूर्वापर विरोध नष्ट करने और सत्यार्थकी चिकित्सा करनेके लिए भगवान् व्यासजीने चार अध्यायोंमें ब्रह्म-मीमांसा की है उसीको उत्तर-मीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं। इस परसे यह बात पाई जाती है कि वेदार्थ-ज्ञानके लिए मीमांसा नामक उपांग अत्यंत उपयोगी हैं।

उक्त संपूर्ण विवेचनका सारांश यह है—भारत-निवासी आर्योंका ईश्वर-प्रणीत ग्रंथ वेद है। मनुष्य प्राणीको, जो विचार करनेके लिए समर्थ है, ज्ञानकी प्राप्ति हो और उत्तम प्रकारका सुख मिले, इस लिए सृष्टिके पहले ही वेद निर्माण किये गये। अत एव हमारा आर्यधर्म अर्थात् सनातन वैदिक-धर्म जो वेदोंके दृढ़ आधार पर स्थित है, सब पुरुषार्थोंकी सिद्धिका एक मात्र साधन है। देखिए—

धारणार्थकाद्धृधातोः धर्मशब्दः पंकजादिवद् योगरूढ़। तत्र पततो जनानाश्रयो भूत्वा धरतीति धर्मशब्दस्य योगार्थः। रूढ्यर्थस्तु अनिष्टाननुबंधि इष्टफलसाधनमित्याकारकः। येन अनुष्ठीयमानेन अनिष्टपरिहार इष्टफललाभश्च भवति स धर्मः।

—आर्यविद्यासुधाकर।

जैसे पंकज-शब्दका योगार्थ 'पंकसे उत्पन्न होनेवाला' है और उससे 'कमल' रूढ़ार्थ होता है, वैसे ही धारणार्थक धृ धातुसे उत्पन्न होकर धर्म-शब्दका यौगिक अर्थ यह होता है 'जो पतित जनोंका आश्रय-स्थान होकर उनकी रक्षा करता है वह धर्म है।' उसका रूढ़ार्थ 'अनिष्टका परिहार करके इष्ट फलकी प्राप्ति करा देनेवाला' होता है। सारांश धर्म उसको कहते हैं कि जिसके अनुसार आचरण करनेसे सब अर्थोंकी सिद्धि होती है। हमारा प्राचीन आर्यधर्म उक्त परिभाषाके अनुसार है और वह सर्वज्ञ परमेश्वरकी प्रत्यक्ष आज्ञा है, अत एव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह हम लोगोंको अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारा

मालूम होता है। इस दुनियामें जितने धर्म प्रचलित हैं वे सब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीतिसे वैदिक-धर्म हीसे उत्पन्न हुए हैं। यह बात निर्विवाद प्रसिद्ध है कि बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्मके कुछ श्रेष्ठ मतों पर स्थापित किया गया है। यह बात भी सब लोगोंको विदित है कि ईसाई और महम्मदी धर्म बौद्ध-धर्मके आधार पर प्रचलित हुए हैं। यदि प्राचीन समयमें सुप्रसिद्ध अलेकज़ेन्ड्रिया शहरमें स्थापित बृहत् पुस्तकालय अग्निसे भस्म हो न जाता तो वर्तमान समयमें उक्त सिद्धान्तोंकी सत्यता और भी स्पष्ट प्रकट हो जाती।

इस स्थानमें यह प्रश्न उठता है कि यदि परमेश्वर हीने सब मनुष्योंको उत्पन्न किया है तो उसकी आज्ञा सब लोगोंके लिए एक ही समान होनी चाहिए; परंतु भिन्न भिन्न धर्मोंमें अनेक मत-मतान्तर देख पड़ते हैं—इन को एक ही परमेश्वरकी आज्ञा कैसे कह सकते हैं? इसका उत्तर यह है:—यद्यपि सब मनुष्य मनुष्यत्वकी दृष्टिसे एक ही समान हैं तथापि भिन्न भिन्न देशोंके लोगोंकी परिस्थिति और विशेषतः उनकी बुद्धिका सामर्थ्य भिन्न प्रकारका होता है। अत एव जो तत्त्व भिन्न भिन्न परिस्थितिके अनुकूल होते हैं और जो लोगोंकी भिन्न भिन्न बुद्धि-शक्ति-द्वारा आकलन किये जा सकते हैं उन्हींका संग्राहक धर्म उन उन देशोंमें निर्माण होता है। इस बातसे ईश्वरका मनुष्य-जाति पर प्रेम और उसका अगाध चातुर्य भी प्रकट होता है। सनातन वैदिक-धर्ममें अद्वैत-मतके गहन सिद्धान्तोंका उपासनां अथवा भागवत-धर्मके साथ जो अपूर्व मेल देख पड़ता है वह केवल भारतीय आर्योंकी बुद्धि-द्वारा आकलन किया जा सकता है—वह अन्य लोगोंकी बुद्धि-सामर्थ्यके परे है। इस लिए एशिया-खंडके कुछ देश-निवासियोंके लिए भगवान् शाक्यमुनिको एक ऐसा धर्म निर्माण करना पड़ा जिसमें केवल साधारण नीति-तत्त्वों हीका संग्रह अधिक है। इसी तरह यूरप-खंडके जिन देशोंके निवासियोंमें ये वासनाएँ जागृत हैं कि

ऐहिक विषयोपभोगोंके साधनोंकी वृद्धि करके देह-पुष्टि संपादन करनी चाहिए, जो लोग अपनेसे दुर्बल हैं उन पर अपना अधिकार जमाना चाहिए, दुनियामें जो उत्तमोत्तम पदार्थ होंगे उनका अपहरण करना चाहिए, उन लोगोंके लिए ईसाई-धर्मकी उत्पत्ति हुई। सारांश, यह अत्यंत स्वाभाविक बात है कि भिन्न भिन्न मानसिक वृत्तियोंके पोषक और भिन्न भिन्न परिस्थितिके अनुकूल भिन्न भिन्न धर्म निर्माण हुए हैं। जैसे सब प्रकारके रोगोंके लिए यद्यपि एक ही औषधिका उपयोग कितना भी इष्ट मालूम हो तथापि वह दुर्घट और असंभव है, वैसे ही सब प्रकारके मनुष्योंके लिए एक ही धर्मका होना औघड़ और असंभव है। देशकी परिस्थितिकी भिन्नताके कारण और मनुष्योंकी बुद्धिकी आकलन-शक्तिकी भिन्नताके कारण भिन्न धर्मोंकी उत्पत्ति होना प्रकृतिके नियमोंके अत्यंत अनुकूल है। खेदकी बात है कि इस देशके तथा विदेशोंके बहुतेरे लोग उक्त बातोंका कुछ विचार नहीं करते और जब हमारे प्राचीन आर्य-धर्मके गहन तत्त्व उनकी समझमें नहीं आते तब वे हमारे ईश्वर-प्रणीत वेदों हीकी निंदा करने लगते हैं।

इस निबंधका प्रधान हेतु यही है कि हमारे अत्यंत श्रेष्ठ वेदोंके संबंधमें लोगोंकी श्रद्धा अधिक बढ़े और तदन्तर्गत सिद्धान्त सब लोगोंकी समझमें आ जायँ। इस बातको कभी भूलना न चाहिए कि वेद केवल ज्ञानमय हैं और वे सूर्यके समान स्वयं प्रकाशमान हैं, अत एव वे स्वयं प्रमाण हैं। संस्कृत भाषामें, जो संसारकी सब भाषाओंसे अधिक नियमबद्ध और प्रगल्भ है, जितना साहित्य उपलब्ध है, उसमें वेदके समान उदात्त (Sublime) और सुंदर (Beautiful) और कुछ पाया नहीं जाता। ईश्वरीय ज्ञान ही वेदका मुख्य विषय है। इस विषयमें तृणसे लेकर परमेश्वर तक सब पदार्थोंके बोधका समावेश हो जाता है, इस लिए यही अन्य सब विषयोंसे अधिक श्रेष्ठ माना गया है। सब

पदार्थोंमें परमेश्वर ही प्रधान है, इस लिए सब वेदोंका तात्पर्यार्थ 'ईश्वरके ज्ञानकी प्राप्ति' ही है। देखिए—

> सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
>
> —काठक।

अर्थात् जिस आनंदमय और दुःख-रहित पदका वर्णन सब वेद करते हैं, जिस पदकी प्राप्तिके लिए लोग अनेक प्रकारकी तपश्चर्या करते हैं और जिस पदकी इच्छा करके लोग सत्य-धर्मानुष्ठान-रूप आचरण करते हैं वह पद संक्षेपमें प्रणव (ॐ) ही है। ॐकार ईश्वर-वाचक है; क्योंकि प्रणव और ईश्वरमें वाच्य-वाचक-संबंध सदा रहता है। यह संबंध अनादि सिद्ध है। अत एव ओंकारका विधि-पूर्वक जप करना और उसके अर्थका चिंतन करना परमेश्वरकी परम आराधना है।

दूसरा प्रकरण।

भारतीय आर्ष महाकाव्य।

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

किसी देशके निवासियोंको आनंद, ज्ञान और उत्साह एक ही साथ और एक ही समय देनेवाला साधन महाकाव्यके समान और कोई नहीं है। ऐसे काव्यको अँगरेजी भाषामें Epic Poetry कहते हैं। कुछ लोग उस अँगरेजी शब्दका अनुवाद 'वीर-रस-प्रधान काव्य' करते हैं; परंतु यह अनुवाद ठीक मालूम नहीं होता। यदि प्राचीन परंपरा देखी जाय तो यही मालूम होता है कि लोग उक्त काव्यको महाकाव्य ही कहते चले आये हैं। कालिदासादि कवियोंके काव्योंसे उसको भिन्न करनेके हेतु उसके साथ 'आर्ष' विशेषण लगा दिया जाता है। महाभारतके पहले ही अध्यायके 'यश्चैनं शृणुयान्नित्यं आर्षं श्रद्धासमन्वितः।' श्लोकमें उस ग्रंथके विषयमें आर्ष शब्दका उपयोग किया गया है। अँगरेजी भाषामें जिसको Epic Poetry कहते हैं उसका अर्थ 'आर्ष महाकाव्य' शब्द हीसे अच्छी तरह व्यक्त होता है, इस लिए यही प्राचीन नाम रामायण और महाभारत नामक आर्य-लोगोंके Epic काव्योंको दिया गया है।

इतिहास (History), वक्तृत्व (Oratory), तत्त्वज्ञान (Philosophy), और काव्य (Poetry), साहित्यके सर्व-मान्य विभाग समझे जाते हैं। प्रथम तीनोंका संबंध मनुष्यकी बुद्धिके साथ होता है; परंतु कविताका हेतु आनंद-जनकत्व और अंतःकरण-जागृति होता है, इस लिए उसका संबंध प्रतिभा Imagination और मनोविकारों Passions के साथ होता है। यद्यपि काव्यमें विविध ज्ञान और नीतिका उपदेश

रहता है तथापि उनकी सिद्धि अप्रत्यक्ष रीतिसे करनी पड़ती है। अर्थात् कवि अपने पाठकोंके अंतःकरणमें आनंद, चमत्कृति आदि मनोविकारोंको जागृत करके नीतिकी शिक्षा देता है और विविध ज्ञानका वर्णन करता है। जिस कविमें हृदय-वेधक शक्ति अधिक होती है वही सब लोगोंको अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

काव्यके अनेक भेद किये गये हैं। उनमेंसे एक प्रधान भेदको महाकाव्य कहते हैं। काव्य या महाकाव्यकी रचना और गुण-विवेचनके लिए प्रतिभा Imagination और अभिरूचि Taste नामक दो शक्तियोंकी अत्यंत आवश्यकता है। इस लिए प्रथम इन्हीं शाक्तियोंके संबंधमें कुछ विचार करना चाहिए और फिर यह देखना चाहिए कि उनका काव्यग्रंथोंके साथ क्या संबंध है।

प्राकृतिक या कृत्रिम पदार्थोंमें व्यक्त होनेवाले उदात्त स्वरूप (Sublimity) से अथवा सौंदर्य (Beauty) से मनुष्यको आनंद देनेवाली जो शक्ति ईश्वरने दी है उसको **अभिरुचि** कहते हैं। ईश्वर-निर्मित पदार्थों, स्थानों और दृश्योंमें तथा मनुष्य-कृत वस्तुओंमें जो सुंदरता होती है उसको जाननेकी शक्ति प्रत्येक मनुष्यके अंतःकरणमें उपस्थित है। बुद्धि Reason नामक जो शक्ति ईश्वरने मनुष्यको दी है वह अभिरुचि नामक शक्तिसे बिलकुल भिन्न है। उपपत्तिके विषयमें तत्त्वान्वेषण करना और व्यावहारिक विषयोंमें कार्य-कारण-भावका निर्णय करना केवल बुद्धिका काम है। इस परसे यह बात सिद्ध होती है कि बुद्धि अभिरुचि नहीं है। जो आनंद मनोहर संगीतके श्रवण करनेसे या मोहक दृश्यके देखनेसे या मधुर काव्यके पढ़नेसे उत्पन्न होता है वह तर्कवादसे नहीं हो सकता। वह आनंद केवल स्वाभाविक है, वह बुद्धि-प्रभावका फल नहीं है और वह बड़े बड़े विद्वानों या तत्त्ववेत्ताओं तथा अत्यंत अज्ञानी और ग्रामीण-जनोंके हृदयमें एक ही समान प्रतीत होता

है । कभी कभी तो उसके विषयमें सिर्फ यही कहा जा सकता है कि 'हाँ, मुझे आनंद हो रहा है;' परंतु इस बातका उत्तर दिया नहीं जा सकता कि **क्यों** आनंद हो रहा है। उक्त विवेचनका तात्पर्य यही है कि अभिरुचि नामक शक्ति सब मनुष्योंके अंतःकरणमें स्वयं-सिद्ध है । स्वाभाविक रीतिसे सब मनुष्योंको ऐसे ही पदार्थोंकी चाह होती है जो सुव्यवस्थित, सप्रमाण, नियम-बद्ध, भव्य, सुस्वर, और तेजस्वी होते हैं । इस अभिरुचिके मूलतत्त्व छुटपन हीसे मनुष्यके स्वभावमें उपस्थित रहते हैं और वे अनुकूल विषयोंके संयोगसे प्रकट होते हैं । अस्तु ।

जैसे अभिरुचि नामक शक्ति ईश्वरने प्रत्येक मनुष्यको दी है वैसे ही उसने **प्रतिभा** नामक एक और शक्ति उसको दी है । इस शक्तिकी सहायतासे अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका ऐसा संयोग किया जाता है जो ध्वनि-रूप, चित्र-रूप, मूर्ति-रूप, गृह-रूप या काव्य-नाटकादि रूपसे व्यक्त होने पर आनंद, विस्मय, चमत्कृति आदि भिन्न भिन्न मनोविकारोंको सहज ही प्रकट कर सकता है । जिन कलाओंमें प्रतिभा-शक्तिका पूर्ण प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है उन्हें 'अभियुक्त कला' Fine Arts कहते हैं । चित्र, गायन, वादन, शिल्प और काव्य अभियुक्त कलाएँ हैं । ये सब कलाएँ अनुकरणात्मक Imitative हैं; क्योंकि उनमें भिन्न भिन्न साधनों द्वारा सृष्टिके पदार्थों, ध्वनियों, दृश्यों और चमत्कारोंका अनुकरण करनेका प्रयत्न किया जाता है । गवई लोग अपने कंठस्थित भिन्न भिन्न सुरों और आलापोंसे तथा बजानेवाले अनेक प्रकारके वादन-यंत्रोंसे सृष्टिकी भिन्न भिन्न ध्वनियोंका अनुकरण करते हैं । चित्रकार भिन्न भिन्न रंगों और आकारोंसे तथा शिल्पकार काठ, मिट्टी, पत्थर आदि अनेक पदार्थोंसे सृष्टि (प्रकृति) के भाँति भाँतिके दृश्योंका अनुकरण करते हैं । इसी तरह कवि मनुष्यके अंतःकरणके विविध तरंगों और भिन्न भिन्न वृत्तियोंको शब्द-द्वारा चित्रित करता है । जो कार्य कलम और

रंगकी सहायतासे चित्रकार करता है। वही कार्य कवि शब्द-रूप साधनोंसे करता है। यह कवित्व-शक्ति, जिसको अलंकार-शास्त्रमें प्रतिभा कहते हैं, सचमुच ईश्वरका अमूल्य दान है। सहृदय पाठकोंके अंतःकरणमें आनंद और चमत्कृति उत्पन्न करनेवाले वाक्य-समूहको काव्य कहना चाहिए—चाहे वह गद्य-रूप हो या पद्य-रूप हो। किसी प्रसिद्ध कविका कथन है कि अत्युत्कट मनोविकारोंके प्रादुर्भावको काव्य कहते हैं। अर्थात् ऐसे प्रादुर्भावमें चमत्कृति-जनकत्व होता ही है। अत एव कविके लिए जिन असाधारण गुणोंकी आवश्यकता होती है वे ये हैं—मनुष्योंके मनोविकारोंका अप्रतिम ज्ञान, प्राकृतिक पदार्थोंकी सादृश्य-प्रतीति और हृदय-द्रावक वर्णन करनेकी शक्ति। सारांश यह है कि अभिरुचि और प्रतिभा नामक शक्तियोंके स्वरूपका जो वर्णन यहाँ तक किया गया उससे पाठकोंके ध्यानमें यह बात अवश्य आ गई होगी कि महाकाव्यके साथ उन शक्तियोंका क्या संबंध है।

इसमें संदेह नहीं कि मनुष्यके अंतःकरणको अभिरुचि और प्रतिभा-शक्तियोंसे सुसंस्कृत करनेमें ईश्वरने अपनी असीम चतुरता और दयालुता प्रकट की है। लोग कहते हैं कि जो मनुष्य गायन-कलामें निपुण होता है उसको मानो ईश्वर एक नया अवयव ही दे देता है। इसी तरह ईश्वरने मनुष्यको अभिरुचि और प्रतिभाका दान देकर उसको अगणित सुखोंकी प्राप्तिके लिए सामर्थ्यवान् बना दिया है। यदि ईश्वर नेत्रेन्द्रियमें केवल देखने हीकी और कर्णेन्द्रियमें केवल सुनने हीकी शक्ति रखता तो भी उक्त इंद्रियों पर अवलंबित रहनेवाले सब व्यावहारिक कार्य अच्छी तरह सिद्ध हो जाते। उक्त इंद्रियों द्वारा होनेवाले साधारण कार्योंकी सिद्धिके लिए अन्य किसी प्रकारकी शक्तियोंकी आवश्यकता नहीं है। परंतु प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारोंमें तथा कृत्रिम पदार्थों और व्यापारोंमें नेत्रेन्द्रिय और कर्णेन्द्रियको गोचर होने-

वाले सौंदर्य तथा उदात्त-स्वरूपसे अंतःकरणमें एक प्रकारकी सूक्ष्म संवेदना होनेके कारण जो विशुद्ध विस्मयानंद प्रतीत होता है उसकी सिद्धि कर देनेमें ईश्वरने मनुष्य मात्र पर अपनी अगाध दया और अवर्णनीय प्रेम व्यक्त किया है। मनुष्यके जीवनके लिए जो जो पदार्थ आवश्यक हैं उन सबको निर्माण करके भी ईश्वरका दयालु हृदय संतृप्त नहीं हुआ, इस लिए उसने सृष्टिके सब पदार्थों और व्यापारोंमें अनंत वैभव, अद्वितीय शोभा और भाँति भाँतिके चमत्कृति-जनक धर्म स्थापित किये हैं। इसीके साथ उसने मनुष्यमें यह शालीनता भी उत्पन्न की है जिससे उक्त पदार्थों और व्यापारोंके चमत्कृति-जनक धर्मकी संवेदना उसको हो सके। सचमुच ईश्वरने सब पदार्थों और व्यापारोंमें ऐसी कुछ मोहक माया भर दी है कि जिसको देखते ही मनुष्यका हृदय मोहित होकर आनंद और आश्चर्यमें निमग्न हो जाता है। सुंदर वस्तु नेत्रोंको रमणीय मालूम होती है और मनोहर शब्द कानोंको आनंद देते हैं; तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि ध्वन्यात्मक काव्यसे मनुष्य-मात्रको सुख प्राप्त होता है!

यहाँ तक स्पष्ट पदार्थों और कृत्रिम पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाले उदात्त-स्वरूप और सौंदर्यका विवेचन किया गया। अब महाकाव्यमें दृष्टिगोचर होनेवाले सौंदर्य और उदात्तत्वका वर्णन किया जायगा। बुद्धि और प्रतिभासे जो विचार और कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं उनके भंडारको ग्रंथ कहते हैं। यदि किसीको प्रगल्भ विचार और सुंदर कल्पनाओंके जाननेकी इच्छा हो तो उसको महाकाव्यका आश्रय करना चाहिए। मनुष्यको किस बातकी चाह अधिक है, कौन पदार्थ सुंदर प्रतीत होते हैं, कौन आचरण या व्यवहार आल्हादकारक होता है, किस बातसे मनुष्यका कल्याण होता है इत्यादि अनेक उपयोगी प्रश्नोंके संतोषदायक उत्तर जैसे महाकाव्योंमें सहज पाये जाते हैं वैसे अन्य कहीं मिलना

कठिन बात है। कालिदासादि कवियोंके काव्य-ग्रंथ प्रौढ़ पद्धतिसे लिखे और विविध अलंकारोंसे विभूषित होनेके कारण केवल विद्वज्जनों हीको प्रिय हो सकते हैं; परंतु रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य सब अवस्थाके, सब प्रकारके और सब दर्जेके लोगोंको समानतासे आनंददायक प्रतीत होते हैं। ये महाकाव्य जितेन्द्रियता, तितिक्षा, साहस, निश्चय, धैर्य, प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, अद्भुत सामर्थ्य आदि अनेक बहुमोल गुणोंके केवल भांडार ही हैं। देश, काल, स्थिति आदि साधारण परिच्छेदोंसे ये महाकाव्य किसी प्रकार मर्यादित नहीं हो सकते। ये सब देशोंमें, सब समय और सब जातिके मनुष्योंमें आदर-भावसे देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि सब मनुष्योंके हृदयोंमें तारके समान सूक्ष्म और अदृश्य संबंध लगा हुआ है; जब उस तारको किसी एक स्थानमें गति दी जाती है तब उससे सब मनुष्य-मात्रोंके हृदयोंमें अनुकूल संवेदना-रूप एक प्रकारका कंप उत्पन्न हो जाता है और सब लोग अपने अपने अंतःकरण द्वारा समान आनंदमें निमग्न हो जाते हैं। इसी तरह इस संपूर्ण विश्वमें ऐसी एक-जातीय सुंदरता भरी है कि उसकी सूक्ष्म संवेदना तत्काल ही मनुष्य-मात्रको हो जाती है।

भरतखंडके महाकाव्य-संग्रहको समुद्रकी उपमा दी जा सकती है। जिस प्रकार समुद्रमें मोती वगैरह अनेक मूल्यवान पदार्थ पाये जाते हैं और उसका विस्तार भी बहुत बड़ा होता है, उसी तरह इस देशका महाकाव्य-संग्रह अत्यंत विस्तीर्ण और हितदायक अर्थ-रूप रत्नोंसे भरा है। इस महाकाव्य-रूप समुद्रके विस्तारके विषयमें सिर्फ यह कहना सब है कि इसकी तुलना करनेके लिए दुनियाकी किसी भाषामें इतना विस्तृत महाकाव्य-संग्रह है ही नहीं। देखिए, केवल रामायण नामक एक आर्ष महाकाव्यमें ४८००० पंक्तियाँ और महाभारत नामक दूसरे आर्ष महाकाव्यमें २२०००० पंक्तियाँ हैं। यूरपखंडके प्राचीन महाकाव्य यदि

हमारे प्राचीन महाकाव्योंमें अर्वाचीन समयके रघुवंश, कुमारसंभव, नैषध आदि सब महाकाव्य मिला दिये जाँय तो इनका एकत्रित विस्तार सच-मुच समुद्र हीके समान बहुत बड़ा हो जाता है। भारतीय आर्ष महा-काव्योंके अंतःस्वरूपकी ओर देखनेसे यह मालूम होता है कि उनमें मनुष्यको अगाध और अनंत ईश-शक्तिके महा-द्वारमें प्रवेश करा देनेका अलौकिक सामर्थ्य भरा है। उनमें जो आध्यात्मिक काव्य-प्रकर्ष देख पड़ता है वह अन्य किसी भाषाके महाकाव्योंमें पाया नहीं जाता। उदार चरित्र और स्वभाव-सुंदर काव्य-रसके जो नमूने उनमें देख पड़ते हैं वे अन्यत्र कहीं देख नहीं पड़ते। अस्तु।

जिस काव्यमें एक ही कथा प्रधान होती है और उसका पोषण तथा वृद्धि करनेके लिए अनेक प्रकारके परस्पर मिश्रित तथा आनुषंगिक आख्यानों और उपाख्यानोंका उपयोग किया जाता है; जिस काव्यके प्रधान पात्र उन्नत और ऊँचे दर्जेके होते हैं तथा उनका सुंदर और स्वाभाविक वर्णन किया जाता है; जिस काव्यमें धार्मिक और नैतिक तत्त्व व्याप्त होते हैं जिनका विकास भिन्न भिन्न पात्रोंके संवाद, आत्म-गत विचार और वृत्तांत-वर्णनके द्वारा किया जाता है और जिस काव्यमें सृष्ट पदार्थों और मनुष्य-मात्रों पर उत्पन्न होनेवाले धर्मतत्त्वोंके शुभदायक परिणामोंका चित्ताकर्षक वर्णन होता है, उसको **महाकाव्य** कहते हैं। उक्त व्याख्याके अनुसार दुनियाके सब महाकाव्योंमें रामायण और महाभारत हीको अग्रस्थान दिया जाता है। उक्त व्याख्यामें जिन जिन बातोंका उल्लेख किया गया है वे सब महाकाव्यके सारभूत अंश हैं जो रामायण और महाभारतमें पूर्णतया पाये जाते हैं। इन महाकाव्योंसे पुरा-तत्त्व-संशोधकोंको सहायता मिली है; इतिहास संशोधकोंने उनसे बहुत लाभ उठाया है; इनमें अद्भुत शारीरिक सामर्थ्य, धैर्य, तेज, नीति, शील परोपकार आदि अनेक उत्तमोत्तम गुणोंके आदर्श होनेके कारण भरत-

भूमिका बहुत कल्याण हुआ है—यदि इन सब बातोंको क्षणभर अलग छोड़ दें तो भी केवल काव्य-कला हीकी दृष्टिसे ये महाकाव्य दुनियाके सब महाकाव्योंमें आदर्श-रूप माने जा सकते हैं। भारतीय महाकाव्य-रूप सरोवरसे सैकड़ों नाटकों और संगीत काव्योंमें स्फूर्ति-रूप झरने उत्पन्न हुए हैं। इन महाकाव्योंमें जो अनेक प्रासंगिक आख्यान और उपाख्यान हैं वे हजारों गद्य और पद्य ग्रन्थोंके संविधानक हो गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये महाकाव्य आर्यभूमिकी पुराण-कथाओंका मानो एक महासागर ही हो गये हैं। इनके विविध प्रसंगों परसे अनेक चित्रकारों और कारीगरोंने असंख्य चित्र, मूर्तियाँ और दृश्य तयार किये हैं तथा अनेक कलाभिज्ञोंने सौंदर्य, अंग-सौष्ठव और परिपूर्णताके मूर्तिमंत आदर्श निर्माण किये हैं। इस बातकी गिनती लगाना तो बहुत कठिन काम है कि उन-प्रसंगों परसे शब्द-सृष्टिमें आज तक कितने नूतन चित्र-पट बने हैं और भविष्यमें कितने बनेंगे। सारांश यह है कि इन महाकाव्योंका प्रभाव पूर्ववत् इस समय भी अभंग रूपसे बना हुआ है और वह भविष्यमें भी ज्योंका त्यों बना रहेगा। ईश्वर-निष्ठा और सदाचार हीमें सदा निमग्न रहनेवालोंको ध्यान करने और तदनुरूप बर्ताव करनेके लिए न जाने कितने मनोवेधक, चित्ताकर्षक, केवल ईश्वर-तुल्य, परम पवित्र और उदार चरित्र इन काव्योंमें मिले होंगे! इकलौते पुत्रके वियोगसे जिन माताओंका हृदय विदीर्ण हो गया है उनकी शांति किसने की है? असामर्थ्य और पापाचरणसे थर-थर काँपते हुए पैरोंको किसने स्थिर किया है? दरिद्रतासे पीड़ित और हतभागी जीवोंके अंतःकरणमें अपने जीवनकी आशा किसने उत्पन्न की है? इस संसारकी विषमता और सब आशाओंका नाश मनुष्योंने क्यों कर सहन किया? उक्त प्रकारके अनेक प्रश्नोंका एक ही उत्तर है कि यह रामायण और महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्योंका अलौकिक सामर्थ्य है।

अब उक्त महाकाव्योंकी कथाओंका संक्षेपमें उल्लेख करके यह देखना चाहिए कि उनमें किन तत्त्वोंकी शिक्षा दी गई है। पहले रामायणकी कथाकी ओर देखिए। अत्यंत रमणीय और प्रशान्त अयोध्यापुरीमें राजा दशरथके पुत्र श्रीरामचंद्रजीका जन्म होकर आज हजारों वर्ष व्यतीत हो गये हैं। सरयू नदीके किनारे श्रीरामचंद्रजीने अपने भ्राताओंके साथ जो बाल-लीला की उसका वाल्मीकि-मुनि-कृत वर्णन अजरामर होनेको हजारों वर्ष हो गये हैं। इस जगत्में एक ऐसा गूढ़ तत्त्व व्याप्त है जो मानवी-कल्पनासे आकलन किया नहीं जा सकता—यदि मनुष्य उसको अपनी मर्यादित कल्पनाके अधीन करना चाहे तो वह तुरंत गुप्त हो जाता है और जिस गूढ़ तत्त्वको कोई अपरिहार्य प्रारब्ध-कर्म कहते हैं, कोई आनुवंशिक परिणाम कहते हैं, कोई यदृच्छा कहते हैं और कोई माया कहते हैं उसकी कृपा या अवकृपाके सुख और दुःख-रूप फल श्रीरामचंद्रजीको भोगनेको हजारों वर्ष बीत गये हैं। यद्यपि श्रीरामचंद्रजीके मनुष्य-चरित्रकी सब बातें हजारों वर्षकी पुरानी हो गई हैं तथापि उनके दैवी प्रकाशकी मोहकता इतनी तीव्र है कि आज इस समय भी हमें यही प्रतीत होता है कि वे सब बातें हमारी दृष्टिके सामने उपस्थित हैं। देखिए, इस समय भी हमें यह भास होता है कि अरण्यमें जगत्पावक श्रीरामचंद्रजी आगे आगे जा रहे हैं, उनके पीछे पीछे महासाध्वी पतिव्रता सीताजी जा रही हैं और उन दोनोंके पीछे परम भक्त लक्ष्मणजी चले जा रहे हैं। यद्यपि क्षणभरके लिए हमें यह मालूम होता है कि श्रीरामचंद्रजीका हृदय उद्विग्न हो गया है, आशा-भंगके कारण उनके अंतःकरणमें उदासीनता छा गई है और उनको अपना जीवन कष्टमय प्रतीत होता है, तथापि वे इस विचारसे सदा आनंद और शांतिमें निमग्न देख पड़ते हैं कि मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया, पिताके वचनको सत्य किया और मेरे साथ मेरे भाई

और मेरी स्त्रीने भी अपने अपने धर्मोंके अनुसार ही आचरण किया। तीनोंने निश्चय कर लिया था कि चौदह वर्ष घोर वनवास भोगे बिना घर न लौटेंगे। गंगा पार करके तीनोंने मध्य हिंदुस्थानके अरण्योंमें भ्रमण किया। केवल कंद, मूल और फलों पर वे अपना उदरपोषण करते थे। वृक्षोंके नीचे बैठ कर शीतल और सुगंध वायुके स्पर्शसे वे अपने श्रमका परिहार करते, निर्मल निर्झरोंके जलसे अपनी तृषाको शांत करते और खुले मैदानमें तृणकी शैया पर नींद लेते थे। उन तीनोंमें परस्पर प्रेम-भाव होनेके कारण उनको ऐसी कठिन अवस्थामें भी किसी बातकी न्यूनता प्रतीत होती न थी। वे जिन जिन ऋषियोंके आश्रममें जाते वहीं उनका आदर और स्वागत होता था। आश्रममें रहनेवाली ऋषि-पत्नियाँ अत्यंत पूज्य-भावसे उनका सम्मान करती थीं। प्राचीन समयमें ऋषि और मुनिजन अरण्यमें कुटी बना कर स्त्री-सहित एकांत स्थानमें रहा करते थे। उस समय विवाह-संबंधका उद्देश केवल विषयोपभोग या लौकिक व्यवहार न था; किंतु धर्माचरणके लिए विवाह-द्वारा दो हृदयोंका परस्पर सम्मेलन होता था। यही कारण है कि स्त्रीको धर्मपत्नी, अर्धांगी, सहचारिणी आदि कहते हैं। अस्तु। अनेक तपस्वी जनोंका आदरातिथ्य स्वीकार करके श्रीरामचंद्रजीने दंडकारण्यमें प्रवेश किया और अगस्त्य मुनिकी सम्मतिसे पंचवटी नामक एक स्थानमें पर्णकुटी बना कर वे रहने लगे।

पंचवटीमें रहते रहते और हरिण, पक्षी, वृक्ष, पाषाण, सरोवर आदिकी प्राकृतिक शोभा देखते देखते जगन्माता सीताजीको वनवासके दुःखका विस्मरण हो गया। परंतु यह दशा बहुत समय तक टिकने न पाई। लंकाधिपति रावण सीताजीको हरण करके ले गया। इसके बाद श्रीरामचंद्रजीको सीता-वियोगसे बहुत दुःख और शोक हुआ। स्मरण रहे कि दुःख, शोक, क्लेश, यातना आदिके बिना उदात्त आर्य-धर्माचरणकी

परिक्षा नहीं की जा सकती । अए एव जब चौदह वर्षोंके वनवासकी दारुण आपत्तियोंसे श्रीरामचंद्रजीके धीरोदात्त स्वभावकी जाँच हो गई तब कहीं उनको राज्य-पदका लाभ हुआ । प्राचीन समयमें स्वधर्म-संरक्षक आर्य-पुत्रोंके लिए अनुशासनकी यही पद्धति थी । प्रत्येक द्विजको आठ-वर्षकी अवस्थामें अपने माता-पिताके घरसे अलग होकर बारह, चौबीस या छत्तीस वर्ष तक गुरु-गृहमें निवास करना पड़ता था । वहाँ ब्रह्मचर्यका अवलंब करके, मृगचर्म और वल्कल पहन कर, भिक्षा माँग कर और शिष्य-वृत्तिका स्वीकार करके उसको अपने गुरुकी सेवा करनी पड़ती थी । इस प्रकार कष्ट सह कर वेदाध्ययन करना प्राचीन समयके आर्य-पुत्रोंका धर्मव्रत समझा जाता था । अस्तु । पित्राज्ञा पालन, सत्यवादित्व, एक-पत्नीत्व आदि गुणोंके कारण और बहुत दिनों तक कायिक तथा मानासिक क्लेश भोगनेके कारण श्रीरामचंद्रजी इस देशके सब आर्यजनोंके हृदयमें प्रत्यक्ष मूर्तिके समान प्रतिबिंबित हो गये हैं । अनेक विपत्तियोंसे सामना करनेके बाद श्रीरामचंद्रजीको अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्ति हुई। इस चरित्रसे यह अंतःकरणमें प्रकाशित होता है कि यदि कर्तव्य-तत्परता और स्वधर्म-निष्ठा जागृत हो तो परमेश्वर इच्छित फलकी सिद्धि अवश्य करा देता है । सीताजीको रावणकी कैदसे छुड़ा लानेमें सुग्रीव, हनुमान बिभीषण आदिने बहुत सहायता की । श्रीरामचंद्रजी रावणका वध करके सीताजीको साथ लेकर अयोध्याको लौट आये । परम भक्त भरतने राज्यका प्रबंध श्रीरामचंद्रजीके अधीन कर दिया । श्रीसीता-सहित राम-चंद्रजीको राज्याभिषेक किया गया । श्रीरामचंद्रजीने अपने पराक्रमी बीरों और स्वामि-निष्ठ सेवकोंको अनके प्रकारके पारितोषिक समर्पण किये।

यहाँ श्रीरामचरित्रका प्रथम भाग समाप्त हुआ । तदनंतर श्रीरामने दस हजार वर्ष तक पृथ्वीका राज किया । उनके राज्यमें किसी स्त्रीको पतिकी मृत्युसे विधवावस्थाका दुःख भोगना नहीं पड़ा, लोगोंको साँप

और रोगका कोई भय न था, चोरोंका नाम तक किसीको मालूम न था, किसी पर संकट या आपत्तिका हमला नहीं हुआ, बुड्ढोंको अपनी संतानोंकी मृत्यु देखनेका मौका नहीं मिला; जिधर देखो उधर शांति, आनंद, सुख और संतोष ही देख पड़ता था। इसका मुख्य कारण यही है कि सब लोग अपने प्रभु श्रीरामचंद्रजीके सात्विक आचरणकी ओर देख कर स्वधर्म-पालनमें निमग्न रहते और कोई किसीको पीड़ा देते न थे। उस समय जल-वृष्टि समयोचित और संतोषदायक होती थी, वृक्षोंमें फल और फूल लदे रहते थे और वायु सब जीव-मात्रोंके स्वास्थ्यकी रक्षाके अनुकूल चलती थी। इसीको द्वापर-युगका **रामराज्य** कहते हैं।

इस प्रकार धर्म, राज्य, कीर्ति आदि सब ऐहिक अर्थोंकी प्राप्ति कर लेने पर भी श्रीरामचंद्रजीके प्रारब्ध-कर्मोंका भोग समाप्त हुआ न था। उन पर और भी एक संकट आनेवाला था। राज्याभिषेकके बाद वे अपने राज्यके प्रबंध और प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेमें निमग्न थे। इतनेमें प्रजा-जनोंके मनमें सीताजीके पवित्र आचरणके विषयमें संदेह होने लगा; क्योंकि सीताजीको छः मास रावणके यहाँ रहना पड़ा था। ऐसी अवस्थामें श्रीरामचंद्रजीको सीताजीका त्याग करना पड़ा। प्रजा-जनोंको संतुष्ट करनेके लिए उन्हें अपने सुखकी आशा छोड़ कर पत्नि-वियोगका असह्य दुःख भोगना पड़ा; स्वकर्तव्य-पालन-रूप महायज्ञमें अपने ऐहिक सुखका हवन करना पड़ा! इसी स्वार्थ-त्यागमें श्रीरामचंद्रजीके उदार चरित्रका सारा रहस्य भरा है। यही कारण है कि अब तक सब लोग रामनामका जय-घोष कर रहे हैं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है कि चौदह वर्ष तक वनवासके कष्ट भोगने, रावणका वध करने और स्वपराक्रमसे हजारों वर्ष तक अपने राज्यकी पूर्ण उन्नति करने पर भी श्रीरामके प्रारब्ध-कर्मकी तृप्ति नहीं हुई? देखिए, कैसी आश्चर्यकी बात है कि जिसने पतिव्रता-धर्म पालन करनेके हेतु अयोध्यापुरीके राजमहलोंके

वैभव और विलासका त्याग कर दिया, जो अपने पतिकी सेवामें सदा तत्पर रहनेके लिए वनवासिनी हो गई, जिसने अग्निमें प्रवेश करके देवों और गंधर्वोंके सन्मुख अपना शुद्ध भाव और पवित्र आचरण प्रकट-रूपसे प्रस्थापित किया, उस साध्वीके संबंधमें संदेह-चित्त होकर लोगोंने उसको घरसे बाहर निकलवा दिया! अस्तु। गर्भवती सीताको लक्ष्मणने अरण्यमें वाल्मीकि ऋषिके आश्रमके समीप छोड़ दिया। ऋषिने उनको अपने आश्रममें रख लिया। वहीं उनके कुश और लव नामक दो पुत्र हुए। वाल्मीकिने उन बालकोंको स्व-रचित रामायणका अध्ययन कराया।

इधर अयोध्यामें श्रीरामचंद्रजीने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया। वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप आदि ऋषिगण, बड़े बड़े तपस्वी ब्राह्मण, भिन्न भिन्न देशोंके राजा और महाराजा लोग, हनुमान सुग्रीव आदि वानर-गण यज्ञ-मंडपमें उपस्थित थे। उस समय वाल्मीकि मुनि भी अपने शिष्योंको साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्व-रचित रामायणका कुश और लवसे गान कराया। गानेके समय द्रुत, मध्य-विलंबितादि प्रकार, बालकोंका कंठमाधुर्य, सुर, आलाप और तानें तथा काव्यके अर्थकी सरसताकी ओर श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान सहज ही आकर्षित हो गया। बड़े बड़े राजा, ऋषि, मुनि, व्यापारी, पुराणिक, शब्द-ज्ञानी, वयोवृद्ध ब्राह्मण, स्वर-शास्त्रज्ञ, सामुद्रिक जाननेवाले, पद्यके चरणमें ह्रस्व-दीर्घादि स्वर जाननेवाले, छंदःशास्त्रके ज्ञाता, स्वरकी मात्राओंका भेद जाननेवाले, ज्योतिःशास्त्रमें पारंगत, क्रिया और कल्पसूत्रोंके ज्ञाता, व्यवहारमें निपुण, तर्क-शास्त्रज्ञ, बहुश्रुत, वेदवेत्ता, चित्रकार, धर्मशास्त्रज्ञ, गायन और नृत्य-कलाओंमें निपुण अनेक प्रकारके जो लोग उस यज्ञमंडपमें उपस्थित थे वे सब उन बालकोंका काव्य-गान श्रवण करके एक स्वरसे 'वाह! वाह!' कहने लगे। पहले दिन बीस सर्गों तक गायन हुआ। तब श्रीरामचंद्रजीकी आज्ञासे भरत उन बालकोंके अठारह हजार

सुवर्ण-मुद्रा देने लगे; परंतु बालकोंने यही उत्तर दिया कि हम अरण्यमें रह कर कंद, मूल, फल आदि खाते हैं, वहाँ जंगलमें हम इन सुवर्ण-मुद्राओंका क्या करेंगे ! यह उत्तर सुनते ही श्रीराम तथा सब सभ्यजन अत्यंत विस्मित हो गये ।

इस प्रकार श्रीरामचंद्रजी सब सभ्यजनोंके साथ बहुत दिनों तक उन बालकोंका मनोहर गीत सुनते रहे । तब एक दिन उन्हें यह मालूम हुआ कि मुनिवेषधारी कुश और लव सीताजीके पुत्र हैं । जिस जनापवादके भयसे सीताजीका त्याग किया गया था उसको दूर करनेके लिए यह निश्चय हुआ कि सीताजी इस यज्ञ-सभामें आकर अपने आचरणकी शुद्धता शपथ-द्वारा सिद्ध करें । दूसरे दिन सीताजी वाल्मीकि मुनिके साथ यज्ञ-सभामें आईं । उस समय उनके दोनों हाथ जुड़े हुए, नेत्रोंसे अश्रुकी धारा बहती हुई, दृष्टि केवल श्रीरामचरणोंकी ओर लगी हुई, अत एव उनका मुख-कमल भूमिकी ओर झुका हुआ देख कर सब लोगोंने ऊँचे स्वरसे ‘ धन्य धन्य ’ कह कर उनका स्वागत किया !

सीताजीकी शपथ सुननेके लिए उत्कंठित होकर और भी अनेक जन वहाँ एकत्र हो गये । उस समय शुद्ध मनोहर वायु अलौकिक सुगंधसे युक्त होकर चलने लगी । सब दिशाएँ शांत हो गईं । चारों ओर गंभीरताकी छाया प्रकट होने लगी । सीताजीने हाथ जोड़ कर कहा—‘ हे भूमाता, यदि मैंने श्रीरामचंद्रजीको छोड़ और किसीका चिंतन न करके काया, वाचा और मनसे उन्हींकी सेवा की होगी और यदि मैंने श्रीरामचंद्रजीके सिवाय अन्य किसीको अपनी कल्पनामें भी प्रियकर माना न होगा, तो तू मुझे अपने उदरमें छिपा ले । ’ बस उसी समय भूमिमेंसे एक तेजस्वी सिंहासन बाहर प्रकट हुआ जो अनेक आभूषणोंसे मंडित नागसर्पोंके मस्तक पर धरा हुआ था । भूमाताने सीताजीका आदर-पूर्वक स्वागत किया, उनका हाथ पकड़ कर सिंहासन पर बैठाया और उनको

रसातलकी ओर ले चली। यह देख कर आकाशस्थ देवोंने उन पर पुष्पोंकी वृष्टि की और गंधर्वजनोंने धन्यवाद पूर्वक गान किया। यज्ञ-मंडपमें जो लोग उपस्थित थे वे सब अत्यंत विस्मित हो गये। सीताजीको पृथ्वीके भीतर जाती हुई देख कर सब लोग कुछ समय तक मुग्धसे हो गये।

यहाँ रामायणकी कथाका दूसरा भाग समाप्त हो गया। देखना चाहिए कि उक्त दोनों भागोंकी कथाओंके किन किन प्रसंगोंसे पढ़नेवालोंका चित्त मोहित होता है। इस महाकाव्यमें यथातथ्य स्वभाव-वर्णन और प्राकृतिक शोभाका अप्रतिम वर्णन कूट-कूट कर भरा है। देखिए, पंपा-सरोवर और उसके आस-पासके दृश्योंका वर्णन, किष्किंधा और अशोक-वाटिकाका वर्णन, समुद्रका वर्णन इत्यादि कैसे मनोहर हैं। भिन्न भिन्न कांडोंमें ऋतुओंका जो वर्णन किया है वह इतना आल्हाद-जनक है कि पढ़नेवालोंको क्षणभर भास हो जाता है कि मानो हम प्रत्यक्ष उन ऋतुओंका अनुभव कर रहे हैं। काव्य-देवीको स्वभावोक्ति-अलंकार द्वारा विभूषित करनेमें हमारे आदि कवि सिद्ध-हस्त जान पड़ते हैं। इसके सिवाय उनके काव्यमें प्रतिभा-शक्ति, विचार-गौरव, प्राकृतिक प्रौढ़ता, वर्णन-शैली आदि अनेक गुण भी सर्वत्र देख पड़ते हैं।

मनुष्यके अंतःकरणमें संचार करनेवाली अनेक वृत्तियाँ, मानवी जीवनकी अनेक अद्भुत बातें, सब प्रसंगोंका उदात्त भावसे निरीक्षण इत्यादि अनेक प्रकारकी चमत्कृति-जनक बातोंका समावेश होनेके कारण इस रामायणको महाकाव्योंमें बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। श्रीरामचंद्रजी और सीताजीका अद्भुत मानवी चरित्रोंसे हम लोगोंको अपने जीवनके कर्तव्यके विषयमें यह शिक्षा मिलती है कि हमारा जन्म केवल इस संसारके सुखोंका उपभोग करने हीके लिए नहीं है; किंतु अनेक प्रकारके दुःखों, संकटों और विपत्तियोंमें पड़े रहने पर भी हमको अपने कर्तव्य-पालनमें

दत्तचित्त रह कर उदात्त और मनोहर आदर्श-रूप आचरण करना चाहिए। लक्ष्मणका बंधु-प्रेम और भरतकी रामभक्ति अवर्णनीय है। पित्राज्ञा-पालन, सत्यवादित्व, एक पत्नि-व्रत, प्रजा-वात्सल्य, स्वार्थ-त्याग, निरपेक्षता, धैर्य आदि अनेक सद्गुणोंके कारण श्रीरामकी मनोहर मूर्ति, हजारों वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय आर्योंके हृदयमें चिरकालके लिए बिंबित हो गई है। क्या इस देशमें ऐसा एक भी आर्यबंधु होगा कि जिसका अंतःकरण श्रीरामनामके पवित्र उच्चारण और श्रवणसे आनंद-पूर्ण होता न होगा ? कदापि नहीं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि जिसने अपने स्त्री-धर्मके पालन करनेमें अनेक संकट भोग कर प्राण तक अर्पण कर दिये और जो निष्कलंक और निरपराधी होने पर भी जब वनमें अकेली छोड़ दी गई तब अपने पतिके विषयमें किसी प्रकारका विकल्पभाव मनमें न लाकर यही प्रार्थना करती रही कि ' प्रत्येक जन्ममें श्रीरामचंद्र ही मेरे पति हों ' वह महासाध्वी सीता श्रीभरतखंड निवासियोंके हृदयमें निवास कर रही है। स्त्री-जातिके विषयमें जगन्माता सीतासे अधिक उदार, मनोहर और पवित्र कल्पना कहीं नहीं है। इसी लिए प्रत्येक आर्यमाता अपनी कन्याको सीतादेवीका अनुकरण करनेको कहती है।

इस देशमें बहुतेरे लोग रामायणका प्रतिदिन पठन नियम-पूर्वककिया करते हैं। वे लोग रामायणको वेदके समान धर्मग्रंथ मानते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि जिसके जीवन-चरितमें पित्राज्ञा-पालन, वनवास, सेतु-बंध, रावण-वध, लंकासे सीताको लौटा लाना, प्रजाके कल्याणार्थ स्वार्थ-त्याग इत्यादि अवतार-कृत्य देख पड़ते हैं वह साक्षात् विष्णुका अवतार है और जिस ग्रंथमें उसके चरितका वर्णन है वह वेदके समान आदरणीय है। ऐसे ही महात्माओंके चरित्र देश, काल, स्थिति आदिकी मर्यादासे परिच्छिन्न हो नहीं सकते।

एक समयकी बात है कि वाल्मीकि मुनिने नारदजीसे यह पूछा—

है। इसी लिए इसको पंचम वेद भी कहते हैं। स्वयं व्यासजीने इस ग्रंथके विषयमें ब्रह्मासे जो कुछ कहा वह सुनने योग्य है। व्यासजी कहते हैं—"हे भगवन्, मैंने एक अत्यंत श्रेष्ठ काव्यकी रचना की है। उसमें अनेक विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। वेदोंका रहस्य, सांगोपांग उपनिषद्, इतिहास, पुराण, कालकी त्रिविध स्थिति धर्माधर्म-विचार, आश्रम-भेद और लक्षण, चार वर्ण तपश्चर्या और ब्रह्मचर्यका यथार्थ विवेचन, पुराणांतर्गत कथाओंका निर्देश, पृथ्वी और युग, चंद्र और सूर्य, ग्रह और नक्षत्र तथा अन्या ताराओंका प्रमाण, ब्रह्म-ज्ञान, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत माहात्म्य, पुण्यतीर्थ, पवित्र देश, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, नगर, धनुर्वेदान्तर्गत शस्त्रास्त्र-विद्या, नीतिशास्त्र, सर्व-व्यापक परब्रह्म आदि सब विषयोंका निरूपण मैंने अपने काव्यमें किया है।" इस परसे पाठकोंको महाभारतके विषय-विस्तारकी कुछ कल्पना सहज ही हो सकती है।

महाभारतकी मूलकथामें जो दो पक्ष दिखाये गये हैं उनमेंसे एक पक्षमें महाधनुर्धर, अत्यंत बलवान्, जितेन्द्रिय और स्वार्थ-त्यागी लोग हैं और उनके सहायक वृंदावन-विहारी भगवान् श्रीकृष्ण थे। दूसरे पक्षमें जो लोग थे वे अत्यंत नीच स्वभावके, स्वार्थी, लोभी, दुष्ट, घातक और बलवान् भी थे। कौरवों और पांडवोंमें बाल्यावस्था हीसे द्वेष और मत्सर-की वृद्धि हो रही थी। जेठे होनेके कारण पांडव ही राज्यके उत्तराधि-कारी थे; परंतु उनको राज्य-पदसे च्युत करनेके लिए दुर्योधनादि कौरवों-ने अनेक यत्न किये। अंतमें उन दोनों पक्षोंमें घनघोर संग्राम हुआ और कौरव नष्ट हो गये। अंध धृतराष्ट्रके हाथमें कुछ समय तक राज-सत्ता थी, इस लिए उसने भी अपने दुष्ट पुत्रोंके प्रोत्साहनसे अनीति और अन्यायके मार्गका स्वीकार किया था।

इस महाकाव्यमें व्यासजीने मानवी जीवनमें नित्य प्रतीत होनेवाली व्यावहारिक बातों हीका मुख्यतः वर्णन किया है। इसमें राज्य-पदकी आकांक्षा करनेवाले बंधुओंका जो वृत्तांत बाल्यावस्थासे लेकर तरुणावस्था तक दिया गया है उस परसे पाठकोंके ध्यानमें दुर्योधनकी जो दुर्दशा हुई और राजसूय यज्ञके समय पांडवोंका अलौकिक वैभव देख कर उसके अंतःकरणमें द्वेष और मत्सर-रूप जो अग्नि उत्पन्न हुई वही यथार्थमें भारतीय युद्धका मूल-कारण है। पांडवोंका लोकोत्तर ऐश्वर्य देख कर जब दुर्योधन आंतरिक संतापकी असह्य वेदनासे दुखित हो रहा था तब उसी समय शकुनि जैसे कपट-मूर्तिकी उसको सहायता मिल गई। उसने पांडवोंका नाश करने और उनकी सारी संपत्ति हर लेनेकी एक अजब युक्ति निकाली। वह स्वयं अक्ष-विद्यामें बहुत निपुण था। इस लिए धृतराष्ट्रने धर्मराजको द्यूत-क्रीड़ाके लिए बुलाया। यद्यपि धर्मराजको व्यासजीने इस द्यूत-क्रीड़ाके विषयमें पहले ही सचेत कर दिया था तथापि भवितव्यताके अधीन होकर वे अपनी स्त्री और सब भाइयोंको साथ लेकर दुर्योधनके घर द्यूत खेलनेको गये। देखिए, अदृष्टकी गति कैसी बलवान् होती है!

यह बात सब लोगोंको विदित है कि द्यूत खेलनेमें कोई हारता है और कोई जीतता है। दुर्भाग्य-वश धर्मराज अपनी सब संपत्ति हार गये और अंतमें उन्होंने अपनी स्त्री और अपने सब भाइयोंको तथा स्वयं अपनेको भी दुर्योधनके अधीन कर दिया! दुष्ट दुःशासनने भरी सभामें साध्वी द्रौपदीकी बहुत विटंबना की। इसके कारण कौरव-पांडवके द्वेष-रूप विष-वृक्षकी और भी वृद्धि हुई। पांडवोंकी सब संपत्ति कपट-विद्यासे हर लेने पर भी दुष्टात्मा दुर्योधनके भयानक द्वेषकी तृप्ति नहीं हुई। उसने सत्यवादी धर्मराजको फिर एक-बार द्यूत खेलनेको बुलाया और कहा कि जो हारेगा उसको बारह वर्ष तक वनवास और

एक वर्ष तक अज्ञात-वास करना पड़ेगा । यह सुन कर सभामें हाहाकार मच गया । नाना प्रकारके लोकापवाद सुन लेने पर भी धर्मराज केवल इस भयसे द्यूत खेलनेको प्रवृत्त हुए कि यदि मैं इस समय द्यूत न खेलूँगा तो मेरा व्रत भ्रष्ट हो जायगा और लोग मुझे बुरा कहेंगे । इस द्यूतमें भी धर्मराजकी हार हुई ! सच है, जब विनाश-काल प्राप्त होता है तब मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है । जैसे सुवर्ण-मृगके लोभसे श्रीरामचंद्रजीको पत्नि-वियोगका दुःख भोगना पड़ा वैसे ही धर्मराजको वृथा लौकिक भयसे वनवास और अज्ञात-वासका क्लेश भोगना पड़ा । भवितव्यता किसीके टाले टल नहीं सकती ।

द्यूतमें पराजित होनेके बाद पाँचों पांडवोंको और उनकी महासाध्वी धर्मपत्नी द्रौपदीको वनवासके लिए जाना पड़ा । उस समय प्रजा-जनोंको बहुत दुःख और शोक हुआ । अनेक ब्राह्मण अपने शिष्योंको साथ लेकर पांडवोंके संग वनमें गये । वे सदा वैदिक-धर्मकी चर्चा करके पांडवोंका मनोरंजन किया करते और उनको उत्साहित किया करते थे । यहाँसे इस महाकाव्यका सब भाग केवल धर्म-निष्ठासे परिपूर्ण है । पांडवोंके वनवासका विषय तपश्चर्या, दिव्य सामर्थ्य, धर्मानुष्ठान आदि आध्यात्मिक ज्ञानका मानो एक अथाह समुद्र ही बन गया है । पांडवोंने काम्यक, द्वैतवन, हिमालय, कैलास, बदरीकाश्रम, कुरुक्षेत्र, गंधमादन आदि अनेक पवित्र स्थानोंमें भ्रमण किया । वहाँ धौम्य, शौनक, व्यास, पुलस्त्य, मार्कंडेय आदि अनेक मुनिजन उनसे मिलनेको आते और समय समय पर उनको अनेक प्रकारके उपासना मार्गोंकी शिक्षा देते तथा उनको उत्तेजित करनेके लिए प्राचीन समयकी अनेक कथाएँ बताते थे । अजगर और यक्षके साथ धर्मराजका जो संवाद हुआ है वह सचमुच धर्म और नीतिका अपूर्व भांडार है ।

अर्जुनने दिव्य अस्त्रोंकी प्राप्तिके लिए जो धैर्य और साहस प्रकट

किया है वह यथार्थमें आश्चर्यकारक है। प्रथम उसने हिमालयके पृष्ठ-भागमें रह कर उग्र तप किया और महादेवको अपनी युद्ध-कलासे प्रसन्न करके उनसे पाशुपत-शास्त्रकी सिद्धि प्राप्त कर ली। इसके बाद इंद्रलोकमें कुछ समय रह कर उसने उपसंहार-सहित महाध्वनि-युक्त दिव्यास्त्रोंकी प्राप्ति की और चित्रसेन नामक गंधर्वसे गायन, वादन और नृत्य-कला-ओंकी शिक्षा पाई। इन कलाओंका अभ्यास करते समय यद्यपि उर्वशी नामक अप्सराने उसको मोहित करनेका बहुत यत्न किया तथापि वह अपने ब्रह्मचर्य-व्रतसे भ्रष्ट नहीं हुआ। उसने उस अप्सराको कहा—" हे सुंदरी, तू मुझे गुरु-पत्नीके समान पूज्य है, इस लिए तू मेरे विषयमें किसी प्रकारकी पाप-वासना न कर। मैं तेरे चरणों पर अपना मस्तक नवाता हूँ; क्योंकि तू मुझे माताके समान प्रतीत होती है।" यह सुन-कर उर्वशी निराश हो गई। उसने अर्जुनको शाप दिया। यह शाप अज्ञात-वासके समय अर्जुनको बहुत उपयोगी हुआ।

तैत्तिरीय संहिताके भाष्यमें सायणाचार्यने लिखा है कि वेदाध्ययनका अधिकारी वही हो सकता है जो उपनयन-विधिसे संस्कृत होता है। अर्थात् स्त्रियों, शूद्रों और पतित ब्राह्मणोंको वेदाध्ययन करनेका अधि-कार नहीं है। इस लिए ऐसे अनधिकारी लोगों पर दया करनेके हेतु भगवान् व्यासजीने भारत नामक ग्रंथकी रचना की है। यदि इसी दृष्टिसे देखा जाय तो इस ग्रंथमें वैदिक-धर्मके तत्त्व सर्वत्र देख पड़ेंगे। सनत्सुजात-पर्वमें वेद-विद्याका जो अप्रतिम निरूपण किया गया है वह अत्यंत उपयोगी है। अत एव संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख करना आवश्यक है।

परमात्मा केवल शब्दातीत है। वही सब शब्दोंका प्रधान कारण है। वेद शब्दकी भी व्युत्पत्ति वहींसे हुई है। अत एव वेदोंका भी वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। जैसे समुद्रमें तरंग उत्पन्न होती है वैसे ही वेद शब्द

भी उस ज्ञान-समुद्र-रूप परमात्मामें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार यदि मन, वाणी और अन्य किसी इंद्रियसे परमात्माके स्वरूपका आकलन नहीं हो सकता तो उसको जाननेका उपाय क्या है? परमात्म-स्वरूपका ज्ञान कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा ज्ञानमय होनेके कारण केवल प्रकाशमयत्व हीसे प्रतीत हो सकता है । सिद्ध पुरुषोंका अनुभव भी ऐसा ही है ।

यद्यपि यह बात सत्य है कि निषिद्धाचरण या पापाचरण करनेवालोंका उद्धार वेद-पठनसे नहीं हो सकता तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदाभ्यास केवल निष्फल है अथवा वेदोंकी योग्यता केवल साधारण है । सच बात तो यही है कि वेदोंकी योग्यता अनन्य-साधारण और अलौकिक है । इसका कारण यही है कि परमात्म-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करा देनेके लिए वेदोंसे बढ़ कर उत्तम साधन और कोई नहीं है । स्वर्गादिसे भिन्न जो मोक्ष नामक पुरुषार्थ है वही वेदोंका मुख्य प्रमेय है । इसमें संदेह नहीं कि वेदोंमें कर्म और उपासनाका भी निरूपण किया गया है; परंतु उस निरूपणका उद्देश्य काम्य-कर्मोंको प्रोत्साहित करने या कर्म और उपासना हीको प्रधानता देनेका नहीं है । मोक्ष-सिद्धिके हेतु-भूत ज्ञानकी प्राप्ति होनेके लिए पहले चित्त-शुद्धिकी अत्यंत आवश्यकता है । यह चित्त-शुद्धि निष्काम-कर्म और उपासनाकी सहायताके बिना नहीं हो सकती । अत एव वेदोंको कर्म और उपासना मार्गोंका भी निरूपण करना पड़ा । इस परसे यह न समझना चाहिए कि वेद कर्म-प्रधान या उपासना-प्रधान हैं । वस्तुतः वे मोक्ष-प्रधान ही हैं । तात्पर्य यह है कि कर्म और उपासना, मोक्ष-हेतुभूत ज्ञानके केवल साधन हैं; और इसी दृष्टिसे वेदोंमें उनको स्थान दिया गया है । यद्यपि वेदोंमें स्वर्गादि भोगोंका वर्णन किया गया है तथापि उनको पुरुषार्थ नहीं माना है; क्योंकि वे सब आनंद-रहित हैं। वेदोंमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख किया

गया है कि जो आत्मवेत्ता है उसीको मोक्षकी प्राप्ति होती है और जो आत्म-ज्ञान-रहित होता है उसको अनर्थकी प्राप्ति होती है तथा उसका विनाश होता है। सारांश, वेदोंका कटाक्ष आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति करा देने हीकी ओर है। अर्थात् वेद मोक्ष-रूप परम पुरुषार्थकी प्राप्ति और संसार-रूप अनर्थकी निवृत्ति करा देते हैं।

एक बात और ध्यानमें रखनी चाहिए। वेदोंमें अध्यारोप और अपवाद नामक दोनों प्रकारकी युक्तियोंसे परमात्म-स्वरूप हीका वर्णन किया गया है। यह विश्व परमेश्वर हीके माया-कल्पित नाम-रूपादि विशेषोंसे भासमान होता है। यह मूर्तामूर्त सारा जगत् परमात्मा हीका स्वरूप है। आकाशसे लेकर पृथ्वी तक यह पंचतत्त्वात्मक संपूर्ण विश्व उसी परमात्माका कार्य-रूप है। इस प्रकार अध्यारोप करनेके समय श्रुतियोंने इस विश्वमें ब्रह्मत्व प्रतिपादित किया है और अपवादके समय 'नेति नेति' वाक्योंके द्वारा विश्वसे परमात्माकी विलक्षणताका वर्णन करके उसके यथार्थ स्वरूपका परिचय करा दिया है। महानुभाव मुनिजनोंका भी यही कथन है कि वेदोंने जिस आत्म-स्वरूपकी विलक्षणताका प्रतिपादन किया है वह यथार्थमें अनुभव-सिद्ध है। अत एव यदि वेदोंका अध्ययन करनेवाले लोग वेदोंका यथार्थ उपयोग न करें तो यह वेदोंका दोष नहीं कहा जा सकता; किंतु यह उपयोग करनेवालों हीका दोष है।

वेदोंमें कृच्छ्र चांद्रायणादि तपोंका और ज्योतिष्टोमादि यागोंका वर्णन किया गया है। इसका मुख्य उद्देश यही है कि मनुष्य इन सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करके पुण्यकी वृद्धि करे और इस पुण्य-बलसे अपने सब पापोंका नाश करके प्रकाशमय ब्रह्म-रूपकी प्राप्ति करे। वेदोंका यह उद्देश नहीं है कि मनुष्य सदाके लिए इस संसारके चक्करमें डाल दिया जावे; किंतु उनका उद्देश मनुष्यको मोक्ष-प्राप्ति करा देने हीका है। खेदकी बात है कि बहुतेरे लोग स्वार्थ-वश होकर वेदोक्त साधनोंका दुरुप-

योग करते हैं । वे विहित कर्मोंका अवलंबन केवल ईश्वरार्पण बुद्धिसे नहीं करते; किंतु वे इंद्रिय-भोग्य फलाकांक्षासे उनका अनुष्ठान किया करते हैं । यह न्याय सुप्रसिद्ध है कि वासनाके अनुसार फलकी प्राप्ति होती है । इसी नियमके अनुसार वे लोग यज्ञादि काम्य-कर्मोंके द्वारा स्वर्गादि स्थानोंमें इंद्रियोपभोग भोगनेके बाद अपने शेष कर्म-बलसे फिर इस संसारके चक्करमें आ जाते हैं । यह दोष न तो उन साधनोंका है और न उन वेदोंका है जिन्होंने उनका प्रतिपादन किया है; किंतु यह दोष सर्वथा उन्हीं लोगोंका है जो उक्त साधनोंका दुरुपयोग करते हैं ।

इस प्रकार महाभारतमें वेद-विद्याके रहस्यका सर्वत्र वर्णन किया गया है । इसी लिए उसको पाँचवाँ वेद भी कहते हैं । वन-पर्व, उद्योग-पर्व, और शांति-पर्वमें तो अध्यात्म-ज्ञान आतेप्रोत भरा है । इसके सिवाय भगवद्गीता, सावित्री-आख्यान, सुलभा-संवाद आदि और भी अनेक मोक्ष पयोगी प्रकरण हैं । लोगोंकी इस कहावतमें बहुत सत्यता है कि जो बात महाभारतमें नहीं है वह इस जगत्में भी नहीं है ।

भरतखंडके किसी शहर या गाँवमें आप जाइए और वहाँ इस बातका पता लगाइए कि ऐसा कौन मनुष्य है जो महाभारतके किसी भी अंशसे परिचित नहीं है । हम समझते हैं कि ऐसा मनुष्य एक भी न होगा । इस महाकाव्यके आधार पर इतने नाटक, आख्यान और इतनी कथाएँ प्रच-लित हैं कि उक्त बात हमें किसी प्रकार असंभव मालूम नहीं होती । अनेक मंदिरोंमें यह महाकाव्य नित्य पढ़ा जाता है, जिसको सुननेके लिए हजारों लोग एकत्र होते हैं । ज्ञानेश्वर महाराजका कथन है कि सूर्यके तेजसे जैसे यह जगत् प्रकाशित होता है वैसे ही व्यासजीकी प्रतिभा-शक्तिसे महाभारत प्रकाशित हुआ है । जैसे सब प्रकारके आभूषण शोभायमान होनेके लिए सुवर्णका आश्रय करते हैं वैसे ही सब प्रकारकी कथाओंने संसारमें प्रकाशित होनेकी इच्छासे व्यास-वाणीका आश्रय

स्वीकृत किया है। इसी लिए यह सारा जगत् व्यासोच्छिष्ट समझा जाता है।

रामायण और महाभारतका इस देशमें इतना सार्वत्रिक प्रचार है कि गुहाओं और मंदिरोंमें, राजमहलों और झोंपड़ियोंकी दीवालों पर, सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल आदि धातुओंके बर्तनों या आभूषणों पर, जिधर देखिए उधर, इन महाकाव्योंमें वर्णित किसी-न-किसी बातके चित्र देख पड़ते हैं। प्रत्येक गृहमें स्त्रियाँ अपने छोटे छोटे बालकोंको रामायण या भारतके किस्से सुनाती हैं। स्त्रियोंमें सीता, सावित्री, द्रौपदी आदिकी कथाएँ प्रचलित हैं। वृद्ध पुरुष अपने तरुण बालकोंके साथ बातचीत करनेके समय वसिष्ठ, भीम, विदुर, मैत्रेय आदि अनेक महात्माओंके बोध-वचनोंका उपयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये दोनों महाकाव्य ही इस देशके सच्चे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं।

कौरव और पांडवके इतिहास-प्रसिद्ध युद्धके संबंधकी कथाओं और आख्यानोंका व्यास-कृत मूलभारत आगे चल कर महाभारत हो गया है। रामायणमें सिर्फ अयोध्या-पति दशरथके पुत्रोंका चरित वर्णन किया गया है। महाभारतके पात्र अत्यंत तेजस्वी हैं; उनमें पराक्रमी पुरुषोंके गुण और दोष भी देख पड़ते हैं। रामायणके पात्र सत्य-प्रियता, एक-पत्नीत्व, बंधु-प्रेम, पातिव्रत्य आदि सात्विक गुणोंसे मंडित हैं। महाभारतमें युद्धका सरस वर्णन किया गया है। रामायणमें कविने कुटुंबिक प्रेमका वर्णन किया है। महाभारतमें आर्य-वीरोंकी सच्ची शूरता देख पड़ती है और रामायणमें उन सात्विक वृत्तियोंका विकास देख पड़ता है, जिनका मनुष्यके व्यवहारमें प्रतिदिन उपयोग होता है। इन दोनों महाकाव्योंके उक्त भेदोंको स्पष्ट रीतिसे व्यक्त करनेके लिए कुछ उदाहरणोंकी ओर देखना चाहिए। द्रौपदीके स्वयंवरमें उस समयके सब धनुर्धारियोंकी शूरता और निपुणताकी परीक्षा हो जानेके बाद जो विवाहोत्सव हुआ

उसकी तुलना करनेसे श्रीसीता-रामचंद्रके विवाहका वर्णन बहुत सादा मालूम होता है । भीम और दुर्योधन तथा कर्ण और अर्जुनके पारस्परिक द्वेष और मत्सरके सामने राम और रावण या लक्ष्मण और इंद्रजित्का बैर-भाव बिलकुल कम दर्जेका प्रतीत होता है । जिस समय दुर्योधनकी सभामें द्रौपदीकी विटंबना की गई उस समय उसने अपने पतियोंकी निर्भत्सना की है । उसको पढ़नेसे यह मालूम होता है कि सीता-हरणके समय सीताजीका भाषण बहुत सौम्य (नरम) है । युद्धके आरंभमें राजा युधिष्ठिरके मंत्रि-मंडलमें जैसी जोरदार और प्रभावशाली वक्तृता सुन पड़ती है वैसी रावणकी सभामें नहीं है । धृतराष्ट्रकी सभामें जब श्रीकृष्णने मध्यस्थता की तब दुर्योधनने कहा—'मैं एक सूजीकी नोकके बराबर भी जमीन न दूँगा ।' इस प्रसंगमें जो तेजस्विता प्रकट हुई है उसके सामने रावणकी सभामें बिभीषणकी युद्ध न करनेके विषयकी प्रार्थना और रावणका तिरस्कार-युक्त उत्तर दोनों मंद प्रतीत होते हैं । अनेक वीरोंने मिल कर किया हुआ अभिमन्युका वध, अर्जुनकी प्रतिज्ञा, कर्ण और अर्जुनका युद्ध, भीम और दुर्योधनका युद्ध इत्यादि प्रसंग इतने हृदय-द्रावक और अंतःकरण-भेदी हैं कि उनके समान एक भी प्रसंग रामायणमें दृष्टि-गोचर नहीं होता । रामायणकी दृष्टि धर्म-निष्ठा और शांतताकी ओर है तथा महाभारतकी दृष्टि शूरता और तेजस्विताकी ओर है । महाभारतमें वीरता और तेज हीका भाव सर्वत्र पाया जाता है । रामायणमें सात्विक वृत्तियोंका विकास देख पड़ता है—यही वृत्तियाँ सदा मनुष्योंके व्यवहारमें उपयोगी होती हैं और इन्हींसे सारा जगत् व्याप्त है ।

अब यह बात पाठकोंके ध्यानमें भली भाँति आ गई होगी कि ये दोनों आर्ष महाकाव्य हम लोगोंको इतने प्रिय क्यों मालूम होते हैं और इस देशके निवासियों पर उनका इतना प्रभाव क्यों देख पड़ता है । कोई

प्रतिभा-विशिष्ट ग्रंथ चिरकाल तक लोगोंकी निष्ठा, आदर और प्रेमका पात्र तभी हो सकता है जब कि उसमें अविनाशी सत्यका प्रकाश होगा और मानवी मनोवृत्तियोंके, जीवनके कर्तव्यके तथा धार्मिक निष्ठाके यथार्थ स्वरूपका ऐसा वर्णन किया जायगा, जिससे आनंद और चमत्कारकी तत्काल उत्पत्ति होगी। इस देशके प्राचीन समयके राजनीतिक विषयोंका स्वरूप महाभारतमें दिखाया गया है, इस लिए उसमें शूरता, महत्त्वाकांक्षा, पराक्रम, तेज, अभिमान, उदात्त आचरण इत्यादि गुण पाये जाते हैं। रामायणमें इस देशके प्राचीन समयके धार्मिक और कुटुंबिक चरित्रका चित्र दिखाया गया है, इस लिए उसमें तितिक्षा, बंधु-प्रेम, पातिव्रत्य आदि सात्विक गुण पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन दोनों महा-काव्योंकी आंतरिक रचनासे भिन्न भिन्न कार्य होते हैं तथापि दोनों मिल कर प्राचीन आर्यजनोंकी राजनीतिक, कुटुंबिक और धार्मिक स्थितिका पूर्ण चित्र प्रकाशित करते हैं।

तीसरा प्रकरण ।

अमरत्व ।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

मृत्युके अभाव या नाशको अमरत्व अथवा अमृतत्व कहते हैं । अतएव अमरत्वका यथार्थ बोध होनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि मृत्यु किसे कहते हैं। सर्व-साधारण लोगोंकी समझके अनुसार प्राणियोंके नाश हीको मृत्यु कहते हैं; परंतु यह भूल है । यथार्थमें जिस अवस्थाको लोग मृत्यु कहते हैं वह स्थूल-देहसे लिंग-देहका केवल **वियोग** है । मृत्यु जीवात्माकी स्थितिका केवल एक भेद है। यदि यह बात सत्य है तो लोग मृत्युका इतना भय क्यों मानते हैं—किसी आप्त-जनकी मृत्यु हो जानेसे लोग दुखित क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यही है कि लोग अज्ञानी और स्वार्थी होनेके कारण मृत्युके यथार्थ रूपको भूल जाते हैं और केवल अपने स्वार्थके लिए दुखित होते हैं । बृहदारण्यकमें बहुत ठीक कहा है कि ' आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । ' अर्थात् अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिए हमको सब पदार्थोंकी चाह होती है । यदि उक्त न्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि सर्व-साधारण लोग किसी मनुष्यकी मृत्युके बाद केवल अपने स्वार्थ हीके लिए दुःख और शोक प्रकट करते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि अब उस मृत मनुष्यसे हमारा कोई लाभ न होगा । अब यह सोचना चाहिए कि जो मनुष्य मृत्युके अधीन हो रहा है वह क्यों दुखित होता है । यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक मनुष्यके कर्मानुसार मृत्यु-रूप वियोग हुआ करता है तथापि वह उस वियोगके समय यह जान कर अत्यंत दुखित होता है कि अब इस स्थूल-देहमें मेरी किसी वासनाकी तृप्ति न हो सकेगी । सारांश

यह है कि इस स्थूल-देहसे जीवात्मा (लिंग-देह) का जो स्वाभाविक वियोग हुआ करता है उससे मृत-मनुष्यको और उसके आप्त-जनोंको केवल स्वार्थ-बुद्धि और अज्ञानके कारण दुःख हुआ करता है । यही कारण है कि सब लोग मृत्युसे बहुत डरते रहते हैं और यह भय सदा उनके मनमें बना ही रहता है । अत एव इस बातकी बहुत आवश्यकता है कि जो मृत्यु सब प्राणियोंको इतनी भयानक और दुखदायी मालूम होती है उसके वास्तविक स्वरूप-लक्षणका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । इसमें संदेह नहीं कि यदि मृत्यु-भयके नाशका अर्थात् अमरत्व-प्राप्तिका कोई उपाय वेदशास्त्रोंमें मिल जाय तो वह सब लोगोंको अत्यंत हितदायक होगा ।

मृत्युके बाद प्राणियोंको जो अवस्था प्राप्त होती है वह श्रुतियोंमें " सांपराय "—Here-after—शब्दसे लक्षित की गई है । वेदभाष्यमें सांपराय शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है:—

सम्यक् परे काले देहपतनादूर्ध्वं ईयते गम्यते इति संपरायः परलोकः, तत्प्राप्ति-प्रयोजनः साधनविशेषः सांपरायः ।

अर्थात् देह-पतनके अनंतर जिस मार्गसे परलोक-प्राप्ति होती है उसको सांपराय कहते हैं । कठोपनिषद्में नाचिकेतस् और यमराजका जो अद्भुत संवाद है उसमें इस सांपरायका वर्णन किया गया है । उस संवादमें सांपराय और अमरत्वकी सिद्धि उत्तम-रीतिसे की गई है । इसी तरह महाभारतके सनत्सुजात-पर्वमें मृत्युके यथार्थ स्वरूप और अमरत्वकी प्राप्तिके विषयमें अत्यंत उपयोगी और बोध-प्रद निरूपण पाया जाता है । अत एव श्रीमत् शंकराचार्य-कृत कठवल्ली और सनत्सुजात-पर्वके भाष्यके आधार पर ही प्रस्तुत विषयका यहाँ विवेचन किया जायगा ।

नचिकेतसने यमराजसे यह प्रश्न किया—" जब मनुष्य मर जाता है तब उसकी क्या दशा होती है ? कोई कहते हैं कि उसका बिलकुल नाश हो जाता है और कोई कहते हैं कि उसका नाश नहीं होता । अब मुझे यह बताइए कि इन दोनोंमेंसे कौन मत सत्य है । " इसी प्रश्नके

उत्तरमें यमराजने सांपरायका विस्तृत वर्णन किया है। कठवल्लीमें सांप-राय और अमरत्वकी सत्यता सिद्ध करनेके लिए नैतिक, अध्यात्म और तात्त्विक विचारोंका अवलंब किया गया है। अब इनका पृथक् पृथक् विवेचन किया जायगा।

कुछ लोग यह कहते हैं कि वेदांत-दर्शनमें नीतिका बिलकुल विचार नहीं किया जाता। इस लिए इस दर्शनके सिद्धान्तोंके अनुसार मनुष्य पर अपने कृत-कर्मोंके विषयमें कोई नैतिक जबाब-देही मानी नहीं जाती। परंतु यह आरोप सत्य नहीं है। वेदान्त-दर्शनमें नीति-रूप मंदिर अमरत्व हीकी नीव एर स्थापित किया गया है। देखिए, नचिकेतसके उक्त प्रश्नके उत्तरमें यमराज क्या कहते हैंः—

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ —काठक ।

इसका अर्थ यह है—"अविवेकी मनुष्यके मनमें परलोककी कोई कल्पना ही नहीं होती; क्योंकि वह स्वरूपको नहीं जानता और संपत्तिके मदसे सदा मूढ़ बना रहता है। ऐसा मनुष्य यह कहता है कि इसी जगत्में सब कुछ है—अन्य लोक कोई चीज नहीं। ऐसी अवस्थामें वह मनुष्य मेरे अधीन होकर बार-बार जन्म और मृत्युके चक्करमें गोते खाता है।" माधवाचार्यके सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथमें देहात्म-वादी चार्वाकका मत इस प्रकार दिया गया है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ —सर्वदर्शनसंग्रह ।

अर्थात् 'जब तक इस देहमें प्राण हैं तब तक सुख-चैनसे रहना चाहिए। यदि स्निग्ध, मिष्ट आदि पुष्टिकारक पदार्थोंके खानेमें ऋण हो जाय तो भी कुछ चिंता न करनी चाहिए—ऋण करके भी सुख और चैन भोग लेना चाहिए। इसका कारण यह है कि जब यह शरीर एक-बार नष्ट हो जायगा तब वह फिर न मिलेगा। यदि मृत्युके बाद कुछ

है ही नहीं—न परलोक है और न वहाँ कोई गति है—तो जीते जी सुख और चैन क्यों न भोग लें? कौन जानता है कि मृत्यु इस शरीरको कब नष्ट कर देगी? मृत्युके अनंतर सुख भोगनेको न मिलेगा।' इस परसे यह बात सिद्ध होती है कि जो लोग परलोकको नहीं मानते और इस बात पर विश्वास नहीं रखते कि आत्मा अमर है वे लोग नीति-युक्त आचरणकी कुछ परवा नहीं करते। सच है; Eat, drink and be merry अर्थात् 'खाना-पीना और सुखसे रहना' यही जिनके जीवनका प्रधान उद्देश है वे नीतिकी परवा क्यों करेंगे! यथार्थमें वही मनुष्य नीति-संपन्न हो सकता है जो इस लोकके सिवाय अन्य लोक (परलोक) को मानता है और आत्माके अमरत्वमें विश्वास रखता है।

जो लोग उपयोगिता-वादको मानते हैं (Utilitarians) उनका कथन है कि मनुष्यको नीतिवान् होना चाहिए; क्योंकि नीति-युक्त आचरण-से उसका हित होता है; और पदार्थ-विज्ञान-वादी (Scintiests) कहते हैं कि जिससे अधिकांश जन-समूहका कल्याण हो वही नीति है। परंतु नीतिकी यथार्थ और संतोषदायक सिद्धि न उपयोगिता-वादसे और न बहुजन-कल्याण-वादसे हो सकती है। इसका कारण यह है कि जब तक भले-बुरेका, हित-अनहितका, कल्याण-अकल्याणका और सत्य और असत्यका निर्णय, इस संसारके साधारण व्यवहारों हीकी ओर ध्यान देकर, केवल बुद्धि या विचार-शक्तिके आधार पर किया जायगा तब तक नीति-मंदिरकी नीव मजबूत नहीं कही जा सकेगी। यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वका है कि मनुष्यका हित या कल्याण किस बातसे होगा। इस महत्त्वके प्रश्नका विचार यथार्थमें उदात्त दृष्टि हीसे किया जाना चाहिए। यदि कोई सूक्ष्म-रीतिसे निरीक्षण करेगा तो यह बात सहज ही उसके ध्यानमें आ जायगी कि इस संसारके साधारण व्यवहारोंमें भले-बुरेका निर्णय करनेमें बुद्धि या विचार-शक्तिकी भूल कैसी हुआ करती

है । जिस वस्तु या स्थितिको कुछ लोग अच्छी कहते हैं उसीको अन्य-जन बुरी समझते हैं; क्योंकि यह बात अनुभव-सिद्ध है कि जब कभी कोई मनुष्य भले-बुरेका निर्णय करता है तब वह निर्णय सदा स्वार्थ (Interest) और पूर्व ग्रह या पूर्व संस्कार (Prejudices) पर अव-लंबित रहता है । अत एव इस प्रकारका निर्णय कदापि हितदायक या कल्याणकारक नहीं हो सकता ।

सदाचार ही नीतिका मुख्य आधार है । इसके विषयमें भारतीय आर्योंने बहुत सूक्ष्म विचार किया है । पहले यह जानना चाहिए कि अच्छा किसे कहते हैं और बुरा किसे कहते हैं:—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिश्रेयसो वृणीते प्रेयो मंदो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ —काठक ।

इसका भावार्थः—परिणामकी ओर दृष्टि देनेसे सब वस्तुओंके दो भेद किये जाते हैं—एक को श्रेयस और दूसरेको प्रेयस कहते हैं । जिससे आत्माका कल्याण होता है उसको श्रेयस कहते हैं और जिससे केवल देह हीको सुख होता है उसको प्रेयस कहते हैं । जो मनुष्य श्रेयस वस्तुका संग्रह करता है उसका आत्मिक कल्याण होता है और जो मनुष्य प्रेयस वस्तुओं हीका संग्रह करता है उसका परमार्थ नष्ट हो जाता है । प्रत्येक मनुष्यके सन्मुख ये दोनों पदार्थ उपस्थित हैं । विवेकी मनुष्य उन दोनोंके परिणामोंकी ओर ध्यान देता है और उसी वस्तुका स्वीकार करता है जिससे आत्माका हित होगा । परंतु जो लोग मूर्ख या अज्ञानी होते हैं वे अपनी विषय-वासनाओंको तृप्त करनेके लिए श्रेयस वस्तुका त्याग करके केवल प्रेयस वस्तुओंका संग्रह किया करते हैं । इस परसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसके द्वारा आत्म-लाभ हो उसीको

सदाचार कहना चाहिए । जो पदार्थ केवल देह हीको सुख देते हैं उनसे आत्म-नाश होता है ।

अब यदि आत्मा और देहके यथार्थ स्वरूप-लक्षणोंकी तुलना की जाय तो यही मालूम होगा कि आत्मा नित्य, सत्य और शाश्वत है तथा देह अनित्य, असत्य और अशाश्वत है । अत एव जो आत्म-लाभकी इच्छा करता है वह अशाश्वत वस्तुओंका कभी संग्रह न करेगा । कहा है—" न ह्यध्रुवैः प्राप्यते ध्रुवं तत् "—अर्थात् वह परलोक जो ध्रुव या नित्य है अध्रुव या अनित्य साधनोंसे कभी नहीं मिलता । अनात्म विषयोंका आश्रय करनेसे अविनाशी सुखकी प्राप्ति कभी न होगी । यह बात किसीको पसंद न होगी कि सब जगत्की प्राप्ति करके आत्माका नाश कर दिया जाय । सारे जगत्की प्राप्ति की जाय और उसीके साथ आत्म-लाभ भी हो जाय—यह बात प्रायः असंभव है । अत एव परलोकके अस्तित्व और आत्माके अमरत्वके चिरकालिक आधार पर जो नीति स्थापित होगी वही मनुष्यका वास्तविक हित या कल्याण कर सकेगी ।

अब अध्यात्म-दृष्टिसे आत्माके अमरत्वका विवेचन किया जायगा । अविनाशी आत्म-लाभ करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको सदा उन श्रुति-वचनोंका मनन और निदिध्यास करना चाहिए जो आत्माके अमरत्व और साक्षि-स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं । इसके संबंधमें कठवल्लीमें लिखा हैः—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ —काठक ।

इसका भावार्थः—ज्ञान-संपन्न आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है । न आत्मा किसीसे उत्पन्न होता है और न उससे कुछ वस्तु उत्पन्न होती है । आत्मा अज (जन्म-रहित), नित्य, शाश्वत

और पुराण है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता। यदि कोई वध करनेवाला मनुष्य यह कहे कि मैंने वध किया और यदि जिसका वध किया गया है वह मनुष्य यह कहे कि मेरा वध किया गया तो कहना चाहिए कि वे दोनों भी कुछ नहीं जानते। क्योंकि आत्मा न किसीको मारता है और न किसीसे मारा जाता है।

कठोपनिषद्में अध्यात्म-पृथक्करणकी रीतिसे आत्माकी सिद्धि इस प्रकार की गई है:—

> इंद्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ —काठक।

इसका भावार्थः—अर्थ (संवेदनात्मक विषय-ज्ञान) इंद्रियोंके परे है और मन संवेदनाके परे है; क्योंकि इंद्रिय-निष्ठ शक्तिसे विषय-संवेदना होती है और बिना मनकी सहायताके संवेदना (Sensation) नहीं हो सकती। बुद्धि मनके भी परे है; क्योंकि पदार्थोंका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जानेके बाद मनमें संकल्प-विकल्पादि जो वृत्तियाँ उठती हैं उनका वर्गीकरण बुद्धिके द्वारा किया जाता है। जीवात्मा बुद्धिके भी परे है; क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञान, संवेदना, मनोविकार और निश्चयात्मक बुद्धिकी अन्तर्व्यवस्था जीवात्माके कारण हुआ करती है। इस जीवात्माका स्वरूप-लक्षण यह है:—

> येन रूपं रसं गंधं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
> एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते॥
> स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरोऽनुशोचति॥ —काठक।

अर्थात् आत्मा उसे कहते हैं जिसके कारण रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि विषयोंका तथा इनके अतिरिक्त और जो कुछ शेष रहे उस सबका ज्ञान होता है। जो यह जानता है कि जागृति और निद्रा नामक

दोनों अवस्थाओंमें जिसके कारण सूक्ष्म-ज्ञान प्राप्त होता है वह सर्व-व्यापक महान् आत्मा मैं ही हूँ। वह बुद्धिवान् मनुष्य शोकसे अलिप्त रहता है। जागृति-अवस्थामें जीवात्मा सब प्रकारके व्यवहारोंका अनुभव साक्षि-भावसे करता है और गाढ़ निद्रासे जगने पर जीवात्माको यह प्रतीत होता है कि " मैं सुखसे सोया था।" सर्वज्ञप्ति-संपन्न जीवात्मा महत्तत्वसे व्याप्त रहता है, इस लिए जिसके योगसे सब जीवात्माओंकी एकता होती है उसको महत्तत्व कहते हैं। प्रकृति इस महत्तत्वके भी परे हैं; परंतु प्रकृतिकी अव्यक्तताके कारण उससे जगत्की उत्पत्ति चैतन्यकी सहायताके बिना नहीं हो सकती। प्रकृति कार्य-कारण-रूप शक्ति है। उसीको माया भी कहते हैं। ' पुरुष ' इस प्रकृति या मायाके भी परे है—वही परमात्मा है—वही अत्यंत श्रेष्ठ है। इसके परे या इससे बड़ा और कुछ नहीं है। अत एव " पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः "—पुरुष ही अंतिम मर्यादा है—वही सब ज्ञानका और सब जगत्का आदि कारण है।

उक्त अध्यात्म-पृथक्करणके उलटे क्रमसे अर्थात् उक्त परात्पर-पुरुष-रूप आदि कारणसे क्रमशः सृष्टिकी उत्पत्ति होते होते स्थावर-जंगमात्मक यह सारा जगत् निर्माण हुआ है। सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले परमात्मा एकाकी रहता है—वही सब जीवोंका यथार्थ स्वरूप और स्वामी है। उस अवस्थामें मायाका निरोध हो जानेके कारण वह परमात्मा स्वयं प्रकाशमान रहता है—उसकी शक्ति अदृश्य रहती है; परंतु चैतन्य जागृत रहता है। इस साक्षि-रूप परमात्माकी जो कार्य-कारण-रूप शक्ति है उसीको माया अथवा प्रकृति कहते हैं। उसीकी सहायतासे सर्व-व्यापक परमात्मा विश्वकी रचना करता है। परमात्माके अंशसे प्रथम ' पुरुष ' उत्पन्न होता है। उसके द्वारा अव्यक्त प्रकृति प्रेरित होकर महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है। यह महत्तत्व ज्ञप्ति-संपन्न होता है, जो अपनेमें समाविष्ट जीव-

त्वको प्रकट करता है। महत्तत्वसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकारके तीन भेद हैं—सात्विक, राजस और तामस। सात्विक अहंकारसे मन, बुद्धि और इंद्रियोंकी देवता-रूप शक्तियाँ निर्माण होती हैं। राजस अहंकारसे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ निर्माण होती हैं। तामस अहंकारसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। जिससे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इत्यादि पंचमहाभूत क्रमशः निर्माण होते हैं।

अब कठोपनिषद्में तात्त्विक रीतिसे अमरत्वकी जो सिद्धि की गई है उसका विचार किया जायगा। यह विषय अत्यंत मनोरंजक और केवल अनुभवात्मक है। इसका रहस्य यही है कि अन्तर्दृष्टि तथा अध्यात्म-योग-द्वारा आत्म-रूप वस्तुका साक्षात्कार किया जा सकता है। पहले यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि यद्यपि इंद्रियोंके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है अर्थात् यद्यपि इंद्रियाँ ज्ञान-साधन हैं तथापि उनको आत्माका दर्शन नहीं हो सकता। देखिए—

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ —काठक।

अर्थात् ईश्वरने इंद्रियाँ केवल बाह्य विषयोंको ग्रहण करनेके लिए उत्पन्न की हैं, इस लिए वे सदा बहिर्मुख ही रहती हैं। और उनको अन्तरात्माका विज्ञान कभी प्राप्त नहीं होता। हजारोंमें ऐसा एकाध मनुष्य उत्पन्न होता है जो अमरत्वकी इच्छा करके अपनी इंद्रियोंको अंतर्मुख करनेका यत्न करता है और आत्माका साक्षात्कारका अनुभव प्राप्त करता है। इंद्रियोंको अंतर्मुख करनेका जो यत्न किया जाता है—अर्थात् इंद्रियोंकी स्वाभाविक बहिर्गतिको उलटानेका जो अभ्यास है—उसीको **योग** कहते हैं। जैसे—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिंद्रियधारणाम्॥ —काठक।

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंसें पराङ्मुख हो जाती हैं, जब मन संकल्प-विकल्प-रूप अपना व्यापार छोड़ देता है और जब बुद्धि भी कोई कार्य नहीं करती तब उसको 'परम गति'—अत्यंत श्रेष्ठ स्थिति—जानना चाहिए। सब इंद्रियोंकी इस अचल या स्थिर स्थितिको योग कहते हैं। और देखिए—

इंद्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥ —काठक।

अर्थात् जब इंद्रियाँ अंतर्मुख हो जाती हैं तब यह जाननेसे कि 'जागृति-अवस्थामें वे उत्पन्न कैसे होती हैं और निद्रावस्थामें उनका लय कैसे हो जाता है' आत्म-स्वरूपसे उनकी भिन्नता—विलक्षणता—प्रतीत हो जाती है। जब इंद्रियाँ विषयोंसे पराङ्मुख होती हैं तब यह बात प्रतीत होती है कि वे उत्पत्तिकी दृष्टिसे आत्मासे भिन्न हैं और उनका स्वरूप भी आत्म-स्वरूपसे विलक्षण है। जब इंद्रियाँ अपना स्वाभाविक व्यापार करने लगती हैं और जब निद्राके समय उनका लय हो जाता है तब उनकी स्थितिके विषयमें प्रतीति होती है। जब इंद्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा अध्यात्म-योग द्वारा होनेवाले साक्षात्कारका अनुभव किया जाता है तब आत्माका शुद्ध विज्ञान सहज ही प्राप्त होता है।

अध्यात्म-योगके द्वारा जो साक्षात्कार होता है उसकी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। यह अनुभव-जन्य आत्म-ज्ञान तर्कशास्त्रके अनुमान-ज्ञान और साधारण व्यावहारिक ज्ञानसे बिलकुल भिन्न है। जो मनुष्य साधन-चतुष्टय-संपन्न होता है। वही इस ज्ञानका सच्चा अधिकारी है। देखिए—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ —काठक।

अर्थात् जो मनुष्य निषिद्ध अथवा पाप-कर्मोंसे अलिप्त नहीं है, जिसने अपनी इंद्रियोंको जीता नहीं है, जिसने मनकी एकाग्रता प्राप्त नहीं की है, जिसका चित्त शांत नहीं हुआ है उसको आत्म-साक्षात्कार कभी नहीं होता—वह केवल आत्माकी स्वतंत्र उपासना हीसे प्राप्त होता है।

जिस मनुष्यको अमरत्व प्राप्तिके उपायकी आवश्यकता है उसको केवल अध्यात्म-योग करना चाहिए । इस योगकी सिद्धिसे संसार-दुःख और विषय-सुखकी निवृत्ति हो जाती है । आत्माके बंध अथवा मोक्षका कारण केवल अंतःकरण है । जब वह विषयोंमें आसक्त हो जाता है तब सांसारिक सुख-दुःखादि द्वंद्वोंमें बँध जाता है; परंतु जब वह परमात्माके स्वरूपमें रममाण होता है तब उसको मोक्ष अर्थात् अमरत्वकी प्राप्ति होती है । अहंता और ममता (मैं और मेरा) रूप अभिमानसे उत्पन्न होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार जब नष्ट हो जाते हैं तब अंतःकरणकी शुद्धता होती है और तभी वह सुख-दुःख-रहित होकर निर्विकार और शांत रहता है । सदाचरणी मनुष्य इसी देहमें वैराग्य-बल तथा अध्यात्म-योगसे इंद्रियोंका निग्रह करके और अंतःकरणको अपने अधीन रख कर अमरत्वकी प्राप्ति कर लेता है । इस उत्तम स्थितिकी प्राप्तिका निरूपण कठोपनिषद्में रथके दृष्टांत द्वारा किया गया है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इंद्रियाणि हयानाहुर्विषयान्स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ —काठक ।

इसका भावार्थः—प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमेंसे किसी एककी ओर जीवात्मा आकर्षित होता है । प्रवृत्ति कहते हैं संसारको और निवृत्ति कहते हैं परमार्थ या अमरत्वको । इस संसारमें जितने मनुष्य हैं उनका प्रवृत्ति या निवृत्तिमेंसे कोई-न-कोई हेतु अवश्य होता है—कोई प्रवृत्तिकी ओर झुकते हैं और कोई निवृत्तिकी ओर । इन हेतुओंकी सिद्धिके लिए उक्त वचनोंमें रथकी कल्पना की गई है । यह शरीर ही एक प्रकारका रथ है । जीवात्मा उसका स्वामी है, बुद्धि सारथी (रथ चलानेवाली) है, मन लगाम है और इंद्रियाँ घोड़े हैं । रूप, रस, गंधादि जो पाँच विषय हैं वही इस रथके चलनेके मार्ग हैं । शरीर, इंद्रियाँ, मन इत्यादि सहित जो आत्मा है इसीको भोक्ता अथवा संसारी समझना चाहिए । जो मनुष्य विज्ञान-रहित है वह अपने मनको अपने अधीन रख नहीं सकता, इस लिए उसकी इंद्रियाँ बुरे घोड़ोंके समान उन्मत्त हो जाती है । परंतु जो मनुष्य विज्ञानवान् है वह अपने मनको अपने अधीन रख सकता है, इस लिए उसकी इंद्रियाँ अच्छे घोड़ोंके समान सदा उसकी आज्ञामें रहती हैं । जो मनुष्य विज्ञान-रहित है, जिसका चित्त सदा योग-युक्त नहीं रहता और जो सदा अपवित्र रहता है उसको परम-पदकी प्राप्ति नहीं होती—वह निरंतर जन्म और मृत्युके चक्करमें फँसा रहता है । जो मनुष्य विज्ञान-संपन्न है, जिसका चित्त सदा योग-युक्त रहता है और जो सदा पवित्र रहता है वह जन्म और मृत्युके फंदेसे छूट कर अमर-पदको पहुँच जाता है । यदि बुद्धि-रूप सारथी अपने कर्तव्यमें चतुर और निपुण हो तो मन-रूप लगाम खींच कर पकड़ी जा सकती है और इन्द्रिय-रूप घोड़े भी अपने अधीन रक्खे जा सकते हैं । ऐसी ही अवस्थामें जीवात्मा-रूप रथका स्वामी सुखसे अपने मार्ग-पर चला जाता है और अंतमें अमर-रूप विष्णुके परम पदको जा पहुँचता है ।

इस प्रकार जो मनुष्य सदाचार-संपन्न होकर, इंद्रियोंको जीत कर मनकी

प्रकाग्रता संपादन करके और चित्तको शांत रख कर अध्यात्म-योगके द्वारा आत्माकी स्वतंत्र उपासना करता है उसका यह विश्वास स्वानुभवसे दृढ़ हो जाता है कि जीवात्मा और परमात्माका परस्पर-संबंध छाया और धूपके समान है। जैसे असत्य-रूप छायासे सत्य-रूप धूपका ज्ञान होता है वैसे ही जीवात्मासे परमात्माका अनुभव किया जाता है और इस बातकी प्रतीति होती है कि परमात्मा ही सत्य, अत एव अमर है। देखिए—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ —काठक।

अर्थात् जो परमात्मा भूत-भव्यादि कालत्रयका स्वामी है और जो कर्मोंके बुरे-भले फलोंको भोगनेवाले जीवात्मासे अभेद-रूप है उसको जाननेसे साधक पुरुष अभय-पदको पहुँच जाता है। और देखिए—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ —काठक।

अर्थात् जब मनुष्यको नींद लग जाती है तब जो उसके अंतःकरणमें जागृत रह कर अनेक प्रकारके मनोहर दृश्य निर्माण करता है वही प्रकाशमय और अमर परमात्मा है। सब लोग उसीके आश्रयसे रहते हैं—उसके आधारके सिवाय कोई रह नहीं सकता। और देखिए—

एकोवशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्॥—काठक।

भावार्थः—परमात्मा एक ऐसा सत्ताधारी 'पुरुष' है जो सब भूतोंके अंतःकरणमें निवास करता है और जो स्वयं एक-रूप होकर अनेक रूप धारण करता है। जिनके हृदय-कमलमें उस परमात्माका साक्षात्कार होता है वही चिरकालिक सुखका अनुभव करते हैं। जो परमात्मा नाश-

वान् वस्तुओंमें अविनाशी रूपसे रहता है, जो परमात्मा सचेतन पदार्थोंमें चेतना उत्पन्न करता है और जो स्वयं एक होकर अनेकोंकी कामना सफल करता है उस परमात्माका साक्षात्कार जिस बुद्धिवान् मनुष्यको होता है वह धन्य है। विषयासक्त और अविवेकी मनुष्यको यह लाभ नहीं होता। इसी तरह और कहा है—

> यदेवेह यदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
> मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ —काठक।

अर्थात् जो जड़ सृष्टिमें प्रतीत होता है वही परमात्मामें रहता है; और जो परमात्मामें होता है वही जड़ सृष्टिमें प्रतीत होता है। इस लिए जो मनुष्य परमात्मा और सृष्टिमें भेद-भाव करता है वह जन्म और मृत्युके चक्करमें पड़ा रहता है। अब एक और प्रमाण उद्धृत करके यह विषय समाप्त किया जायगा—

> नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
> अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥
> अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
> अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥

भावार्थः—यह परमात्मा न वाचासे, न नेत्रोंसे और न मनसे प्राप्त हो सकता है। जो इस बात पर विश्वास रखता है कि परमात्मा ही सारे जगत्का आदि-कारण है उसीको अमरत्वका साक्षात्कार होता है। परमात्मा और सृष्टिमें अभेद-भाव करने हीसे परमात्माका दर्शन होता है। अत एव अमरत्वका अनुभव वही कर सकता है जो परमात्माको जगत्का आदि-कारण मानता है।

यहाँ तक कठोपनिषद्के आधार पर परलोक और अमरत्वके विषयमें विवेचन किया गया। अब इसी विषयका निरूपण सनत्सुजात पर्वके शांकर भाष्यके आधार पर किया जायगा।

यथार्थमें मृत्यु कोई चीज नहीं है, इस लिए उसके संबंधमें अस्तित्व

और नास्तित्व ये दोनों भाव केवल काल्पनिक हैं । ये दोनों भाव भिन्न भिन्न दृष्टिसे सत्य माने जाते हैं । जो लोग मृत्युका अस्तित्व स्वीकार करते हैं वे यह नहीं कहते कि मृत्यु कोई मूर्त पदार्थ है । उनके कथनका भावार्थ यही है कि जो मोह देहादि अनात्म वस्तुओंमें आत्मत्व दिखाता है उसीको मृत्यु कहना चाहिए । अर्थात् जो लोग इस मोहसे अलग रहते हैं उनके लिए मृत्यु भी नहीं है । परंतु उन लोगोंकी मृत्यु-संबंधी यह व्याख्या ठीक नहीं है कि ' अनात्म वस्तुओंमें आत्मत्व बुद्धि-रूप मोहको मृत्यु कहते हैं ।' इस व्याख्याके बदले यह व्याख्या होनी चाहिए कि ' प्रमादको मृत्यु कहते हैं ।' जीवके सच्चिदानंद-रूप अपने सहज स्वभावसे च्युत होने हीको प्रमाद या मृत्यु कहते हैं । उपर्युक्त लोगोंके मतानुसार अनात्म वस्तुओंमें आत्म-भावना-रूप जो मोह उत्पन्न होता है उसका भी मूल कारण वही प्रमाद है, जिसका उल्लेख इसके पूर्वके वाक्यमें किया गया है । जीवोंको अनात्म वस्तुओंमें आत्म-भाव-रूप मोह होनेका कारण यही है कि वे अपने सच्चिदानंद-रूप मूल स्वभावसे च्युत हो गये हैं । यदि वे अपने मूल स्वभावसे च्युत न हों अर्थात् यदि वे अपने सच्चिदानंद-रूपमें स्थिर रहें, तो मोहकी उत्पत्ति ही हो नहीं सकती । सारांश यह है कि मोह प्रमादका कार्य है । प्रमाद होते ही मृत्यु हो जाती है—प्रमाद ही मृत्यु है । जैसे घटका प्रतियोगी घटा-भाव होता है, वैसे ही प्रमादका प्रतियोगी अप्रमाद—अर्थात् स्व-स्वरूपमें अखंडित स्थिति, अमृत्यु अथवा अमरत्व—है । इसीको श्रुतियोंमें 'स्व-रूपावस्थान' कहते हैं ।

असु कहते हैं प्राण या इंद्रियोंको; और जो उन्हींमें रमते हैं वे असुर कहलाते हैं । अर्थात् आत्मज्ञान-विहीन और विषयासक्त जीवोंको असुर कहते हैं । जो स्व-स्वरूपमें रमते हैं उन्हें सुर कहते हैं—वही आत्मवेत्ता हैं । प्रमादके कारण असुरोंका नाश होता है और अप्रमाद अर्थात्

स्व-स्वरूपमें स्थिर रहनेके कारण सुरोंको परम-पद (अमरत्व) की प्राप्ति होती है। यही मृत्यु और अमरत्वका सत्यार्थ है। यह बात सब लोगोंको विदित है कि व्याघ्रादिके समान मृत्यु कोई देहधारी व्यक्ति नहीं है। वह केवल कार्यानुमेय है, इस लिए उसके पदार्थ-रूपका बोध हो नहीं सकता। उसके संबंधमें सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि आत्मा-संबंधी अज्ञानको मृत्यु और आत्म-स्वरूपावस्थानको अमरत्व जानना चाहिए। इससे अधिक और कुछ बताया नहीं जा सकता। इस विवेचनसे यह बात पाई जाती है कि मृत्युका निरास अथवा मोक्ष-प्राप्ति कर्म-साध्य नहीं है। निष्काम अथवा फल-त्याग-युक्त कर्म अथवा उपासनाका उपयोग केवल यही है कि उससे चित्तकी शुद्धता होकर ज्ञान-प्राप्तिकी योग्यता होती है। तात्पर्य यह है कि उपासना और कर्म प्रत्यक्ष-रीतिसे मोक्ष-प्राप्तिके लिए समर्थ नहीं हैं—वे अप्रत्यक्ष-रीतिसे अर्थात् परंपरासे मोक्ष-प्राप्तिके लिए उपकारक, सहायक या उपयोगी हैं। मोक्ष-प्राप्तिका प्रत्यक्ष सामर्थ्य केवल ज्ञानमें है, अत एव आत्म-ज्ञान ही स्वयं मोक्ष अथवा अमरत्व है।

मृत्युके विषयमें लोगोंमें अनेक प्रकारके विलक्षण मत प्रचलित हैं। कोई यमको मृत्यु कहते हैं; वह मरण-रहित है, स्व-स्वरूपमें संचार करता है और जीवोंकी बुद्धिमें लीन रहता है। कोई वैवस्वत यमको मृत्यु कहते हैं; वह पितृलोकका राज करता है, सदाचारी लोगोंको अच्छी गति देता है और दुराचारी लोगोंको दंड देता है। इस प्रकार मृत्युके संबंधमें अनेक मत हैं; परंतु ये सब मिथ्या, भ्रामक और काल्पनिक हैं। सच बात तो सिर्फ यही है कि स्व-स्वरूपके विषयमें अनवधानता, दुर्लक्ष या प्रमाद ही वास्तविक मृत्यु है। यह प्रमाद प्रथम अहंकार-रूपमें परिणत होता है; अर्थात् जब स्व-स्वरूपका विस्मरण होता है और देहादि अनात्म वस्तुओं-की ओर ध्यान आकृष्ट होता है तब उन देहादि अनात्म-वस्तुओंके संबं-धमें अहंभाव उत्पन्न होता है। यह अहंभाव स्व-स्वरूप-संबंधी दृढ़

अज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है। जब यह अहंभाव दृढ़ हो जाता है तब वह काम-रूपसे प्रकट होता है और जब इस काम (इच्छा) का किसी विषयके साथ संबंध या योग होता है तब प्रसंगानुसार उसमेंसे क्रोध, लाभ, मोह, शोक इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, जब मनुष्यके मनमें किसी विषयके संबंधमें इच्छा उत्पन्न होती है तब वह उसकी प्राप्ति, पूर्ति या सफलताके लिए यत्न करता है; परंतु ज्यों ही उसकी काम-पूर्ति, इच्छाकी सफलता या विषयकी प्राप्तिमें कोई व्यत्यय, विघ्न या अपाय होता है त्यों ही उसके मनमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है और इस प्रकार विकारोंकी वृद्धि होते होते अंतमें मनुष्यका नाश हो जाता है। सोचनेकी बात है कि स्व-स्वरूप-विषयक अज्ञान अर्थात् अहंकार-रूढ़ प्रमाद मनुष्यको नष्ट और भ्रष्ट करके अत्यंत नीच दशाको कैसे घसीट ले जाता है! मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं राजा हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा धन है, यह मेरी जमीन है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है इत्यादि अनेक प्रकारकी अहंता और ममता (मैं और मेरी) के मायाजालमें फँस कर और राग-द्वेषादि विकारोंके वश होकर मनुष्य स्वधर्म-प्रतिपादित मार्गका त्याग करता है, दुराचरणका स्वीकार करता है और अंतमें आत्म-स्वरूपसे पराङ्मुख रह कर नष्ट हो जाता है!! इस दुर्गति या दुर्दशाका कारण क्या है?—वही आत्म-स्वरूप-संबंधी अज्ञान!!!

इस प्रकार जब मनुष्य प्रमाद-रूप मृत्युके जो अहंभाव तथा तज्जन्य विकारोंके रूपसे प्रगट होता है—अधीन होकर मूढ़ बन जाता है—तब वह सदा चौरासीके चक्कर हीमें भ्रमण करता रहता है। देह त्यागनेके बाद वह इस मृत्यु-लोकको छोड़ कर, धूमादि सूक्ष्म मार्गसे परलोकमें जाकर, अपने भले-बुरे कर्मोंके अनुसार वहाँ कुछ समय तक रहता है और ज्यों ही कर्म-

फलकी समाप्ति होती है त्यों ही आकाशादि क्रमसे नीचे उतर कर नूतन देह धारण करनेके लिए फिर इसी मृत्यु-लोकमें आ जाता है। आकाशादि जिस क्रमसे वह नीचे उतरता है उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नं। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। —तैत्तिरीयोपनिषद्।

इस मृत्युलोकमें आते ही देव-रूप इंद्रियाँ उसके चहुँ-ओर एकत्र हो जाती हैं। इन्हीं इंद्रियोंकी संगतिसे वह फिर विषयासक्त होकर मृत्युके मुखमें जा गिरता है। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं' इस प्रकार वह जन्म और मृत्युके चक्करमें घूमता रहता है। सारांश यह है कि आत्म-स्वरूपके अज्ञानके कारण इस संसारकी उत्पत्ति होती है और जैसे समुद्रमें डूबते हुए मनुष्यको नक्रादि जंतु दुःख देते हैं वैसे ही इस संसार-रूप समुद्रमें फँसे हुए मनुष्यको राग-द्वेषादि विकार अपने अधीन करके अधोगतिको ले जाते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि कर्माचरणसे मृत्युका निरास होता है या नहीं। प्रवृत्ति-मार्गमें पड़े हुए जीवोंके सब कर्म प्रायः फलकी आकांक्षासे किये जाते हैं। इस लिए यद्यपि इस लोकमें उनके शरीरका अंत हो जाता है तथापि वे अपने कर्मोंके बंधन तथा मृत्युसे मुक्त नहीं होते। इस लोकमें किये हुए कर्मोंके भले-बुरे फलोंको भोगनेके लिए उन्हें स्वर्ग-नरकादि अन्य लोकोंमें जाना पड़ता है। जब वहाँ उन भोगोंकी समाप्ति हो जाती है तब क्षीण-पुण्य होकर वे फिर इस मृत्यु-लोकमें आकर देह धारण करते हैं। इस जन्म और मृत्युका यह चक्कर सदा घूमता रहता है। अत एव वे अपने कर्मोंके बंधनोंसे कभी मुक्त नहीं होते—न वे मृत्युको पार कर सकते हैं और न वे अमरत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि अमरत्वकी प्राप्तिके लिए जिस अध्यात्म-योगकी अथवा सच्चिदानंद-रूप परमात्माके ज्ञानकी आवश्यकता है उसका उन लोगोंके हृदयमें अभाव होता

है। इसीसे वे देहधारी मूढ़ होकर विषयोपभोगोंकी कामनामें आसक्त होकर सदा इधर उधर घूमते रहते हैं। जैसे अंधा मनुष्य ऊँचे, नीचे और कंटकमय स्थानोंमें भ्रमण करता है वैसे ही ये विवेक-रहित जीव ऊँची, नीची और दुःखमय चौरासी लाख योनियोंमें भटकते रहते हैं। इस अनर्थ और दुर्दशाका कारण यही है कि उनके अंतःकरणमें विषयोंके संबंधमें सत्य-बुद्धि और लालसा बनी रहती है। परंतु जो मनुष्य विषयोंको असत्य मानता है उसकी इंद्रियाँ विषयोंमें आसक्त नहीं होतीं और जब इन्द्रियाँ विषयोंसे पराङ्मुख हो जाती हैं तब वे आप-ही-आप आत्माभिमुख होने लगती हैं। इंद्रियोंके आत्माभिमुख होते ही मोहकी निवृत्ति और आत्माका साक्षात्कार होता है। परंतु जो लोग विषयोंको सत्य मानते हैं उनकी इंद्रियाँ सदा विषयाभिमुख रहती हैं, वे महामोहमें फँसे रहते हैं, उन्हें प्रत्यग्भूत आत्म-स्वरूपका स्मरण भी नहीं होता। शब्दादि मिथ्याभूत विषयोंके संयोगसे उनका मन आसक्त हो जानेके कारण वे सदा विषयों हीके चिंतनमें निमग्न रहते और विषयों हीका सेवन करते रहते हैं। विषयोंके उपभोगसे विषयेच्छाकी तृप्ति होनेके बदले, घृत-युक्त अग्निके समान, उसकी अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है। इसके कारण मनुष्य अविद्या-कल्पित शब्दादि पाँचों विषयोंसे अधिकाधिक बद्ध हो जाता है—अर्थात् इस संसारके आवागमनसे उसका छुटकारा कभी नहीं होता।

मनुष्य विषयोंमें आसक्त क्यों हो जाता है? विषय संसर्ग और विषय-चिंतन ही इस आसक्तिके कारण जान पड़ते हैं। देखिए, पहले किसी विषयका इंद्रियोंके साथ संयोग होता है, तब मनुष्य उस विषयका ध्यान या चिंतन करने लगता है, निरंतर चिंतन करते करते उस विषयके संबंधमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्तिकी दृढ़तासे काम अर्थात् इच्छाकी प्रबलता होती है और उसका मन केवल विषय-रूप हो जाता है। जब मनुष्य कामके अधीन हो जाता है तब क्रोधादि अन्य विकार सहज ही

उसको अपने जालमें फँसा लेते हैं। इस प्रकार विषय-संयोग और विषय-चिंतनके कारण मनुष्य काम, क्रोध इत्यादि विकारोंके वश होकर मृत्यु-रूप खाईमें जा गिरता है। परंतु जो लोग विवेकवान् हैं वे जानते हैं कि विषय असत्य हैं, इस लिए वे उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं। इस बातको कदापि नहीं भूलते कि विषय अनित्य, अशुचि और दुःखमय हैं; और इसी बातके सदा उनके ध्यानमें रहनेके कारण वे मूढ़-जनोंकी नाईं विषयोंके केवल दास नहीं बन जाते; किंतु स्वतंत्र होकर वे मृत्युको भी अपने अधीन कर लेते हैं। यथार्थमें वे स्वयं मृत्यु हीका नाश कर डालते हैं। ऐसे ही सत्पुरुषोंको ज्ञानी, विद्वान्, आत्मवेत्ता या कवि कहते हैं।

अब यह देखना चाहिए कि विषयानुसक्त और कामानुसारी मनुष्यकी कैसी दुर्गति होती है। निरंतर विषयोंका चिंतन करते करते उस मनुष्यका विषयोंके साथ अग्नि-काष्ठके समान तादात्म्य हो जाता है। काष्ठका नाश होते ही जैसे तद्वत अग्निका भी नाश हो जाता है वैसे ही विषयानुसक्तका भी जीव नश्वर विषयोंकी संगतिसे स्वयं अपना नाश कर लेता है। परंतु जो मनुष्य अपने विवेकसे विषयासक्तिका नाश कर डालता है वह अपने सब कर्मोंके फलोंसे मुक्त हो जाता है। वह इस जन्ममें या पूर्व-जन्ममें किये हुए अपने पुण्य-पापादि सब कर्मोंका उच्छेद करके स्वतंत्र और दुःखातीत हो जाता है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो सब लोगोंको स्वीकार करना पड़ेगा कि यह देह अविद्या-कल्पित तथा केवल नरक-पात्र ही है। जिस पर भी मूढ़-जन इसी देहको अत्यंत सुंदर और मनोहर मान कर उसकी आसक्तिमें फँस जाते हैं! और अंतमें दुर्गति-रूप फल उनको भोगना पड़ता है! इसमें संदेह नहीं कि जो लोग स्त्रियादिकोंकी देहके विषयमें सुख मान कर सदा उन्हींका ध्यान किया करते हैं और विषयोपभोगके अतिरिक्त स्वात्मभूत परमात्माको नहीं जानते अथवा जिस अध्यात्म-विद्यासे उसका ज्ञान प्राप्त होता है

उसकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते वे अपने अमूल्य जीवनका वृथा नाश करते हैं। ऐसे विषयासक्त मनुष्योंका अन्तरात्मा क्रोध, मोह, लोभ, भय इत्यादि विकारोंसे ग्रसित होनेके कारण वही अन्तरात्मा उनके लिए मृत्यु-रूप हो जाता है। यही कारण है कि काम-क्रोधादि विकारोंसे ग्रसित मनुष्यके हृदयमें मृत्युकी मूर्ति सदा जागृत रहती है। अत एव मुमुक्षु जनोंको उचित है कि वे इस बातको सदैव ध्यानमें रक्खें कि काम-क्रोधादि विकारोंके रूपसे प्रगट होनेवाला और जीवोंको जन्म-मरण-रूप अनर्थकारी परंपरामें ढकलनेवाला प्रमाद ही अपनी मृत्यु है। जब वे उक्त बातको सदैव ध्यानमें रक्खेंगे तब वे निस्सन्देह काम-क्रोधादि विकारोंका त्याग करके सच्चिदानंद-रूप आत्म-स्थितिमें रहनेका यत्न करेंगे। ऐसा करनेसे उन्हें मृत्युका भय न रहेगा। इतना ही नहीं; किंतु वे मृत्यु हीका नाश कर सकेंगे।

इस बातका उल्लेख पहले किया गया है कि कर्म-मार्ग केवल परंपरासे अर्थात् अप्रत्यक्ष-रीतिसे मोक्ष-प्राप्तिके लिए सहायक है। इसी दृष्टिसे वेदोंने यह प्रतिपादन किया है कि कर्म-द्वारा सुख और मोक्षकी प्राप्ति होती है। परंतु अज्ञानी-जन वेदोंके यथार्थ तात्पर्यकी ओर ध्यान नहीं देते। वे लोग कर्म अथवा उपासना हीको अपने जीवनकी इति-कर्तव्यता मान कर उन्हींकी प्रधानता स्थापित करने लगते हैं। स्मरण रहे कि कर्म अथवा उपासनामें साक्षात् मुक्ति-हेतुत्व नहीं है—उनमें केवल क्रम-मुक्तित्व है—इस लिए ज्ञानी लोग उन मार्गोंका अवलंब नहीं करते; किंतु अध्यात्म-योगके आधार पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके वे स्वयं परमात्म-रूप हो जाते हैं और फिर इस संसारके जन्म-मरण-रूप चक्करमें नहीं आते। वेदोंने कर्म और उपासनाकी बड़ाई इस लिए गाई है कि लोग उन मार्गों-का अवलंब करके अपनी इंद्रियोंको विषयोंसे पराङ्मुख करें, ताकि चित्तकी शुद्धि होकर अध्यात्म-योग द्वारा आत्म-साक्षात्कार करनेकी

योग्यता प्राप्त हो जाय। वेदोंका मुख्य कटाक्ष मोक्ष अथवा अमरत्वकी प्राप्ति हीकी ओर है। वेदोंने यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य, अशुद्ध और दुःखमय है, इस लिए इसमेंसे कुछ भी 'पुरुषार्थ' संज्ञाका पात्र नहीं हो सकता। अत एव वेद परम पुरुषार्थ-रूप, परम पुरुषार्थ-साधक और परम पुरुषार्थ-प्रतिपादक होनेके कारण मोक्ष अथवा अमरत्वकी प्राप्तिके लिए वही आधार-भूत और प्रमाण-भूत हैं।

आत्म-प्राप्तिके लिए जिस चित्त-शुद्धिकी अत्यंत आवश्यकता है उसका अभ्यास मुमुक्षु जनों और साधक पुरुषोंको दृढ़ निश्चय और धीरतासे समय तक करना चाहिए। सबसे पहला और कठिन काम यह है कि जिस मन-रूप अंतरिन्द्रियमें अनुकूल और प्रतिकूल संकल्प-विकल्पात्मक अनेक प्रकारकी लहरें प्रतिक्षण उठती रहती हैं उसको निश्चय-रूप बुद्धिके स्थानमें लीन करना चाहिए। अर्थात् विषयोंकी संगतिसे मनमें जो चंचलता सदैव उत्पन्न हुआ करती है उसका नाश करके मनको अन्तर्मुख करना चाहिए और उसमें निश्चय-रूप स्थिरता तथा दृढ़ता लानी चाहिए। इस प्रकार जब मनकी चंचलता नष्ट हो जायगी और निश्चयात्मक बुद्धिका उदय होगा तब समझना चाहिए कि आत्म-प्राप्तिका प्रथम साधन हस्त-गत हुआ। जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक सब साधन निष्फल होते हैं। आत्मा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बिना अखंडित चिंतनके प्राप्त हो जाय; इस लिए जब तक मन विषयोंमें निमग्न रह कर विषयों हीके आघातसे इधर उधर भटकता रहता है तब तक अंतःकरणमें चित्तका ऐसा प्रवाह कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जो आत्माके अखंडित चिंतनके लिए उपयोगी हो और निरंतर इसी एक कार्यमें लगा रहे। अत एव सबसे पहले निश्चयात्मक बुद्धि-रूप देवीके सन्मुख इस मन-रूप अंतरिन्द्रयका बलिदान अर्पण

करके उसको प्रसन्न करना चाहिए। जब यह बुद्धि-रूप देवी प्रसादोन्मुख होगी तभी उसमें आत्माके विषयमें अखंडित चिंतन करनेकी शक्ति उत्पन्न होगी; और जब यह शक्ति प्राप्त हो जायगी तभी समझना चाहिए कि हमारे अंतःकरण या चित्तकी शुद्धि हुई।

ऊपर यह कहा गया है कि साधक पुरुषको 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके स्वयं परमात्म-रूप हो जाना चाहिए। इस पर यह शंका की जा सकती है कि परमात्मा स्वतंत्र और जन्म-मरणादि विकार-रहित है और यह जीव आकाशादि-क्रमसे जन्म-मरण-रूप संसारमें घूमनेवाला तथा कर्माधीन है, इसके अतिरिक्त परमात्मा क्लेश-रहित है और यह जीव सदा दुःखसे पीड़ित रहता है। ऐसी अवस्थामें अर्थात् परमात्मा और जीवमें इतनी बड़ी भिन्नता होने पर भी यह कैसे कहा जाय कि यह जीव परमात्मा ही है! इस शंकाका समाधान इस तरह किया जाता है:— वस्तुतः जीवात्मा और परमात्मामें कुछ भेद नहीं है। श्रुतियोंमें स्पष्ट कहा है कि जो जीवात्मा और परमात्मामें भेद मानता है उसको महापातकी समझना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि जीव और परमात्मा वास्तविक एक-रूप हैं; परंतु अनादि माया-रूप उपाधिके कारण जीव भिन्न-रूपसे प्रतीत होता है और इसी उपाधिके कारण वह अनेक-प्रकारके सुख-दुःख भोगता हुआ संसारके चक्रमें पड़ा रहता है। उदाहरणार्थ, जब भिन्न भिन्न प्रकारके बर्तन जलसे भर कर रक्खे जाते हैं तब उनमें भिन्न भिन्न प्रकारके चंद्रबिंब देख पड़ते हैं और जब वायुके कारण उन पात्रोंका जल प्रचलित होता है तब वे बिंब भी हिलने लगते हैं। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध है कि यद्यपि जल-पात्रोंकी भिन्नताके कारण उनमें प्रतिबिंबित चंद्रके भिन्न भिन्न आकार देख पड़ते हैं तथापि आकाशस्थ मूल चंद्रमामें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं होती—वह ज्योंका त्यों एक-रूप बना रहता है; और यद्यपि जलके हिलनेसे चंद्रबिंब भी हिलते हुए देख

पड़ते हैं तथापि उन बिंबोंके आधार-भूत मूल चंद्रमामें किसी प्रकारकी गति उत्पन्न नहीं होती—वह ज्यों का त्यों निर्विकार बना रहता है। इसी तरह यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है कि माया-रूप उपाधिके कारण यद्यपि परमात्माके एक और सच्चिदानंद-स्वरूपमें जीव-रूपसे अनेकता और दुःखात्मकता प्रतीत होती है तथापि उनके अर्थात् जीव-भावसे प्रतीत होनेवाली अनेकता दुःखात्मकताके कारण परमात्माके मूल-स्वरूपमें अर्थात् उसकी अद्वितीयता और दुःख-रहिततामें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, माया परमात्माकी अनादि-सिद्ध शक्ति है। इसीके योगसे परमात्मा विश्वकी रचना करता है; अथवा यह कहिए कि स्वयं परमात्मा कुछ नहीं करता; किंतु उसकी माया-शक्ति हीसे सारा जगत् उत्पन्न होता है। यह माया केवल परमेश्वर हीके आश्रयमें रहती है—वह उससे भिन्न नहीं हो सकती। मायोपाधि-कृत अनेकताका स्वीकार करनेसे परमेश्वरका सामर्थ्य कुछ घट नहीं जाता और न जीवात्मा तथा परमात्माकी एकतामें कोई बाधा हो सकती है।

आत्माका यथार्थ ज्ञान संपादन करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है। आत्मा अत्यंत सूक्ष्म, अचल, शुद्ध और सच्चिदानंद-रूप है। जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान-दृष्टिसे आत्माको नहीं जानता, किंतु भ्रम या अज्ञान-वश होकर उसको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी, स्थूल, कृश, अमुकका पिता, अमुकका पुत्र, अमुककी स्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि भिन्न भिन्न प्रकारका समझता है वह बड़ा अपराधी है। अत एव विचारवान् मनुष्य यह जान कर कि देहेन्द्रियादि सब अनात्म-वस्तु हैं, केवल परमात्मामें लीन होकर रहता है। जो मनुष्य देहेन्दियादि आत्म-भावसे ग्रहण नहीं करता वह पहले इस संसारके दुःखसे मुक्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि उसके अंतःकरणमें काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं होते। तीसरी बात यह है कि वह अमरत्वको पहुँच

जाता है। अंतिम और सबसे श्रेष्ठ लाभ यह है कि आत्म-प्राप्तिके लिए उसको इधर उधर कहीं भटकना नहीं पड़ता। यदि कोई ज्ञान-प्राप्तिके हेतुसे एक ही स्थानमें बैठा रहे और गुरूपदिष्ट मार्गसे केवल वेदोंका परिशीलन करे तथा वेद-प्रतिपादित अध्यारोप और अपवाद नामक पद्धतियोंसे क्रमशः चिंतन करता रहे, तो कुछ समयमें उसका ज्ञान परिपक्व हो जायगा और अपने स्थानमें बैठे-ही-बैठे उसको अमरत्वकी प्राप्ति हो जायगी।

आत्मज्ञानी पुरुष अध्यात्म-योग-द्वारा जिस परमात्माका अनुभव अपने हृदय-कमलमें करते हैं वह केवल शुद्ध-स्वरूप अर्थात् अविद्यादि दोषोंसे रहित है और वही सब वस्तुओंका प्रकाशक होनेके कारण स्वयं ज्योतिः-स्वरूप है। इस अध्यात्म-योगकी सिद्धिके लिए योग-शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए। अन्य सब शास्त्र वाणीके केवल विकार हैं; परंतु योग-शास्त्र यशस्य है अर्थात् यशो-रूप ब्रह्मकी प्राप्ति करा देनेवाला है। ज्ञानी-जनोंका यही कथन है कि सब कुछ योगाधीन है और जो इस रहस्यको जानते हैं वे अमर हो जाते हैं। यद्यपि जरा और मृत्यु देहके धर्म हैं तथापि योगशास्त्रका कटाक्ष ऐसे ही मार्गोंके अवलंबनकी ओर देख पड़ता है जिनके द्वारा यह देह उक्त धर्मोंसे निर्मुक्त किया जा सके। हमारा मानवी जीवन सर्वथा हमारे वीर्य (शुक्र अथवा रेतस्) पर अवलंबित है और यह वीर्य हमारे चित्त पर अवलंबित रहता है। अत एव जिन जिन उपायोंसे शुक्र और मनकी रक्षा होगी उन्हींकी ओर योगी-जनोंको सदा ध्यान देना चाहिए। वायुकी स्थिरता, मनकी स्थिरता और बिंदुकी स्थिरताके संपादन करनेकी ओर योगशास्त्रका बहुत रुख देख पड़ता है। प्राण ही शरीर-रक्षाका मुख्य आधार है। उसको अपने अधीन कर लेनेके लिए नियमित आहार-विहार और एकान्त-वासकी बहुत आवश्यकता है। इसी तरह मनकी अन्तर्मुखता सिद्ध करके शुक्रकी तेजस्विता प्राप्त करनी चाहिए। इस विषयमें निम्न प्रमाण-वचन अत्यंत महत्त्वके हैं:—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्मात् शुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥
मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ।
बिंदुस्थैर्ये सदा सत्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ।
यावद् बिंदुः स्थिरो देहे तावत्काल भयं कुतः ॥
एवं संरक्षयेद् बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात्। ॥ —हठयोगप्रदीपिका ।

इसका भावार्थः—मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) केवल मनके अधीन रहता है और मनुष्योंका जीवन केवल शुक्र पर अवलंबित रहता है । इस लिए हर प्रयत्नसे शुक्र और मनकी रक्षा करनी चाहिए। मनकी स्थिरतासे प्राण-वायु स्थिर हो जाता है । और प्राण-वायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता हो जाती है। जब बिंदु स्थिर हो जाता है तब अपने शरीरमें बल उत्पन्न होता है और बहुत स्थिरता आ जाती है । उस समय मनुष्यके संबंधमें किसी प्रकारका भय नहीं होता । अत एव योगीजन अपने बिंदुकी रक्षा करके मृत्युको जीत लेते हैं । सारांश यह है कि बिंदुपात हीको मृत्यु और बिंदुकी स्थिरता हीको अमरत्व जानना चाहिए । अस्तु ।

अब सनत्सुजातके शांकरभाष्यके आरंभमें जो उपोद्घात-रूप निरूपण है उसका संक्षेपमें उल्लेख करके यह प्रकरण पूरा किया जायगा । वस्तुतः यह जीव सच्चिदानंद-रूप, अद्वितीय और केवल परब्रह्म ही है; परंतु उसके साथ रहनेवाली अविद्याके कारण यह जीव अपने स्वाभाविक ब्रह्म-स्वरूपसे भ्रष्ट हो जाता है और देहेन्द्रियादि अनेक नश्वर पदार्थोंमें आत्मत्व मानने लगता है । इसका परिणाम यह होता है कि इस संसारमें उसको किसी पुरुषार्थकी प्राप्ति तो होती ही नहीं; किंतु अनेक प्रकारके अनर्थोंका बोझा भर उसके मस्तक पर लद् जाता है ! ऐसी दशामें वह

लौकिक या वैदिक उपायोंकी योजना करने लगता है; परंतु इन सब उपायोंमें अविद्या, वासना और सकाम-कर्म हीकी कल्पना प्रधान होती है, इस लिए उसको परम-पुरुषार्थ-रूप मोक्ष अथवा अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती; किंतु राग-द्वेषादि शत्रु उसको जन्म-मरण-रूप भव-सागरमें ढकेल देते हैं। तब वह भँवरमें गिरी हुई वस्तुके समान घबड़ाता हुआ देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि अनेक योनियोंमें बार-बार भ्रमण करता रहता है। यदि उसके पास कुछ पुण्यका संग्रह हो तो उक्त प्रकारकी भ्रमणावस्था हीमें वह कुछ विचार-पूर्वक आचरण करने लगता है और तब वह काम्य-कर्मोंकी वांछाका त्याग करके वेदाज्ञाके अनुसार केवल ईश्वरार्पण-बुद्धिसे विहितानुष्ठान करनेमें प्रवृत्त हो जाता है। इस अनुष्ठानके बलसे उसकी राग-द्वेषादि मलिनता नष्ट हो जाती है और आंतरिक दृष्टि शुद्ध होती है। भोग्य-विषयोंकी क्षण-भंगुरता उसके ध्यानमें आ जाती है और वह ऐहिक तथा पारलौकिक उपभोगोंके विषयमें उदासीन हो जाता है। अनंतर उसके अंतःकरणमें उपनिषत्प्रतिपादित जीवात्माके ब्रह्म-भावका अनुभव करनेकी विविदिषा उत्पन्न होती है और वह निवृत्ति-मार्गका स्वीकार करके, शम-दमादि साधन-संपन्न होकर, ब्रह्मवेत्ता गुरुको शरणागत होता है। गुरुके उपदेशानुसार श्रवण-मननादि मार्गोंसे उसको अपने ब्रह्म-स्वरूपका साक्षात्कार होता है। तब अविद्याका तथा उसके सब कर्मोंका नाश हो जाता है और वह केवल ब्रह्म-रूप हो जाता है। सारांश यह है कि वह अपने कर्तव्यकी परम सीमाको पहुँच कर अमर हो जाता है।

समाप्त।